॥ श्रीः ॥

हरजीवनदास संस्कृत ग्रन्थमाला

३

पारस्करगृह्यसूत्रम्

'हरिहरभाष्य' सहित—

सपरिशिष्ट 'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दी व्याख्याकार तथा संपादक–

डॉ० ओम्प्रकाश पाण्डेय

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक व विक्रेता

पोस्ट बाक्स संख्या १३८

के० ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन

[illegible]णसी–२२१००१ (भारत)

पूर्ण रु० २५-००

॥ श्रीः ॥

पारस्करगृह्यसूत्रम्

'हरिहरभाष्य' सहित—

सपरिशिष्ट 'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दी व्याख्याकार तथा संपादक—

डॉ० ओम्प्रकाश पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी० (स्वर्णपदक प्राप्त)

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग (स्नातकोत्तर)

सी० एस० एन० कॉलेज, हरदोई

[कानपुर विश्वविद्यालय]

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

वाराणसी

१९८०

PĀRASKARGṚHYASŪTRA

With 'Hariharbhashya'

AND

'Sarala' Hindi Commentary

By

Dr. OMPRAKASH PANDEY

M. A., Ph-D. (Goldmedalist)

Lecturer in Sanskrit Department (Graduate)

C. S. N. College, Hardoi

[University of Kanpur]

CHAUKHAMBA AMARABHARATI PRAKASHAN

Varanasi–221001

1980

प्राक्कथन

'पारस्कर गृह्यसूत्र' वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ भाग को छोड़कर प्रायः समस्त उत्तर भारत एवं दक्षिण के भी अनेक अंचलों में इसी के आधार पर हमारे संस्कार एवं गृह्यानुष्ठान सम्पन्न होते हैं। संस्कृत में इस पर विपुल भाष्य-सम्पदा उपलब्ध होती है। जर्मन में स्टेन्त्सलर और 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत ओल्डेनवर्ग ने इसका आंग्लभाषा में अनुवाद किया है। इन पाश्चात्त्य प्राच्यविदों के अकुण्ठित श्रम की प्रचुर श्लाघा करने पर भी, अनुवादकीय न्यूनताओं को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। रोमाँ रोलाँ के शब्दों में 'भारतवर्ष की अनेक सहस्र वर्ष प्राचीन विचारधारा की सर्वथा सही अर्थों में व्याख्या कर सकना एक यूरोपवासी के लिए सम्भव ही नहीं है। कारण इस प्रकार की व्याख्या प्रायः भ्रमोत्पादक हो जाती है।' ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के मानक हिन्दी अनुवाद का अभाव बहुत खटक रहा था। अतः इस पर एक विस्तृत हिन्दी-व्याख्या के प्रणयन की योजना मैंने अपने अध्ययन काल में ही बनाई थी, कार्य प्रारम्भ भी कर दिया था, किन्तु व्यवधान-बाहुल्य के कारण सन् १९७४ से पहले यह कोई स्वरूप न ले सका। आज इसे इस रूप में प्रस्तुत करते हुए मुझे असीम आत्मिक परितोष की गौरवार्ह अनुभूति होना स्वाभाविक ही है।

इस हिन्दी-व्याख्या का विवरण यों है—

(१) सूत्रों का सरल किन्तु प्राञ्जल एवं प्रवाहपूर्ण हिन्दी में अनुवाद किया गया है। तात्पर्यार्थ की स्पष्टता और वाक्य की पूर्णता के निमित्त अध्याहृत और परम्परानुवर्तित अंश के प्रस्तवन—हेतु बड़े कोष्ठक का प्रयोग किया गया है।

(२) व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए विस्तृत टिप्पणियाँ दी गई हैं। टिप्पणी-क्रमाङ्क सूत्रानुसार न होकर स्वतंत्र हैं। कर्कादि के प्रौढ़ संस्कृत-भाष्यों में सञ्चित उपयोगी सामग्री के सङ्कलन, जर्मन और आंग्ल-अनुवादों के साथ तुलनात्मक विवेचन तथा विवादास्पद स्थलों के समीक्षण के लिए भी टिप्पणियों का आश्रय लिया गया है।

(६) आवश्यक स्थलों पर कर्म-पद्धति भी दे दी गई है।

(४) पारस्करगृह्यसूत्र के अधिसंख्यक भाष्यकारों ने प्रायः मंत्रार्थ की उपेक्षा की है, प्रतीकशः उद्धृत मंत्रों को पूर्ण रूप से अवतरित भी नहीं किया है—केवल जयराम इसके अपवाद हैं किन्तु उन्होंने भी प्रतीकशः उद्-धृत मंत्रों के अर्थ नहीं किए हैं। हमने पहली बार इस व्याख्या में समस्त विनियुक्त मंत्रों के सरल किन्तु प्रामाणिक अर्थ दिए हैं। मंत्रार्थ के लिए जयराम आदि के साथ ही सायण, उव्वट, महीधर और अन्य भाष्यकारों के भाष्यों का भी प्रगाढ़ अनुशीलन कर आधार-ग्रहण किया गया है। प्रतीकशः उद्धृत मंत्रों के अर्थ परिशिष्ट में हैं। मंत्रों की प्रायः सस्वर प्रस्तुति का प्रयत्न किया गया है; यथासंभव उनके संहिता-सन्दर्भ भी खोजकर दिए गए हैं। षरिशिष्टगत मन्त्र काण्ड और अकारादिवर्णक्रमानुसार विन्यस्त हैं। मंत्र के नीचे गृह्यसूत्र में उसके विनियोग का सन्दर्भ भी उल्लिखित है। विवादास्पद एवं विषम स्थलों पर विभिन्न भाष्यकारों के मतों का नाम्ना भी उल्लेख कर दिया गया है।

(५) प्रारम्भ में दी गई (सपरिशिष्ट संपूर्ण) ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका में पारस्कर गृह्यसूत्र के प्रायः प्रत्येक आवश्यक विषय पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया है। पारस्कर गृह्यसूत्र के रचयिता के विषय में संभवतः पहली बार इतने व्यापक रूप में यहाँ विचार किया गया है। आशा है, यह समस्त सामग्री गृह्यसूत्र के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

(६) प्रस्तुत व्याख्या में गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस और चौखम्बा द्वारा पूर्वप्रकाशित प्रामाणिक संस्करण व्यवहृत हैं।

सूत्रार्थ के विषय में अति प्राचीन काल से प्रचुर मतभेद रहे है, पाँचों संस्कृत-भाष्यों में भी विभिन्न विषयों पर परस्पर प्रचुर असहमति पाई जाती है, एक हीं गृह्यसूत्र के आधार पर प्रणीत विविध पद्धतियों में तो बहुत ही अन्तर है, कर्मकाण्डीय परम्परा में भी क्षेत्रीय आधार पर बहुत-से विकल्प हैं, इन बहुविध कारणों से हिन्दी व्याख्या भी अप्रभावित नहीं रह सकी है। कुछ विवादात्मक स्थलों पर मैंने कर्मकाण्ड में दक्ष पुरोहितों से भी विचार-विमर्श किया, किन्तु कोई समाधान नहीं निकला, ऐसे प्रसंगों में स्वविवेक पर ही निर्भर होना पड़ा फिर भी मैंने मल्लिनाथी प्रतिज्ञा (इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया, नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते) के निर्वाह का यथासाध्य प्रयत्न किया है। संभव है, प्रमाद अथवा अज्ञानवश कहीं त्रुटियाँ रह गई हों—गृह्यसूत्र के तत्त्वाभिनिविष्ट विद्वान् यदि उनकी ओर मेरा ध्यानाकर्षण करेंगे तो मैं आभारी हूँगा और अगले संस्करण में उनके निराकरण की प्रतिश्रुति भी देता हूँ।

संस्कारों और अन्य गृह्यकृत्यों को समझने तथा भूमिका-भाग के प्रणयन में मुझे म० म० काणे कृत 'हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र' 'डॉ० राजबली पाण्डेय कृत 'हिन्दू संस्कार', वी० एस० आप्टे कृत 'सोशल एण्ड रिलिजेंस स्टडी ऑव द 'गृह्यसूत्राज' तथा डॉ० रामगोपाल रचित 'इण्डिया ऑव वेदिक कल्पसूत्राज' से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली है—इन महान् मनीषियों के प्रति मैं श्रद्धया विनत हूँ।

पारस्कर गृह्यसूत्र का अध्ययन लखनऊ विश्वविद्यालय में मैंने पूज्य गुरु डॉ० मातृदत्तजी द्विवेदी के सान्निध्य में बैठकर किया था। प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या के परिष्करण और उपोद्घात-लेखन के द्वारा उन्होंने जो उपकार किया है उसके प्रति शब्दों द्वारा आभार प्रदर्शन सम्भव नहीं, अतः मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर है। इस व्याख्या के लेखन में प्रिय दीप, चितबहाल, सत्यनारायण और आनन्द मिश्र सदृश मित्रों का भी परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से प्रचुर योगदान है।

विश्वास है, भविष्य में भी वे अपने कर्तव्य का इसी प्रकार से निष्ठा-पूर्वक पालन करते रहेंगे।

ग्रन्थ के आकर्षक प्रकाशन के लिए प्रकाशक महोदय को भी धन्यवाद दिए बिना हम नहीं रह सकते।

तैत्तिरीय उपनिषद् में ऋषि ने कभी कहा था—'मैं ज्योतिर्मय देवताओं की अपेक्षा भी प्राचीन हूँ, मैं सत्ता की प्रथम सन्तान हूँ, मैं अमरत्व शोणित-वाही शिरा-उपशिरा हूँ।' मेरी आकांक्षा है, आधुनिकता के ज्वरविकार से ग्रस्त, विनिद्र भारत के श्रवण-रन्ध्रों में सांस्कृतिक दाय की इसी शिरा-उपशिरा के शोणित स्पन्दन की अनाहत ध्वनि पुनः अनुप्रविष्ट हो, वर्तमान भारत के शुष्क अधरोष्ठ सांस्कृतिक अमरता की शोणितधारा से पुनः रस-पेशल हो उठें। इत्यलम्।

१ अगस्त १९७६
कृष्णायन, ३४६, कानूनगोयान
बाराबंकी

—ओम्प्रकाश पाण्डेय

॥ श्रीः ॥

पारस्करगृह्यसूत्रम्

हरिहरभाष्यसहित 'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

★

अथ प्रथमकाण्डम्

प्रथमकण्डिका

अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म ॥ १ ॥ परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय परिस्तीर्यार्थवदासाद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत्प्रोक्ष्य निरूप्याज्यमधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात् ॥ २ ॥ स्रुवं प्रतप्य संमृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात् ॥ ३ ॥ आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववदुपयमनान्कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात् ॥ ४ ॥ एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः ॥ ५ ॥

हरिहरभाष्यम्

इष्टापूर्तक्रियासिद्धिहेतुं यज्ञभुजां मुखम् ।
अग्निं त्रयीवचःसारं वन्दे वागधिदैवतम् ॥ १ ॥
पारस्करकृते गृह्यसूत्रे व्याख्यापुरःसराम् ।
प्रयोगपद्धतिं कुर्वे वासुदेवादिसम्मताम् ॥ २ ॥

(अथातो गृहस्थालीपाकानां कर्म) अथ श्रौतकर्मविधानानंतरं यतः श्रौतानि कर्माणि विहितानि स्मार्त्तानि तु विधेयानि अतो हेतोर्गृह्ये आवसथ्येऽग्नौ ये स्थालीपाकाः गृह्यस्थालीपाकाः तेषां गृह्यस्थालीपाकानां कर्म क्रियानुष्ठानमिति यावत् । वक्ष्यत इति सूत्रशेषः । तत्रादावाधानादिसर्वकर्मणां साधारणो विधिः प्रथमकण्डिकयोच्यते । तत्र गृह्येऽग्नावावसथ्याधानादिषु सर्वकर्मसु यजमान एव कर्त्ता नान्य ऋत्विक् । तस्यानुक्तत्वात् । अथ यजमानः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तःकर्मस्थानमागत्य वारणादियज्ञियवृक्षोद्भवासने प्रागग्रानुदगग्रान्वा त्रीन्कुशान् दत्वा प्राङ्मुख उपविश्य वाग्यतः शुद्धायां भूमौ सप्तविंशत्यंगुलं मंडलं परिलिख्य तत्र (परिसमुह्य) त्रिभिर्दर्भैः पांसूनपसार्य (उपलिप्य) गोमयोदकेन त्रिः (उल्लिख्य) त्रिः खादिरेण हस्तमात्रेण खड्गाकृतिना स्फ्येन उल्लिख्य प्रागग्रा उदक्संस्थाः स्थंडिलपरिमाणास्तिस्रो रेखाः कृत्वा (उद्धृत्य) अनामिकांगुष्ठाभ्यां यथोल्लिखिताभ्यो लेखाभ्यः पांसूनुद्धृत्य (अभ्युक्ष्य) मणिकाद्भिरभ्युक्ष्याभिषिच्य (अग्निमुपसमाधाय) कर्मसाधनभूतं लौकिकं स्मार्तं श्रौतं वाग्निम् आत्माभिमुखं स्थापयित्वा (दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य) तस्याग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि

ब्रह्मणे आसनं वारणादियज्ञियदारुनिर्मितं पीठमास्तीर्य कुशैः स्तीर्त्वा तत्र वरणाभरणाभ्यां पूर्वसंपादितं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं तदभावे पंचाशत्कुशनिर्मितम् अग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुखमासीनं स्वयमुदङ्मुख आसीनोऽनुलेपनपुष्पमाल्यवस्त्रालंकारादिभिः संपूज्यामुककर्माहं करिष्ये। तत्र मे त्वममुकगोत्रामुकप्रवरामुकशर्मन् ब्राह्मण त्वं ब्रह्मा भवेति वृत्वा भवामीत्युक्तवंतमुपवेश्य (प्रणीय) अप इति शेषः। तद्यथा। अग्नेरुत्तरतः प्रागग्रकुशैरासनद्वयं कल्पयित्वा वारणं द्वादशांगुलदीर्घं चतुरंगुलविस्तारं चतुरंगुलखातं चमसं सव्यहस्ते कृत्वा दक्षिणहस्तोद्धृतपात्रस्थोदकेन पूरयित्वा पश्चिमासने निधायालभ्य पूर्वासने स्थापयित्वा (परिस्तीर्य) अग्निं वहिर्मुष्टिमादाय ईशानादिप्रागग्रैर्बर्हिभिरुदक्संस्थमग्नेः परिस्तरणं कृत्वा (अर्थवदासाद्य) यावद्भिः पदार्थैरर्थः प्रयोजनं तावतः पदार्थान् द्वन्द्वं प्राक्संस्थान् उदगग्रानग्नेरुत्तरतः पश्चाद्वा आसाद्य। तद्यथापवित्रच्छेदनानि त्रीणि कुशतरुणानि। पवित्रे साग्रे अनंतर्गर्भे द्वे कुशतरुणे। प्रोक्षणीपात्रवारणं द्वादशांगुलदीर्घं करतलसंमितखातं पद्मपत्राकृति कमलमुकुलाकृति वा आज्यस्थाली तैजसी मृन्मयी वा द्वादशांगुलविशाला प्रादेशोच्चा। तथैव चरुस्थाली संमार्गकुशास्त्रयः। उपयमनकुशास्त्रिप्रभृतयः। समिधस्त्रिस्रः पालाश्यः प्रादेशमात्राः स्रुवः खादिरो हस्तमात्रः अंगुष्ठपर्वमात्रखातपरिणाहवत्तुंलपुष्करः, आज्यं गव्यम्। चरुश्चेद्व्रीहितंडुलाः। षट्पंचाशदधिकमुष्टिशतद्वयपरिमितं पराद्ध्यंम्। वहुभोक्तृपुरुषाहारपरिमितमवराद्ध्यंम्। तण्डुलाद्यन्नपूर्णंपात्रं दक्षिणावरो वा यथाशक्ति हिरण्यादिद्रव्यं (पवित्रे कृत्वा) प्रथमं त्रिभिः कुशतरुणैरग्रतः प्रादेशमात्रं विहाय द्वे कुशतरुणे प्रच्छिद्य (प्रोक्षणीः संस्कृत्य) प्रोक्षणीपात्रं प्रणीतासन्निधौ निधाय तत्र पात्रान्तरेण हस्तेन वा प्रणीतोदकमासिच्य पवित्राभ्यामुत्पूय पवित्रे प्रोक्षणीषु निधाय दक्षिणेन हस्तेन प्रोक्षणीपात्रमुत्थाप्य सव्ये कृत्वा तदुदकं दक्षिणेनोच्चाल्य प्रणीतोदकेन प्रोक्ष्य (अर्थवत्प्रोक्ष्य) अर्थवन्ति प्रयोजनवन्ति आज्यस्थाल्यादीनि पूर्णपात्रपर्यंतानि। प्रोक्षणीभिरद्भिरासादनक्रमेणैकैकशः प्रोक्ष्य असञ्चरे प्रणीताग्न्योरंतराले प्रोक्षणीपात्रं निधाय (निरूप्याज्यं) आसादितमाज्यमाज्यस्थाल्यां पश्चादग्नेर्निहितायां प्रक्षिप्य चरुश्चेच्चरुस्थाल्यां प्रणीतोदकमासिच्य आसादितांस्तंडुलान्प्रक्षिप्य। (अधिश्रित्य) तत्राज्यं ब्रह्माधिश्रयति तदुत्तरतः स्वयं चरुमेवं युगपदग्नावारोप्य (पर्यग्निकुर्यात्) ज्वलदुल्मुकं प्रदक्षिणमाज्यचर्वोः समंताद् भ्रामयेत्। ईषच्छृते चरौ (स्रुवं प्रतप्य) दक्षिणेन स्रुवमादाय प्राञ्चमधोमुखमग्नौ तापयित्वा सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेन संमार्गाग्रैर्मूलतोऽग्रपर्यंतं (संमृज्य) मूलैरग्रमारभ्य अधस्तान्मूलपर्यंतं (अभ्युक्ष्य) प्रणीतोदकेनाभिषिच्य (पुनः प्रतप्य निदध्यात्) पुनः पूर्ववत्प्रतप्य दक्षिणतो निदध्यात् (आज्यमुद्वास्य) आज्यमुत्थाप्य चरोः पूर्वेण नीत्वाऽग्नेरुत्तरतः स्थापयित्वा चरुमुत्थाप्य आज्यस्य पश्चिमतो नीत्वा आज्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा आज्यमग्नेः पश्चादानीय चरुं चानीय आज्यस्योत्तरतो निधाय एवं त्रिचतुरादीन्यन्यान्यपि हवींष्युद्वासयेदधिश्रितानां पूर्वेणोद्वासितानां पश्चिमतो हविष उद्वास्यानयनमिति याज्ञकसंप्रदायात् (उत्पूय) पूर्वपवित्राभ्यां (अवेक्ष्य) अवलोक्याज्यं तस्मादपद्रव्यनिरसनं (प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्)

पवित्राभ्यामुत्पूय पूर्ववत् (उपयमनान् कुशानादाय) दक्षिणपाणिना गृहीत्वा सव्ये निधाय (समिधोऽभ्याधाय) उत्तिष्ठन्समिधः प्रक्षिप्य (पर्युक्ष्य जुहुयात्) प्रोक्षण्युदकेन सपवित्रेण दक्षिणचुलुकेन गृहीतेन अग्निमीशानादि उदगपवर्गं परिषिच्य जुहुयात्। आधारादीन्। संस्रववारणार्थं पात्रं प्रणीताग्न्योर्मध्ये निदध्यात् (एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः) ॥ ५ ॥ (एषः) परिसमूहनादिपर्युक्षणपर्यंतो विधिरेव। न मंत्राः (क्वचित्) यत्र क्वचन लौकिके स्मार्ते वाग्नौ होमस्तत्र वेदितव्यः, इति हरिहर-कृते पारस्करकृतगृह्यसूत्रभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

सरला

१—(श्रौतकर्मों का विधान श्रौतसूत्र में हो चुका है, तदुपरान्त स्मार्त कर्मों का विधान करना चाहिए—इस नियम के अनुसार आचार्य इस कुश-कण्डिका में) गृह्याग्नि में पकाये गये स्थालीपाकों से सम्पन्न होनेवाले अनुष्ठानों (का विधान कर रहे हैं।)

२—(तीन कुशों से) धूलि झाड़कर, (गोबर और जल से) लीपकर, (खड्गाकृति किसी काष्ठखण्ड या स्रुव-मूल से (तीन) रेखायें खींचकर, (उनकी धूलि) उठाकर, (जल से) सींचकर, (कांसे या तांबे के पात्र में) अग्नि लेकर, (वेदी पर) उसकी स्थापना कर, (अग्नि से) दाहिने ब्रह्मा का आसन बिछाकर, (प्रणीतापात्र में जल) लाकर, (अग्नि के चारों ओर कुश) फैलाकर, (आज्य-स्थाली आदि अनुष्ठान दृष्टि से) उपयोगी वस्तुयें लाकर, (कुश के) दो पवित्र बनाकर, प्रोक्षणीपात्र का संस्कार कर, अनुष्ठानोपयोगी वस्तुयें (जल से) प्रोक्षित कर, (आज्यस्थाली में) घी डालकर, (उसे अग्नि पर) रखकर (उसके चारों ओर जलती हुई) लकड़ी को घुमाये।

३—स्रुवा को (अधोमुख) तपाकर, सम्मार्जनकर, (उस पर) पानी छिड़ककर, फिर तपाकर, (अपनी दाहिनी ओर) रख ले।

४—आज्यस्थाली को अग्नि से उतारकर, (अनामिका और अंगूठे से पकड़े गये पवित्रों से तीन बार) पवित्रकर, निरीक्षणकर (यदि कुछ अपद्रव्य है, तो उसे निकालकर) प्रोक्षणी को भी पहले की ही भाँति (पवित्र कर), कुशों को दाहिने हाथ से उठाकर, बायें में लेकर, (अग्नि में) समिधायें डालकर, जल छिड़ककर हवन करे।

५—जहाँ कहीं हवन होगा, यही विधि (अपनाई जायेगी)।

टिप्पणी १—तुल०—शाङ्खा० गृ. सू. १.१; आश्व; गृ. सू. १.१.१।

२—स्टेंझलर ने अपने पारस्कर गृह्यसूत्र के जर्मन अनुवाद में 'अथातः' का अर्थ 'Nun also' किया है। ओल्डेनबर्ग इससे असहमत हैं। उनका कथन है कि 'अतः' शब्द से किसी आगे आनेवाली बात की सूचना नहीं मिलती। इसीलिए श्रौत-सूत्रों—जो कल्पसूत्र-साहित्य के प्रथम खण्ड हैं—का प्रारम्भ 'अथातोऽधिकारः' से होता है।

किन्तु ओल्डेनवर्ग का यह मत कर्क आदि प्राचीन भाष्यकारों से नहीं मिलता अतः अश्रद्धेय है।

३—स्टेन्झलर ने 'पूर्ववत्' शब्द से कात्यायन श्रौतसूत्र (२.३.३३) गत 'ताभ्यां (पवित्राभ्यां) उत्पुनाति सवितुर्वा' का ग्रहण किया है, जबकि ओल्डेनवर्ग का सुझाव है कि इसका सम्बन्ध इसी कण्डिका के दूसरे सूत्र 'प्रोक्षणीः संस्कृत्य' से है।

इस विषय में कर्काचार्य का समाधान यह है—'च शब्दादाज्यं पूर्ववदेव, **अतः पवित्राभ्यामित्युक्तम्।**' रेखाङ्कित अंश द्रष्टव्य है। जयराम, हरिहर, गदाधर तथा विश्वनाथ भी कर्क से सहमत हैं।

वस्तुतः यहाँ कोई मतभेद नहीं है; क्योंकि प्रोक्षणीपात्र का संस्कार प्रणीता के जल तथा पवित्रों से ही होगा।

४—उपयमनान्कुशान्—तुल० कात्या० १.१०,६,८।

५—कर्क के मत से परिसमूहन आदि पञ्च संस्कार अग्निनिमित्त हैं। गदाधर के भाष्य से ज्ञात होता है कि भर्तृयज्ञ-भाष्य में ये भूमिनिमित्त हैं।

६—प्रोक्षण कर्म ऊपर उठे हुए हाथ से और अभ्युक्षण नीचे किए हुए—न्युब्ज-हाथ से होगा—'उत्तानेन तु हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम्। तिरश्चावोक्षणं कुर्यान्नीचैरभ्युक्षणं स्मृतम्॥'

७—सभी कर्मों में निष्णात ब्रह्मा यदि न मिले तो पचास कुशों से बनाये गये ब्रह्मा का ही वरण कर लेना चाहिए।

८—परिसमूहन से पर्युक्षण तक यह कार्य विधिमात्र ही है, न कि मंत्र। 'क्वचित्' के प्रयोग से श्रौत और स्मार्त्त दोनों होमों की सूचना मिलती है।

९—'स्मृत्यर्थसार' के अनुसार समिधायें पलाश, खदिर, अश्वत्थ, शमी, गूलर आदि की हो सकती हैं। ये १०–१२ अंगुल परिमाण की होनी चाहिए। गीली, पकी हुई और बराबर से कटी हुई हों—घुनी न हों।

द्वितीयकण्डिका

आवसथ्याधानं दारकाले ॥ १ ॥ दायाद्यकाल एकेषाम् ॥ २ ॥ वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य ॥ ३ ॥ चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम् ॥ ४ ॥ अरणिप्रदानमेके ॥ ५ ॥ पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः ॥ ६ ॥ अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ ७ ॥ त्वन्नोऽग्ने सत्वन्नोऽग्न इमम्मे वरुण तत्त्वायामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भवतन्न इत्यष्टौ पुरस्तात् ॥ ८ ॥ एवमुपरिष्टात्स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ॥ ९ ॥ स्विष्टकृते च ॥ १० ॥ अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं

देवागातु विद इति ॥ ११ ॥ वर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति ॥ १२ ॥ ततो ब्राह्मण-भोजनम् ॥ १३ ॥

हरिहरभाष्यम्

(आवसथ्याधानं दारकाले) आवसथ्याग्निना साध्यानि कर्माणि व्याख्यातुं प्रतिज्ञातानि प्रथमसूत्रे सूत्रकृता पारस्करेण यतोऽतस्तस्याधानविधिं व्याख्यातुमुपक्रमते आवसथ्यस्य गृह्यस्य अग्नेराधानमावसथ्याधानं तद्दारकाले विवाहकाले चतुर्थीकर्मानंतरं कुर्यात् । प्राक् चतुर्थीकर्मणः पत्न्यो भार्यात्वस्यानुपपत्तेः । सभार्यस्य च आधानेऽधिकारः वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निरित्याश्वलायनादीनां पक्षः । ते हि विवाहहोममेव दाराग्न्योः संस्कारकं मन्यन्ते । अस्माकं तु आवसथ्याधानं दारकाल इत्यारभ्याग्निसंस्कारस्य पारस्कराचार्येण पृथगभिधानात् तत्संस्कारकृतोऽग्निरौपासनः (दायाद्यकाल एकेषाम्) एकेषामाचार्याणां मते दायाद्यकाले भ्रातृणां पितृधनविभागकाले अविभक्ते हि पित्र्ये धने सर्वेषां भ्रातृणां स्वत्वस्य साधारणत्वेन विनियोगानर्हत्वात् धनविनियोगसाध्यं हि आवसथ्यादिकमनुष्ठानम् अतो भ्रातृमतां विभक्तानामाधानेऽधिकारः इति तेषामभिप्रायः । अभ्रातृकस्य दारकाले एव व्यवस्थितो विकल्पः एवं कृतविवाहस्य विभक्तधनस्य च आधाने अधिकारमभिधाय इदानीमाहरणपक्षे आधानमाह (वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्नि-माहृत्य) (चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम्) तत्रावसथ्याधानं करिष्यन् । उक्तकालाति-क्रमाभावे ज्योतिःशास्त्रे अग्न्याधानार्थोपदिष्टमासतिथिनक्षत्रवारादिके काले प्रातः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचांतः सपत्नीकः गोमयोपलिप्ते शुचौ देशे स्वासने उपविश्य अद्येत्यादिदेशकाली स्मृत्वा आवसथ्याग्निमहमाधास्य इति संकल्पं विधाय मातृपूजा-पूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं यथोक्तं कुर्यात् । कालातिक्रमे तु "यावंत्यशब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः । तावंति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि" इति वचनात् अति-क्रांतसंवत्सरसंख्यया प्राजापत्यरूपं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरित्वा तदशक्तौ प्रति-प्राजापत्यं गां दत्वा तदलाभे तन्मूल्यं निष्कमेकम् अर्द्धं तदर्द्धं वा द्वादशब्राह्मणभोजन-मयुतगायत्रीजपं वा गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयान्यतमं विधाय होम्यं सायंप्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तमतिक्रांतदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् प्रशंसावाक्यं तत्र गृहकाण्डे—'नावसथ्यात्परो धर्मो नावसथ्यात्परं तपः । नाव-सथ्यात्परं दानं नावसथ्यात्परं धनम् ॥ नावसथ्यात्परं श्रेयो नावसथ्यात्परं यशः । नावसथ्यात्परासिद्धिर्नावसथ्यात्परा गतिः ॥ नावसथ्यात्परं स्थानं नावसथ्यात्परं व्रतम्" इत्यावश्यकत्वान्नित्यं तस्मात्तदकरणे प्रत्यवायात् तत्क्षयार्थं प्रायश्चित्तमुचितम् । तत्र वाक्यम् । आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रांतैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावंति प्राजापत्यव्रतानि चरिष्ये । तदशक्तौ प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्य-मेकैकां गां ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे । एवमन्येषु गोमूल्यदाननिष्कतदर्द्धार्द्ध द्वादशब्राह्मण-भोजनायुतगायत्रीजपगायत्र्या तिलाहुतिसहस्ररूपेण वाक्यमूहनीयम् । ततः स्वशाखाध्या-यिनं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं गन्धपुष्पमाल्यवस्त्रालंकारादिभिरभ्यर्च्यामुकगोत्रममुकशर्माण-ममुकवेदामुकशाखाध्यायिनमावसथ्याधानं करिष्यन् कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्माणमेभिश्चंदन-

पुष्पाक्षतवस्त्रालकारैस्त्वामहं वृणे, वृतोऽस्मीति तेन वाच्यम्। केचिद् ब्रह्माणं मधुपर्केणा-र्चयन्ति ऋत्विक्त्वाविशेषात्। ततः पत्न्या सहाहते वाससी परिधाय अग्न्याधानदेशे स्थ-ण्डिलमुपलिप्य पंचभूसंस्कारान् कृत्वा. तं देशमहतवाससा पिधाय ब्रह्मणा सह समृदं स्थालीमादाय ब्राह्मणैः परिवृतो वेदघोषमंगलगीतवाद्यादिभिर्जनितोत्साहो वैश्यस्य तृतीय-वर्णस्य बहुपशोः पशुभिः समृद्धस्य तदलाभे गोभिलादिसूत्रवचनात् भ्राष्ट्रगृहादंबरीषाद् बहुयाजिनो ब्राह्मणस्य गृहाद् बह्वन्नपाकात् ब्राह्मणमहानसादवास्थाल्यामग्निं गृहीत्वा तथैव गृहमागत्य परिसमूहनादिपंचभूसंस्कारसंस्कृते स्थंडिले प्राङ्मुख उपविश्यात्माभिमुखमग्निं निदध्यात्। ततो ब्रह्मोपवेशनादिब्राह्मणभोजनांतं वक्ष्यमाणं कर्म कुर्यात्। (चातुष्प्राश्य पच-नवत्सर्वम्) इति सूत्रकृता पूर्वपक्ष उपन्यस्तो न तु संमत इति कर्कोपाध्यायो भाष्ये निरूपितवान् अधनारण्येयपक्षमाह (अरणिप्रदानमेके) एके आचार्याः अरणिप्रदानशब्द उपशब्दस्यार्थे अरणिप्रदानमुपादानं कारणमुत्पत्तिस्थानं यस्याग्नेः सोरणिप्रदानस्तमरणिप्रदानमग्निमा-दधीतेति मन्यन्ते। (पंचमहायज्ञा इति श्रुतेः) पंचमहायज्ञानां श्रौतत्वात् आरण्येऽग्नावनु-ष्ठानं युक्तमित्यभिप्रायः, ततो ब्रह्मोपवेशनादि आज्यभागांतं कर्म कृत्वा। (अग्न्याधेय-देवताभ्यः स्थालीपाकं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति) त्वन्नो अग्ने सत्वन्नो अग्न इमम्मेवरुण तत्त्वायामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भवतन्न इत्यष्टौ) अग्न्याधेयस्य श्रौतस्य देवताः अग्निः पवमानोऽग्निः पावकोऽग्निः शुचिरदितिश्च अग्न्याधेयदेवताः ताभ्यः स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा आज्यभागौ आग्नेयसोम्यौ आधार-पूर्वकौ हुत्वा आज्येन आहुतयो होतव्याः आज्याहुतयस्ता आज्याहुतीर्जुहोति त्वन्नो अग्न-इत्यादिभिर्भवतन्न इत्येताभिरष्टभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचमष्टौ। ननु अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति इति वक्ष्यति तत्किमर्थमत्राग्न्याधेयदेवताभ्य इत्युक्तं वह्नीनां देवतात्वज्ञापनायेति चेत्। ननु बहुत्वमस्त्येव। कुत इयं शंका! पवमानादिविशेषणविशिष्टस्याग्नेरेकत्वात्। अग्निरेका आदीतीर्द्वितीयेति द्वे एवाग्न्याधेयदेवते इति द्वयोरेव देवतात्वं माभूदिति पुनर्ग्रहणात् वह्नीनामेव देवतात्वं विशिष्टस्य देवतान्तरत्वमिति। इन्द्रमहेंद्राधिकरणे जैमिनीयैर्निर्णीतत्वात् आज्यभागाविष्ट्वेति किमर्थं पुनर्वचनम् आघारादीनां चतुर्दशानां क्रमेण पठिष्यमाणत्वात् उच्यते। आज्याहुतीनां किं स्थानमिति संशये आज्याहुतिस्थान-विधानार्थम्। अष्टग्रहणं तु मन्त्रप्रतीकसंशयनिवृत्त्यर्थम्। (पुरस्तादेवमुपरिष्टात् स्थाली-पाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति) पुरस्तात् पूर्वकस्य अग्न्याधेयदेवताहोमस्याष्टौ जुहोति यथा एवमुपरिष्टात् एवं तथा त्वन्नो अग्न इत्यादिना क्रमेण उपरिष्टात् ऊर्ध्वं जुहोत्यष्टौ किं कृत्वा काभ्यः। अग्न्याधेयदेवताभ्यः। कस्य स्थालीपाकस्य चरोः स्थाली-पाकस्यावयवलक्षणा षष्ठी। (स्विष्टकृते च) स्विष्टकृते चाग्नये अष्टर्चहोमान्ते स्थाली-पाकस्य हुत्वा। च शब्दात् (अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिच देवागातु विद इति) अयास्यग्नेर्वषट्कृतमित्यनेन मंत्रेणाज्याहुतिं जुहोति। ननु स्विष्टकृते इति किमर्थमुक्तम्। प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति वक्ष्यमाणत्वात्। अत्र चान्यस्य हविषः सद्भावात्। प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः पूर्वं प्राप्त्यर्थं (बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति) बर्हिः

परिस्तरणार्थमग्नौ प्रक्षिप्य प्राश्नोति भक्षयति । अत्र प्राशनोपदेशसामर्थ्यात् प्राश्यमाकांक्षितम् । तत्किं हुतशेषः अन्यद्वा किंचित् । उच्यते पाकयज्ञेष्वेतस्यासर्वंहोमो हुत्वा शेषप्राशनमिति कात्यायनोक्तेः स्रुवेणावत्तस्य होमद्रव्यस्य सर्वस्य निषेधात् हुतशेषस्य प्राशनविधानाद् सर्वेषामाहुतीनां होमद्रव्यं स्रुवेऽवशेषितं संस्रवत्वेन प्रसिद्धं पात्रांतरे प्रक्षिप्यते तत्प्राश्यमिति । ननु 'अकृते वैश्वदेवे तु' इत्यादिवचनाद्वैश्वदेवात् प्राक् स्थालीपाकानुष्ठानं प्राप्तं तत्र च संस्रवप्राशनं विहितं तत्कृत्वा कथं माध्याह्निके वैश्वदेवादिकर्मण्यधिकार इति चेत् । उच्यते । शेषप्राशनस्य कर्माङ्गत्वेन विधानात् अप्राशने च कर्मणो वैगुण्यात् । नोत्तरकर्माधिकारनिवृत्तिः । बर्हिर्होमश्च विधानसामर्थ्यादग्न्याधान एव भवति नान्येषु कर्मसु (ततो ब्राह्मणभोजनम्) ततः समाप्ते कर्मणि ब्राह्मणभोजनं दद्यात् । ब्राह्मणभोजनमित्यत्र एकस्मै द्वाभ्यां बहुभ्यो वा भोजनं ब्राह्मणभोजनमिति समासस्य तुल्यत्वात् । एकस्मिन्नपि ब्राह्मणे भोजिते अर्थस्यानुष्ठितत्वात् एकस्यैव भोजनमिति युक्तमिति सूत्रार्थः । अथ पद्धतिः । तत्रावसथ्याधानं करिष्यन्, उक्तकालातिक्रमाभावे अग्न्याधानार्थोपदिष्टमासतिथिनक्षत्रवारादिके काले प्रातः सुस्नातः सुप्रक्षालितपाणिपादः स्वाचान्तः सपत्नीको गोमयोपलिप्ते शुचौ स्वासने उपविश्य अद्येहेत्यादिदेशकालौ स्मृत्वा अवसथ्याग्निमहमाधास्य इति संकल्पं विधाय मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं प्रोक्तं कुर्यात् । कालातिक्रमे तु "यावंत्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः । तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धोम्यं दद्याद्यथाविधि" इति वचनादतिक्रांतसंवत्सरसंख्यप्राजापत्यं प्रायश्चित्तं मुख्यविधिना चरित्वा तदशक्तौ प्रतिप्राजापत्यं गां दत्वातदलाभे तन्मूल्यं निष्कमेकमर्द्धं तदर्धं वा द्वादशब्राह्मणभोजनं वा अयुतगायत्रीजपं गायत्र्या तिलाज्यसहस्रहोमं वा शक्त्यपेक्षयान्यतमं विधाय होम्यं सायंप्रातर्होमद्रव्यं प्रत्यहमाहुतिचतुष्टयपर्याप्तमतिक्रांतदिवसान् गणयित्वा ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । इदं वाक्यम् । आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रान्तैतावद्वर्षनिरग्निजनितदुरितक्षयाय एतावंति प्राजापत्यव्रतानि चरिष्ये । तदशक्तौ प्राजापत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकां गा ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे । एवमन्येष्वपि वाक्यमूहनीयम् । तद्यथा । आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रांतैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन प्रतिप्राजापत्यमेतावतीनां गवां मूल्यमिदमेतावत्सुवर्णं ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे, तद्वत्प्राजापत्याम्नायत्वेनैतावतो ब्राह्मणान् भोजयिष्ये । आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रांतैतावद्वर्षनिरग्नित्वजनितदुरितक्षयाय एतावत्प्राजापत्यप्रत्याम्नायत्वेन गायत्र्या एतावत्ययुतानि जपिष्ये तद्वदेतावन्ति तिलाहुतिसहस्राणि होष्यामीति । एवं कृतप्रायश्चित्तो होमद्रव्यं दद्यात् । तद्यथा । आवसथ्याधानमुख्यकालातिक्रांतैतावद्दिनसंबंधि सायंप्रातर्होमद्रव्यमेतावत्परिमाणं दधितंडुलयवानामन्यतमं ब्राह्मणेभ्योऽहं संप्रददे । तन्मूल्यद्रव्यमेतावत्परिमाणं वा होम्यं दद्यादिति वचनात् ॥ इतरपक्षाद्यादिकर्मद्रव्यदाननिवृत्तिः । छन्दर्षिस्मरणम् । इषेत्वादि खं ब्रह्मांतम् । ततः स्वशाखाध्यायिनं कर्मसु तत्त्वज्ञं ब्राह्मणं गन्धपुष्पमाल्यवस्त्रालंकारादिभिरभ्यर्च्य अमुकगोत्रममुकशर्माणममुकशाखाध्यायिनमावसथ्याधानं करिष्यन् कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्माणमेभिश्चन्दनपुष्पा-

क्षतवस्त्रालंकारैस्त्वामहं वृणे। वृतोऽस्मीति तेन वाच्यम्। केचिद् ब्रह्माणं मधुपर्केणा-र्चयन्ति। ऋत्विक्त्वाविशेषात्। ततः पत्न्यासहाहते वाससी परिधाय अग्न्याधानदेशे स्थण्डिलमुपलिप्य पंचभूसंस्कारान् कृत्वा तं देशमहतवाससा पिधाय ब्रह्मणा सह समृदं स्थालीमादाय ब्राह्मणैः परिवृतो वेदघोषमंगलगीतवाद्यादिभिर्जनितोत्साहो वैश्यस्य तृतीयवर्णस्य बहुपशोः पशुभिः समृद्धस्य तदलाभे गोभिलादिसूत्रवचनात् भ्रष्ट्रागृहादंब-रीषादद्वहुयाजिनो ब्राह्मणस्य गृहाद्वहुन्नपाकाद् ब्राह्मणमहानसाद्वा स्थाल्यामग्निं गृहीत्वा तथैव गृहमागत्य परिसमूहनादिपंचभूसंस्कारसंस्कृते स्थंडिले प्राङ्मुख उपविश्य आत्माभि-मुखमग्निं निदध्यात्। इत्याहरणपक्षे॥ आरणेयपक्षे तु गृह्याग्न्याधानजातेच्छो यजमानः (पुण्येऽहनि) 'अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः। तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगापि वा॥ अरणिस्तन्मयी ज्ञेया तन्मध्ये चोत्तराणिः। सारवद्दारवं चात्र मोविली च प्रशस्यते॥ संसक्तमूलो यः शम्या स शमीगर्भ उच्यते। अभावे त्वशमीगर्भादाहरेद-विलंबितः॥ चतुर्विंशांगुला दीर्घा विस्तारेण षडंगुला। चतुरंगुलमुत्सेधा अरणिर्याज्ञिकैः स्मृता॥ मूलादष्टांगुलं त्यक्त्वा अग्राच्च द्वादशांगुलम्। अंतरं देवयोनिः स्यात्तत्र मथ्यो हुताशनः॥ मूर्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कंधरा चापि पंचमी। अंगुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यंगुष्ठं वक्ष उच्यते॥ अंगुष्ठमात्रं हृदयमंगुष्ठमुदरं तथा। एकांगुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ बस्तिर्द्वौ च गुह्यकम्॥ ऊरू जंघे च पादौ च चतुरुच्चैर्यथाक्रमम्। अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परि-कीर्तिताः॥ एतद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिः स उच्यते। तस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते॥ प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नोत्तरेषु च। अष्टांगुलः प्रमंथः स्याच्चात्रं स्याद् द्वादशांगुलम्॥ ओविली द्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयंत्रकम्। गोवालैः शणसम्मि-श्रैस्त्रिवृदुत्तममंशुकम् व्योमप्रमाणं नेत्रं स्यात् तेन मथ्यहुताशनः। चात्रबुध्ने प्रमंथाग्रं गाढं कृत्वा विचक्षणः'' ॥ इत्युक्तलक्षणमरण्यादिकं संपाद्य उक्तकाले माघादिपंचमासा-नामन्यतमे मासे कृत्तिकारोहिणीमृगशिराफल्गुनीद्वयहस्तानामृक्षाणामन्यतमर्क्षान्वितायां शुभायां तिथौ चन्द्रशुद्धौ गृह्याग्निमादधति। मुख्यकालातिक्रमे तु एतावान् विशेषः॥ उक्तविधिना कृतप्रायश्चित्तो दत्तहोम्यद्रव्यः स्नानादिपूर्वकं संकल्पादिमातृपूजाभ्युदयिक-श्राद्धब्रह्मवरणाहतवासःपरिधानादि कृत्वा शालायां यजमान उपविशति। तस्य दक्षिणांगे पत्नी॥ अथ ब्रह्मा अरणी आदाय अधरारणिं पत्न्यै उत्तरारणिं यजमानाय दद्यात्। तौ चावसथ्याग्निसाधनभूते इमे अरणी आवाभ्यां परिगृहीते तत्रेयमधरा इयमुत्तरा। इदं चात्रम् इयमोविली इमानि स्रुवादीनि पात्राणि परिगृहीतानीति परिगृह्णीतः। ततोऽग्न्याधानदेशे शंकुं द्वादशांगुलखादिरं चतुरंगुलमस्तकं नखाय तत्र रज्जुपाशं क्षिप्त्वा सार्द्धत्रयोदशांगुलरज्ज्वंतं शङ्कन्तराले संवेष्ट्य प्रदक्षिणपरिभ्रामणेन परिलिख्य तत्र परिसमूहनादिपंचभूसंस्कारान् कृत्वा आच्छाद्य मंथनमारभेत्। तद्यथा। प्राग्ग्रीवमुत्तर-लोमकृष्णाजिनमास्तीर्य तत्रोदगग्रामधरारणिं निधाय तत्पूर्वतं उत्तरारणिं च अधराण्या-मुक्तलक्षणमंथनप्रदेशे प्रमंथमूलं निधाय चात्राग्रे चौविलीमुदगग्रां च नेत्रेण चात्रं त्रिर्वेष्ट्-यित्वा गाढं धृत्वा पश्चिमाभिमुखोपविष्टया पत्न्या मन्थयेत् यावदग्नेरुत्पत्तिः पत्न्या

मन्थनासामर्थ्ये अन्ये ब्राह्मणाः शुचयो मन्थयन्ति। एवं यजमानासामर्थ्ये अन्यो यंत्रं धारयति। ततो जातमग्निं मृण्मये पात्रे शुष्कगोमयपिंडोपरि निहिततूले सपुरीषं प्रक्षिप्य संधुक्ष्य प्रज्वाल्य पूर्वसंस्कृते देशे आदध्यात्। तत्र ब्रह्मोपवेशनादिदेवताभिधानपर्युक्षणान्तं कृत्वा स्रुवमादाय दक्षिणजान्वाच्य ब्रह्मणान्वारब्धः प्रजापतये स्वाहेति मनसा ध्यायन् प्रांचमूर्ध्वं ऋजुं संततमाज्येन अग्नेरुत्तरप्रदेशे पूर्वाघारमाघारयति। इदं प्रजापतये इति त्यागं कृत्वा हुतशेषं पात्रान्तरे प्रक्षिपेत् तथैवेन्द्राय स्वाहेति। अग्नेर्दक्षिणप्रदेशे उत्तराघारमिदमिंद्रायेति त्यागं विधाय अग्नये स्वाहेति अग्नेरुत्तरार्द्धपूर्वार्द्धे आग्नेयमाज्यभागं हुत्वा इदमग्नये इति द्रव्यं त्यक्त्वा तथैव सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्धे पूर्वार्द्धे सौम्यमाज्यभागं हुत्वा इदं सोमायेति स्वत्वं त्यजेत् समिद्धतमेवाग्निप्रदेशे आधाराद्याः सर्वाहुतीर्जुहुयात्। अथाष्टर्चहोमः। नन्वारंभः। त्वन्नो अग्ने सत्वन्नो अग्न इमम्मे-वरुण तत्त्वायामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भवतन्न इत्येताभिरष्टभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचमे-कैकामष्टाज्याहुतीर्हुत्वा यथादैवतं स्वत्वत्यागं च कृत्वा स्थालीपाकस्य जुहुयात्। तद्यथा। त्वन्नोअग्न इति वामदेवऋषिस्त्रिष्टुप्छंदोऽग्नीवरुणौ देवते प्रायश्चित्तहोमे विनियोगः॥ सत्वमिति पूर्ववत्॥ अयाश्चाग्न इति प्रजापतिर्ऋषिर्विराट् छंदोऽग्नि-र्देवता॥ ये ते शतमिति शुनःशेपऋषिर्जगतीछंदः वरुणः सविता विष्णुर्विश्वेदेवामरुतः स्वर्का देवताः प्रायश्चित्तहोमे विनियोगः। उदुत्तममिति शुनःशेपऋषिस्त्रिष्टुब्वरुणः विष्णुक्रमेषु पाशोन्मोचने विनियोगः॥ त्वन्न अग्न० प्रमुमुग्ध्यस्मत्स्वाहा॥ इदमग्नी-वरुणाभ्याम्॥ सत्वन्नोअग्नेसुहवोनएधि स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्याम्। इमम्मे वरुण० चक्रे स्वाहा॥ इति वरुणाय॥ तत्त्वायामि० प्रमोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय। ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाऽपाशावितता महान्तः। तेभिर्न्नोऽअद्य सवितोतविष्णुर्विश्वे-मुंचन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः॥ केचिदिदं वरुणायेति। अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तपाश्चसत्यमित्व-मयाअसि॥ अयानोयज्ञं वहास्ययानोधेहि भेषजꣳ स्वाहा इदं जातवेदोभ्याम्॥ केचि-दिदमग्निभ्यः। अथ स्थालीपाकेन चतस्रोऽग्न्याधेयदेवताः॥ अग्नये पवमानाय स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय। अग्नये पावकाय स्वाहा इदमग्नये पावकाय॥ अग्नये शुचये स्वाहा इदमग्नये शुचये॥ अदित्यै स्वाहा इदमदित्यै॥ इत्यग्न्याधेयदेवताभ्यः : ततः पूर्ववदाज्येनाष्टर्चहोमः। ततो ब्रह्मान्वारब्ध उत्तरार्द्धात् स्रुवेण चरुमादाय अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति अग्नेरुत्तरार्द्धे जुहुयात्। इदमग्नये स्विष्टकृते। अथानन्वारब्ध आज्येन अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवागातुविदोगातुंवित्वागातुमित मनसस्पत इम-न्देवयज्ञꣳ स्वाहा। वातेधाः स्वाहा। इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः इति स्वत्वं त्यक्त्वा॥ ब्रह्मान्वारब्धः॥ ॐ भूर्भुवःस्वरिति क्रमेण प्रजापतिऋषिर्गायत्रीछंदोऽग्निर्देवता प्रजा-पतिर्ऋषिरुष्णिक्छंदो वायुर्देवता॥ प्रजापतिर्ऋषिरनुष्टुप्छंदः सूर्योदेवता व्याहृतिहोमे विनियोगः। ॐ भूः स्वाहा इदमग्नये। इदं भूर्वा॥ ॐ भुवः स्वाहा। इदं वायवे। इदं भुव इति वा॥ ॐ स्वः स्वाहा। इदं सूर्याय। इदं स्व इति वा॥ ॐ त्वन्नोअग्ने।

स त्वन्नो अग्ने । अयाश्चाग्ने । ये ते शतं । उदुत्तमं । पंचमंत्राः प्राजापत्यांता नवाहुतीर्हुत्वा बर्हिर्होमं च कृत्वा संस्रवं प्राश्याचम्य पवित्राभ्यां मुखं मार्जयित्वा पवित्रे अग्नौ प्रक्षिप्य प्रणीता अग्नेः पश्चिमतो निनीय आशादितपूर्णपात्रवरयोरन्यतरस्य ब्रह्मणे दक्षिणात्वेन दानं कृत्वा एकब्राह्मणभोजनदानम् ॥ तथा स्मृत्यन्तरोक्तत्रयोविंशतिब्राह्मणभोजनम् । अत्र मार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः बर्हिर्होमः प्रणीताविमोक इत्येते चत्वारः पदार्थाः भाष्यकारमते गृह्यकर्मसु न भवन्ति वचनाभावात् । आवसथ्याधाने बर्हिर्होमो वचनाद्भवति । इत्यावसथ्याधानम् ॥ ततः मणिकाधानपंचमहायज्ञसायंप्रातर्होमनिमित्तं च श्राद्धचतुष्कं तद्दिने एव कार्यम् ॥ अथ पुनराधाननिमित्तानि लिख्यन्ते ॥ तत्र कृतावसथ्याधानौ पत्नीयजमानौ अग्निं परित्यज्य यदि ग्रामसीमामतीत्य वसेयातामेकां रात्रिं तत्र प्रातरागत्याग्निं मथित्वोक्तविधिना ब्रह्मोपवेशनादिब्राह्मणभोजनान्तमाधानं कुर्यात् तत्र होमलोपे तु एकतंत्रेण सायंप्रातर्होमं कुर्यात् । बहुहोमलोपेऽप्येवम् । अथ यदि कृताधानो यजमानः प्रजार्थी कामार्थी चोद्वहेत्तत्र अन्ये अरणी संपाद्य प्रातर्होमं विधाय दिवा विवाहं कृत्वा आचतुर्थीकर्मणो होमं त्यक्त्वा तदन्ते अतिक्रान्तहोमद्रव्यं दत्वा पंचमेऽहनि पुनराधानं यथोक्तमित्येकः पक्षः । प्रातर्होमं कृत्वा दिवा विवाहं संपाद्य सद्यः चतुर्थीकर्म च कृत्वा तद्दिन एवावसथ्याधानमिति द्वितीयः पक्षः ॥ अत्र पक्षद्वयेऽपि पूर्वारण्योः स्फोटितयोरावसथ्ये दहनं अन्यारण्योराधानं पात्राणि तान्येव । यत्तु छंदोगपरिशिष्टे । "सदारो यः पुनर्दारान् कथंचित् कारणांतरात् । य इच्छेदग्निमान् कर्त्तुं क्व होमोऽस्य विधीयते । स्वेऽग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कदाचन । न ह्याहिताग्नेः स्वं कर्म लौकिकेऽग्नौ विधीयते ॥" इति पुनराधानाभावप्रतिपादनं तच्छन्दोगविषयं अनेकपत्नीकस्यैकस्याः पत्न्यामरणे अरणिपात्रैः सहावसथ्येन तां दाहयित्वाशौचांते पुनराधानम् । एकपत्नीकस्य तु पत्नीमरणे कृतविवाहस्य चतुर्थीकर्मानन्तरं पुनराधानम् अग्नावुपशांते होमकालद्वयातिक्रमे गृहपतौ प्रोषिते प्रमादात् पत्न्या ग्रामांतरवासे तथा गृहस्थिते यजमाने पत्न्याः प्रवासे प्राग्होमकालादनागमने पुनराधानम् ॥ केचित्तु ज्येष्ठायामग्निसंनिधौ तिष्ठंत्यामन्यासां पतिसहितानां केवलानां वा कार्यवशाद् ग्रामांतरे स्थितानां पत्यौ वा अग्निसन्निधौ तिष्ठति सर्वासां पत्नीनां ग्रामान्तरगमनेनाग्निनाश इत्याहुः ॥ तथा पत्न्या अग्निं विना समुद्रगानद्यतिक्रमे भर्तृरहितायाश्चाग्निना सहितायाः भयं विना सीमातिक्रमे कर्मार्थाहरणादन्यत्र शकटं विना शम्यापरासादूर्ध्वं त्रिरुच्छ्वसतः प्रत्यक्षाग्निहरणे मथ्यमानस्य दृष्टस्याग्नेर्मन्थनयंत्रोत्थापनादूर्ध्वं नाशे ॥ संवत्सरमेकं यजमानस्य होमाकरणे प्राजापत्यब्रह्मकूर्चयोरन्यतरप्रायश्चित्ताचरणादूर्ध्वं पत्न्याश्च पादकृच्छ्राचरणात्पुनर्विवाहवदाधानम् ॥ उदकेनाग्न्युपशमने शिक्येनाग्न्युद्वाहने प्रत्यक्षस्यारणिसमारूढस्य वाऽग्नेः एकनामधेयशतयोजनगामि नदीयोजनाधिकगामिनदीसन्तरणे वा सर्वत्र सीमातिक्रमेण आद्यंतसीमातिक्रमेण वा पत्नीयजमानयोरन्वारम्भाभावे सूकरगर्दभकाकश्वृगालाश्वकुक्कुटमर्कटशूद्रांत्यजमहापातकिश्वसूतिकारजस्वलारेतोमूत्रपुरीषमेदोऽश्रुश्लेष्मशोणितपूयास्थिमांसमज्जासुराप्रभृतिभिरमेध्यैः प्रत्यक्षस्यारणि-

समारोपितस्य वाऽग्नेः स्पर्शे त्रीन्पक्षान्निरन्तरं पक्षहोमकरणे पुनराधानं तथाग्नेरपहरणात् प्रादुष्करणादूर्ध्वं पूर्वं वा शान्तेऽग्नौ मंथने प्रारब्धेऽग्निजन्माभावे लौकिकाग्निब्राह्मण-दक्षिणहस्ताजादक्षिणकर्णकुशस्तंवजलानामन्यतमेऽग्निस्थानेऽपकल्पिते सूर्यास्तमये उदये वा जाते पुनराधानम् ।। अग्निनाशभ्रान्त्या अग्निं मथित्वा पूर्वाग्निं दृष्ट्वा मथितमग्निम् ।। अयं ते योनिरिति मंत्रेणारण्योः समारोप्य पूर्वेऽग्नौ होमादिकं विदध्यात् । यदा तु लौकिकाग्न्याद्यन्यतमं निधाय होमं कृत्वा मंथने प्रारब्धे द्वितीयहोमकालात्तृतीयाद्वा अग्ने-र्जन्माभावस्तदा पुनराधानम् ।। आरोपिताग्न्योररण्योर्नाशे एकस्यां वा पुनराधानम् ।। असमारोपितयोस्तु एकतरविनाशे द्वितीयां छित्त्वा मंथनम् । नष्टायाः प्रतिपत्तिरावसथ्ये दाहः ।। यदा पुनर्जन्तुभक्षणेन मंथनेन वा मंथनायोग्ये भवतस्तदान्ये अरणी गृहीत्वा दर्श-पक्षादिकर्म निर्वर्त्य जीर्णमरणिद्वयं शकलीकृत्य तस्मिन्नग्नौ प्रज्वाल्य दक्षिणहस्तेन नूतना-मुत्तरारणिं सव्यहस्तेनाधरारणिं गृहीत्वा दीप्तेऽग्नौ धारयन् उद्बवदध्यस्वाग्ने प्रविशस्व योनिमन्यां देवयज्यां वोढवे जातवेदः । अरण्या अरणिमनुसंक्रमस्व जीर्णां तनुमजीर्णया निर्णुदस्व ।। अयं ते योनिऋत्विय इत्येतौ मंत्रौ जपित्वा मंथनयंत्रं निधायाग्निं मथित्वा भूसंस्कारपूर्वकं स्थाने निधाय पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्यानादिष्टहोमं कुर्यात् ।। अथ पक्ष-होमविधिः । तत्र यजमानस्य आमयादिनिमित्ते रोगार्त्तावभ्वागमने राष्ट्रभ्रंशे धनाभावे गुरुगृहवासे अन्यास्वपि भयाद्यापत्सु होमानां समासो भवति ।। तद्यथा ।। प्रतिपदि सायंकाले आहुतिपरिमाणं होमद्रव्यं चतुर्दशकृत्वो एकस्मिन् पात्रे कृत्वा अग्नये स्वाहेति हुत्वा पुनस्तथैव चतुर्दशकृत्वो होमद्रव्यं गृहीत्वा प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात् ।। एवमेव होमद्रव्यं चतुर्दशकृत्वो चतुर्दशकृत्व एकस्मिन् पात्रे कृत्वा सूर्याय स्वाहेति प्रातर्हुत्वा पुनस्तथैव होमद्रव्यं गृहीत्वा प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात् । ततो दक्षिणेन पाणिना प्राग-ग्रामुत्तरारणिं धारयन् अयं ते योनिरिति मंत्रेणाग्निं समारोप्यारणीं धारयेत् ।। अथ पौर्णमास्याममावास्यायां वा प्राप्तायां प्रातररण्योरग्निं निर्मथ्य कुण्डे निधायावसरप्राप्तं वैश्वदेवादिकं कर्म विधाय सायंकाले सायंहोमं प्रातःकाले प्रातर्होमं हुत्वा पक्षादिहोमं कुर्यात् । एतावतापि कालेन यद्यापन्नं निवर्त्तते तदा उक्तविधिना पुनः पक्षहोमान् कुर्यात् । तृतीये पक्षे तु आपदनुवृत्तावपि न पक्षहोमविधिः किन्तु कृच्छ्रेणापि पृथगेव सायं प्रात-र्होमान् विदध्यात् । ततोऽप्यापदनुवृत्तौ पुनरुक्तविधिना पक्षे-पक्षे होमसमासं कुर्यात् । न तु तृतीये पक्षे । एवं यदैवापन्निमित्तं तदादि औपवसथ्याहप्रातर्होमपर्यन्तानां होमानां समासं कुर्यात् । न पक्षांतरगतानाम् । कठश्रुतिपक्षे तु न पक्षद्वयमेव पक्षहोमनियमः । अपि तु आपदनुवृत्तौ यावदापन्निवृत्तिस्तावत्प्रतिपक्षमुक्तप्रकारेण निरंतरं पक्षहोमान् समस्येदित्येकः प्रकारः । प्रकारांतरं न सायंकाले समिधाधानपर्युक्षणानंतरम् आहुतिपरि-माणं होमद्रव्यमग्नये स्वाहेति हुत्वा पुनस्तथैव सूर्याय स्वाहेति हुत्वा आहुतिद्वयपर्याप्तं होमद्रव्यमादाय प्रजापतये स्वाहेति सकृज्जुहुयात् । इति सायंप्रातस्तनयोः समासं यावदापदमाचरेत् । यदा तु आपदो गुरुत्वं भवति तदा सायंहोमैरेव अनेन विधिना प्रातर्होमानां समासं कुर्यात् । एवं पक्षहोमसमासे कृते यद्यंतराले आपन्निवृत्ति-

स्तदा प्रत्यहं सायंप्रातर्होमान् हुतानपि जुहुयात् न वेति कठा आमनन्ति। एते च होमसमासाः सायमुपक्रमाः प्रातरपवर्गा इत्युत्सर्गः। आपद्विशेषे तु प्रातरुपक्रमाः सायमपवर्गाः पूर्वाह्णापराह्णादिकालानपेक्षा अपि बोद्धव्याः। यतः तत्रापत्कालपुरस्कारेणैव होमसमासोपक्रमो युज्यते॥ अपराह्णे पिंडपितृयज्ञः। पिंडपितृयज्ञपद्धतिर्लिख्यते॥ अमावास्यायमपराह्णे श्राद्धपाकाद्वैश्वदेवं पात्रनिर्णेजनांतं निधाय प्राचीनावीती नीवीं बद्ध्वा दक्षिणाभिमुखोऽग्निसन्निधावुपविश्याद्य पिंडपितृयज्ञेनाहं यक्ष्ये॥ तत्राग्निं कव्यवाहनं सोमं पितृमंतम् अमुकगोत्रान् यजमानपितृपितामहप्रपितामहान् अमुकामुकामुकशर्मणः व्रीहिमयैः पिण्डैर्यक्ष्य इति प्रतिज्ञायाग्नेयादिदक्षिणांतं दक्षिणाग्रैः कुशैरग्निं परिस्तीर्य पात्राणि सादयेत् पश्चादग्नेर्दक्षिणसंस्थानि। तत्र स्रुवं कृष्णाजिनं चरुस्थालीमुलूखलमुसलं शूर्पमुदकम् आज्यं मेक्षणं स्फ्यम् उदपात्रं सकृदाच्छिन्नानि व्रीहीन् सूत्राणि चेति। ततोऽग्निमपरेणापूर्णं स्रुवं व्रीहीन् गृहीत्वोत्तरतोऽग्नेः कृष्णाजिनमास्तीर्य्य तत्रोलूखलं निधाय व्रीहीनुलूखले निक्षिप्य मुसलमादाय तिष्ठन् दक्षिणमुखस्त्रिकृत्वोऽवहन्यात्। यावद्बहु व्रीहयो वितुषा भवन्ति। ततः शूर्पेण निष्पूय पुनरुलूखले निक्षिप्य सकृत्फलीकृत्य पुनः शूर्पे कृत्वा निष्पूय सोदकायां चरुस्थाल्यां तन्दुलानोप्याग्नावधिश्रित्याप्रदक्षिणं मेक्षणेन चालयित्वेषच्छ्रितं चरुं श्रपयेत्। शृतमासादितेन घृतेनाभिघार्य दक्षिणत उद्वास्य पूर्वेणाग्निमुत्तरत आनीय स्थापयेत्। ततः सव्यं जान्वाच्य मेक्षणेन चरुमादायाग्नये कव्यवाहनाय स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमग्नये कव्यवाहनायेति त्यागं विधाय पुनर्मेक्षणेन चरुमादाय सोमाय पितृमते स्वाहेति हुत्वा इदᳪं सोमाय पितृमत इति त्यागं विधाय मेक्षणमग्नौ प्रास्याग्नेर्दक्षिणतः पश्चाद्वा दक्षिणाभिमुख उपविश्य सव्यं जान्वाच्योपलिप्य स्फ्येनापहता असुरा रक्षाᳪंसि वेदिषद इति दक्षिणायतां लेखामुल्लिख्योदकमुपस्पृश्य ये रूपाणीत्युल्मुकं लेखाग्रे निधाय पुनरुदकमुपस्पृश्योदपात्रमादाय पितृतीर्थेन लेखायाममुकगोत्राऽस्मत्पितरमुकशर्मन् अवनेनिक्ष्वेत्येव पितामहप्रपितामहयोरवनेजनं दत्त्वोपमूलᳪं सकृदाच्छिन्नानि दक्षिणाग्राणि लेखायामास्तीर्य तत्रावनेजनं क्रमेणामुकगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन् एतत्तेऽन्नं स्वधा नम इति पिण्डं दत्त्वा इदं पित्रे इति त्यागं विधायैवं पितामहप्रपितामहाभ्यां प्रत्येकं पिंडं दत्त्वात्रपितर इत्यर्द्धर्चं जपित्वा पराङावृत्य वायुं धार्यात्तमना उदङ्मुख आसित्वा तेनैवावृत्यामीमदं तेत्यर्द्धर्चं जपित्वा पूर्ववदवनिज्य नीवीं विसृज्य नमो व इति प्रतिमंत्रमंजलिं करोति गृहान्नइत्याशिषं प्रार्थ्यैतद् इति प्रतिपिंडं सूत्राणि दत्त्वोर्जमिति पिंडेष्वपो निषिच्य पिण्डानुत्थाप्य स्थाल्यामवधायावजिघ्रति। सकृदाच्छिन्नान्यग्नौ प्रास्योल्मुकं प्रक्षिप्योदकं स्पृष्ट्वाचम्य पिंडान्वाहार्यकं श्राद्धमारभेदिति पिंडपितृयज्ञः॥

"क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधसंयुक्तो हीनमन्त्रो जुहोति यः। अप्रवृद्धे सधूमे वा सोऽधः स्यादन्यजन्मनि॥ स्वल्पे रूक्षे सस्फुलिंगे वामावर्ते भयानके। अर्द्धकाष्ठैश्च संपूर्णे फूत्कारवति पावके॥ कृष्णार्चिषि सुदुर्गन्धे तथा लिहितमेदिनीम्। आहुतीर्जुहुयाद्यस्तु तस्य नाशो भवेद्ध्रुवम्"। इदं ब्रह्मपुराणे इति हरिहरभाष्ये द्वितीया कण्डिका॥ २॥

सरला

१—गृह्याग्नि की स्थापना विवाह के समय (चतुर्थी कर्म के अनन्तर) करनी चाहिए (क्योंकि इससे पूर्व पत्नी भार्या नहीं बनती और सभार्य व्यक्ति ही अग्न्याधान करने का अधिकारी है) ।

२—कुछ (आचार्यों) का (मत है कि) भाइयों के मध्य पैतृक-सम्पत्ति के विभाजन के समय (अग्न्याधान करना चाहिए) ।

३-४—प्रचुर पशु-धन-समृद्ध वैश्य के घर से अग्नि लाकर चातुष्प्राश्यपाक के सदृश (सभी कृत्य करने चाहिए) ।

५—कुछ (आचार्यों) के (मत से) अरणिमन्थनजन्यअग्नि का आधान करना चाहिए ।

६—क्योंकि पञ्च महायज्ञों के श्रौत होने के कारण (आरण्येय अग्नि में अनुष्ठान श्रुतिसंगत है) ।

७—अग्न्याधेय देवताओं (१. पवमानाग्नि, २. पावकाग्नि, ३. अग्निः शुचि, ४. अदिति) के निमित्त स्थालीपाक पकाकर, (अग्नि और सोम से सम्बद्ध) आज्य भाग का हवन कर 'त्वन्नोऽग्ने' प्रभृति आठ मंत्र पढ़कर आठ घृताहुतियां डाले ।

८-९—(अग्न्याधेय देव-होम से पूर्व जैसे आठ आहुतियाँ डाली जाती हैं) वैसे ही बाद में भी पूर्वोक्त अग्न्याधेय देवताओं को चरु की आहुतियाँ देकर आठ आहुतियाँ डालें ।

१०-११—'अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवागातु विदः' मंत्र पढ़कर स्विष्टकृत् अग्नि के निमित्त एक आहुति डालनी चाहिए । इसके साथ ही देवों के लिए एक आज्याहुति भी देनी चाहिए (यहाँ स्विष्टकृत् अग्नि के लिए चरु की आहुति और देवों के लिए आज्याहुति दी जाएगी) ।

१२—कुशों को अग्नि में होमकर संस्रव-प्राशन करे—(प्रोक्षणी पात्रस्थ घृत-बिन्दुओं को चाटे) ।

१३—तदनन्तर ब्राह्मण-भोजन (कर्म करना चाहिए) ।

टिप्पणी—१ आश्वलायन प्रभृति आचार्यों का मत है कि वैवाहिक अग्नि ही औपासनाग्नि है; वे विवाहहोम को ही पत्नी और होम का संस्कारक मानते हैं किन्तु हरिहर का कथन है कि पारस्कर ने 'आवसथ्याधानं दारकाले' के द्वारा अग्नि-संस्कार का पृथक् विधान किया है, अतएव इस संस्कार के द्वारा संस्कृत अग्नि ही औपासनाग्नि है ।

२—भर्तृयज्ञ–भाष्य के अनुसार 'पिता प्रत्तामादाय निष्क्रामति' (पार. गृ. सू. १. ४. १५) से दारकाल प्रारम्भ होता है ।

३—अग्न्याधान-काल के सन्दर्भ में ऊपर आये दो परस्पर विरोधी मतों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करते हुए कर्क और जयराम का कथन है—'अभ्रातृकस्य

दारकाले भ्रातृमतो दायाद्यकाले'—जिसके भाई न हों, वह विवाह के समय और जिसके हों, वह पैतृक-सम्पत्ति-विभाजन के समय अग्नि का आधान करे।

४—गोभिल आदि आचार्यों का मत है कि भ्राष्ट्र (भड़भूजे) के घर से अथवा बहुयाजी ब्राह्मण के घर से भी अग्नि लाई जा सकती है, यदि वैश्य के घर अग्नि न मिले तो।

५—श्रौतयज्ञों में श्रौताग्नियों की स्थापना के समय चारों ऋत्विजों के लिए चातुष्प्राश्य तैयार किया जाता है। तुल०—शत. ब्रा. २, १-४। कात्या. श्रौत. सू. ४, ७, १५-१६।

६—हरिहर का कथन है कि कर्क के अनुसार 'चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम्' का उल्लेख पारस्कर ने पूर्वपक्ष के रूप में किया है—वे स्वयं इससे सहमत नहीं हैं। कर्क ने अपने भाष्य में पूर्वोत्तरपक्ष दोनों ही दिए हैं। वे वहीं द्रष्टव्य हैं।

७—पञ्च महायज्ञों का निरूपण इसी गृह्यसूत्र के द्वितीय काण्ड की नवीं कण्डिका में किया गया है। तुल०—शत. ब्रा. ११,५,६,१।

८—संस्रव-प्राशन। तुल०—कात्या. श्रौत सू. ३-८।

९—ब्राह्मण-भोजन। प्रश्न है कि एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये या अधिक को? इस सन्दर्भ में भाष्यकारों के दो मत हैं। कर्क, जयराम, हरिहर तथा गदाधर के मत से एक ब्राह्मण को ही भोजन कराना चाहिए क्योंकि पारस्कर को जहाँ अधिक अभीष्ट हैं वहां वे बहुवचन का प्रयोग करते हैं किन्तु विश्वनाथ इससे असहमत हैं—उनके कथनानुसार भोजन कराना तो ३२ ब्राह्मणों को ही चाहिए किन्तु लाघव की दृष्टि से एक को भी जिमाने से काम चल सकता है।

१०—अरणि-मन्थन। शमी वृक्ष पर उत्पन्न पीपल की पूर्वोन्मुखी शाखा की अरणि बनाई जा सकती है। २४ अंगुल लम्बी, ६ अङ्गुल चौड़ी और चार अंगुल मोटी होनी चाहिए। मूल आठ अंगुल भाग और आगे के १२ अंगुल भाग को छोड़कर बीच के ४ अंगुल परिमाण भाग में ही अग्नि का निवास होता है, क्योंकि वही देवयोनि हैं, अतएव उसे ही मथना चाहिए। प्रथम मन्थन के बाद यह नियम शिथिल भी किया जा सकता है। पहले यजमान-पत्नी मथे, फिर कोई बलवान् ब्राह्मण।

मंत्रार्थ

१. त्वं नो॑ अग्ने॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान्
दे॒वस्य॒ हेडो॒ऽ अव॑ यासिसीष्ठाः।
यजि॑ष्ठो॒ वह्नि॑तमः॒ शोशु॑चानो॒
विश्वा॒ द्वेषा॑ᳪसि॒ प्रमु॑मुग्ध्य॒स्मत्॥ (यजु० २१.३)

ऋषि वामदेव, त्रिष्टुप् छन्द, अग्नि (यजु० २१.३) वरुण देवता—हे अग्निदेव ! तुम सर्वज्ञ, यज्ञादि कर्मों के प्रधान, हविष्-वाहक, और कान्तिमान् हो। तुम्हारी कृपा से वरुणदेव हम पर क्रोध न करें; तुम हमारे सम्पूर्ण दुर्भाग्य को हमसे पृथक् कर दो।

२. स त्वं नोऽअग्नेऽवमो भवोती
नेदिष्ठोऽअस्याऽउषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणꣳरराणो
वीहि मृडीकꣳ सुहवो नऽएधि ॥ (वही ४)

वही—हे अग्निदेव ! तुम इस उषःकाल में हमें समृद्धि-सम्पन्न करने के लिए अपने रक्षा-साधनों से युक्त होकर हमारे निकट आओ. हमारी रक्षा करो। हविष् प्रदान करते हुए हमारे राजा वरुण को तृप्त करो। तुम हमारी सुखकारी हवि का भक्षण करो। तुम्हारा हम भलीभाँति आह्वान करते हैं।

३. इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युराचके ॥ (यजु. २१-१)

ऋषि शुनःशेप, गायत्री छन्द, वरुणदेव—हे वरुणदेव ! तुम मेरे इस आह्वान को सुनो और हमें सर्वविध सुख प्रदान करो। अपनी रक्षा के निमित्त मैं तुम्हारा आह्वान कर रहा हूँ।

४. तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान-
स्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बो-
ध्युरुशꣳस मा नऽआयुः प्रमोषीः ॥ —यजु. २१-२।

ऋषि वही, त्रिष्टुप् छन्द, वरुणदेवता—हे वरुणदेव ! स्तुति करते हुए मैं तुमसे धन-पुत्र समन्वित उस फल की याचना करता हूँ, जिसकी अभिलाषा हवि-प्रदाता यजमान करता है।

५. ये ते शतं वरुण ये सहस्रं
यज्ञियाः पाशाः वितता महान्तः।
तेभिर्नो अद्य सवितोऽत विष्णु-
र्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः ॥

ऋषि वामदेव, जगती छन्द, वरुणदेव—हे वरुणदेव ! तुम्हारे पास बहुसंख्यक, असंख्य, यज्ञ से उत्पन्न, विस्तृत और अपरिहार्य हैं। हम उनमें बँधे हैं। सर्वपूज्य सवितृदेव, विष्णु और मरुद्गण हमें उन पाशों से मुक्त करें।

६. अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च-
सत्यमित्त्वमया असि ।
अयानो यज्ञं वहास्य-
यानो धेहि भेषजम् ॥

ऋषि वामदेव, त्रिष्टुप् छन्द, अग्निदेवता—हे अग्निदेव ! तुम भीतर-बाहर सर्वत्र स्थित हो, अभिशापहीन जनों को आत्मसात् कर उनका शोधन करते हो, प्रायश्चित्त-अनुष्ठान के द्वारा उनके कर्म-पालक हो, यह भी सत्य है कि तुम शुभ-प्रणेता हो, इसीलिए तुम हमारे शुद्ध हृदयों में अवस्थित होकर यज्ञ का वहन करते हो—हमें भैषज्य प्रदान करो।

७. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद-
वाधमं वि मध्यमश्श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवा-
नागसोऽदितये स्याम ॥ (यजु. १२-१२)

ऋषि शुनःशेप, त्रिष्टुप् छन्द, वरुणदेव—वरुणदेव ! आप प्राणियों को बन्धनों और सन्तापों से मुक्त करनेवाले हैं। हमारे शिर, कण्ठ आदि उत्तमांगों तथा कटि आदि अधस्थ अवयवों में पड़े अपने पाश-बन्धन से हमें छुटकारा दीजिए जिससे अपराध-मनोवृत्ति से मुक्त होकर हम तुम्हारे अनुष्ठानों में प्रवृत्त हो सकें। हे अदिति-नन्दन ! वरुण ! आप हमें दैन्यरहित अखण्ड ऐश्वर्य के योग्य बनाइए।

८. भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञं ँ हिं ँ सिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ (यजु. ५-३)

ऋषि प्रजापति, पङ्क्तिछन्द, जातवेदस्—हे जातवेदस् ! आप दोनों एकाग्र मन और समान चैतन्ययुक्त हैं। हमारे प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए आप हमसे अपराध हो जाने पर भी क्रोध न करें; हमारे यज्ञों को नष्ट न करें; यजमान का वध न करें—आप हमारे लिए मंगलमय हों।

९. अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं । देवागातु विदः ॥

गौतम ऋषि, गायत्री छन्द, गातुविद् देव—हे यज्ञवेत्तादेववृन्द ! अग्नि के निमित्त वषट्कार करके मैं यज्ञानुष्ठान का अधिकारी बना हूँ; उससे प्रसन्न होकर आप हम पर निरन्तर कृपालु रहें।

आवसथ्याधान-पद्धति

आवसथ्याग्नि की स्थापना करने का इच्छुक पुरुष ज्योतिषशास्त्रोक्त शुभ नक्षत्रयुक्त वेला में स्नानादि कर पवित्र स्थान पर बैठे, देश-काल का स्मरण कर 'मैं आवसथ्याग्नि की स्थापना करूँगा'—यह सङ्कल्प कर मातृपूजापूर्वक आभ्युदयिक श्राद्ध करें। तदनन्तर स्वशाखाध्यायी, कर्मकाण्ड-निष्णात ब्राह्मण का पुष्पाभरण आदि से सत्कार कर ब्रह्मा के रूप में इसका वरण करे। ब्रह्मा भी अपनी स्वीकृति दे—'वृतोऽहम्।' कुछ आचार्यों के मत से ब्रह्मा को मधुपर्क भी प्रदान करना चाहिए क्योंकि वस्तुतः वह भी ऋत्विक् ही होता है। फिर सपत्नीक सकृत्प्रक्षालित वस्त्र पहन कर पञ्चभूसंस्कार करे, संस्कृत भूमि को वस्त्र से ढककर ब्रह्मा एवं अन्य ब्राह्मणों के साथ वेदघोष करता हुआ उपर्युक्त स्थान से अग्नि लाये। मन्थनपक्ष में द्वादशाङ्गुल शङ्कु को, उपर्युक्त परिमाण वाली लकड़ी को रज्जुपाश में डालकर (साढ़े १२ अंगुल) रस्सी को शङ्कु के भीतर लपेटकर मन्थन आरम्भ करे। मन्थन-क्रिया ऊपर कही जा चुकी है। यजमान यदि मन्थन-यन्त्र धारण न कर सके तो अन्य लोग करें। मन्थन से उत्पन्न अग्नि को मृत्तिकापात्र में सूखे गोबर के कण्डों के चूरे और रुई पर डालकर प्रज्वलित करते हुए पूर्व संस्कृत स्थान पर प्रतिष्ठित करे। तदनन्तर ब्रह्मा के बैठने से लेकर पर्युक्षणान्त कृत्य कर स्रुवा से उक्त हवन करे। स्रुवा में बचे हुए घी को एक पात्र में डालता जाये। आहुति डालते समय मन्त्र के बाद 'इदं देवाय, इदं न मम' भी कहे। प्रजापत्यन्त नौ आहुतियाँ डालकर बर्हिहोम करे' संस्रव-प्राशन करके आचमनपूर्वक पवित्रों से मुख स्वच्छ कर उन्हें अग्नि में डाल दे। प्रणीतापात्र को अग्नि के पश्चिम रख दे। ब्रह्मा या अन्य ऋत्विक् को दक्षिणा देकर एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए।

गृह्याग्नि-स्थापना-काल का अतिक्रमण हो जाने पर प्रायश्चित्त का विधान स्मृतियों में किया गया है; इस सन्दर्भ की कुछ कारिकाएँ ये हैं :

'कालद्वयेन..................हरेत्ततः।
यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः।
तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि॥
कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम्।
चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा॥'

तृतीयकण्डिका

षडर्घ्या भवन्त्याचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति ॥ १ ॥ प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः ॥ २ ॥ यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः ॥ ३ ॥ आसनमाहार्याह साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति ॥ ४ ॥ आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं का॑ᳪस्ये का॑ᳪस्येन ॥ ५ ॥ अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि ॥ ६ ॥ विष्टरं प्रतिगृह्णाति ॥ ७ ॥ वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः । इयं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभि दासतीत्येनमभ्युपविशति ॥ ८ ॥ पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय ॥ ९ ॥ सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति ॥ १० ॥ ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम् ॥ ११ ॥ विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति ॥ १२ ॥ अर्घं प्रतिगृह्णात्यापः स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानीति ॥ १३ ॥ निनयन्नभिमन्त्रयते, समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत । अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचिमत्पय इति ॥ १४ ॥ आचामत्यामागन्यशसा संसृज वर्चसा । तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामिति ॥ १५ ॥ मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते ॥ १६ ॥ देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति ॥ १७ ॥ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामीति ॥ १८ ॥ अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति ॥ १९ ॥ तस्य त्रिः प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽसानीति ॥ २० ॥ मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम् ॥ २१ ॥ पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात् ॥ २२ ॥ सर्वं वा प्राश्नीयात् ॥ २३ ॥ प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत् ॥ २४ ॥ आचम्य प्राणान् संमृशति वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति ॥ २५ ॥ आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह ॥ २६ ॥ प्रत्याह । माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट । मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमीति यद्यालभेत् ॥ २७ ॥ अथ यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् ॥ २८ ॥ न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात् ॥ २९ ॥ अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात् ॥ ३० ॥ यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः ॥ ३१ ॥ ३ ॥

हरिहरभाष्यम्

(षडर्घ्या भवन्त्यः) षट्पुरुषा अर्घ्या भवन्ति अर्घार्हा भवन्तीति शेषः । के ते (आचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति) आचार्य उपनयनपूर्वकम् वेदाध्यापकः ऋत्विक् श्रौतस्मार्त्तादिकर्मार्थं वृतो ब्रह्मादिः । वैवाह्यो वरः । राजा अभिषेकादि-

गुणवान् प्रजापालनेऽधिकृतः क्षत्रियः। प्रियं उत्कृष्टजातिः समानजातिर्वा सखा। स्नातकः ब्रह्मचर्यात्समावृत्तः आचार्यस्याघ्र्यो नान्यस्य। तथा च मनुः। 'तं प्रतीत स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्चयेत्प्रथमं गवेति'। इत्येते (प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः) प्रतिसंवत्सरमागतानेतान् आचार्यादीन् अर्घेण पूजयेयुः। नार्वाक्। (यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः) यक्ष्यमाणाः यज्ञं करिष्यन्तो यजमानाः ऋत्विजः याजकान् तु पुनः अर्हयेयुरित्यनुषङ्गः। न प्रतिसंवत्सरनियमः। कथमर्हयेयुरित्यपेक्षायामाह (आसनमाहार्याह साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति) आसनं वारणादिदारुमयं पीठादि। आहार्य अनुचरैरानाय्य आह ब्रवीति अर्चकः किमिति। एवं कथं भवान् पूज्यः साधु सुखं यथा भवति तथा आस्तां तिष्ठतु। अर्चयिष्यामः पूजयिष्यामो भवन्तमर्चनीयं यावत्। अर्चयिष्याम इति बहुवचनं भार्यापुत्रादिसर्वगृह्यापेक्षम्। तथा च श्रुतिः। 'यत्र वा अर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या इव वै तत्र चेष्टयन्ति' इति (आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन) आहरन्ति आनयन्ति यजमानपुरुषाः। विष्टरादिमधुपर्कपर्यन्ताभ्यर्हणोपकरणानि तत्र विष्टरं पंचविंशतिदर्भतरुणमयं कूर्चम्। पाद्यं पद्भ्यामाक्रमणीयं उक्तलक्षणं द्वितीयं विष्टरम्। पादार्थमुदकं पादप्रक्षालनार्थं ताम्रादिपात्रस्थं जलं सुखोष्णम्। अर्घं गन्धपुष्पाक्षतकुशतिलशुभ्रसर्षपदधिदूर्वान्वितं सुवर्णादिपात्रस्थमुदकम्। आचमनीम् आचमनार्थं कमण्डलुसम्भृतं जलम्। मधुपर्कं दधिमधुघृतं कांस्यपात्रकृतम् अपरेण कांस्यपात्रेणाच्छादितं (अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि) अन्यः अर्चकादपरः विष्टरो विष्टरो विष्टर इत्येवमेकैकां त्रिस्त्रिः त्रींस्त्रीन्वारान् ब्रूयात् विष्टरप्रभृतीन् पाद्यपादार्थोदकाऽर्घाचमनीयमधुपर्कान् (विष्टरं प्रतिगृह्णाति) प्रत्यङ्मुखेन यजमानेन तिष्ठता दत्तम् आसनात् पश्चिमे प्राङ्मुखस्तिष्ठन्नर्घ्यः पूर्वोक्तलक्षणं विष्टरं तूष्णीं पाणिभ्यामुदगग्रमादत्ते (वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासतीत्येनमभ्युपविशति) वर्ष्मोस्मीति मन्त्रान्ते एवं विष्टरमुदगग्रमासने निधायाभ्युपविशति (पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय) विष्टरे आसीनायाघ्र्यायान्यं विष्टरं यजमानः पूर्ववद् ददाति स च तं पूर्ववत् प्रतिगृह्य प्रक्षालितयोः पादयोरधस्ताद्वर्ष्मोस्मीत्यनेन मन्त्रेण निदधाति (सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति ब्राह्मणश्चेद् दक्षिणं प्रथमं) ततोऽन्येन पाद्यमिति त्रिरुक्ते यजमानार्पितं पाद्योदकमादाय वामं चरणं प्रक्षाल्य इतरं प्रक्षालयति क्षत्रियादित्यर्थः। यदि ब्राह्मणोऽर्घ्यः स्यात्तदा प्रथमं दक्षिणं प्रक्षाल्य वामं प्रक्षालयति (विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति) विराजो दोहसीत्यावृत्तेन मन्त्रेण (अर्घं प्रतिगृह्णाति) ततोऽर्घं इत्येतत्त्रिरुक्ते यजमानदत्तमर्घम् (आपस्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति) आपस्थ युष्माभिरित्यनेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति (निनयन्नभिमन्त्रयते समुद्रं व इति) प्रतिगृहीतमर्घं शिरसाभिवन्द्य निनयन् भूमौ प्रवाहयन् अभिमन्त्रयते समुद्रं व इति मन्त्रेण (आचामत्यामागन् इति) तत आचमनीयमिति त्रिरन्योक्ते यजमानेन दत्तमाचमनीयं प्रतिगृह्याऽमागन्यशसेत्यनेन मन्त्रेणाचामति सकृत्

प्राश्नाति जलम् । ततः स्मार्त्तमाचमनं करोति एवं सर्वत्र (मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते) ततो मधुपर्कं इति त्रिरन्योक्ते यजमानदत्तं मधुपर्कं दक्षिणहस्तेन प्रतिगृह्णाति । (सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्येति) तं मधुपर्कं वामहस्ते निधाय दक्षिणस्य पाणेः अनामिकाङ्गुल्या त्रिवारमालोडयति नमः श्यावास्येति मन्त्रेण (अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति) अनामिका च अंगुष्ठश्च अनामिकाङ्गुष्ठं तेन त्रिवारं निरुक्षयति पात्राद्वहिर्निर्गमयति चकारात्प्रतिसंयमनं निरुक्षणं (तस्य त्रिः प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यमिति) तस्य मधुपर्कस्य एकदेशमेकदेशमादाय यन्मधुनो मधव्यमित्यादिना मन्त्रेण सकृत्प्राश्य पुनरनेनैव मन्त्रेण उच्छिष्ट एव द्वितीयं प्राश्य तृतीयं प्राश्नाति (मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचं) मधुव्वाता इति तिसृभिः प्रत्यृचं प्रतिमन्त्रं वा पूर्ववत्त्रिः प्राश्नाति (पुत्रायांतेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात् सर्वं वान्ते प्राश्नीयात् प्राग्वासंचरे निनयेत्) मधुपर्कस्य शेषप्रतिपत्तिमाह । पुत्राय सूनवे अन्तेवासिने उपनयनप्रभृतिविद्यार्थित्वेन आचार्यकुलवासिने शिष्याय वा । कथंभूताय उत्तरत आसीनाय उच्छिष्टं प्राशितशेषं मधुपर्कं प्रयच्छेत् । अथवा सर्वं भक्षयेत् । यद्वा प्राक् पूर्वस्यां दिशि असञ्चरे जनसंचारवर्जिते देशे त्यजेत् । अत्र पूर्वपूर्वासम्भवे उत्तरोत्तरां प्रतिपत्तिं कुर्यात् (आचम्य प्राणान् संमृशति वाङ्म आस्ये) इत्यादिभिर्मन्त्रैः । तद्यथा । आचमनं सकृन्मन्त्रेण । ततस्त्रिराचम्य एवं सर्वत्र स्मार्त्तमाचमनं कृत्वा प्राणान् इन्द्रियाणि संमृशति सजलमालभते । तद्यथा । आस्येऽस्त्विति मुखं कराग्रेण नसोर्मे प्राणोऽस्त्विति तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां युगपद्दक्षिणादिनासारन्ध्रे । अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्विति अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां युगपच्चक्षुषी । कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति मन्त्रावृत्त्या दक्षिणोत्तरौ कर्णौ । बाह्वोर्मे बलमस्त्विति कर्णवद् बाहू । ऊर्वोर्मे ओजोऽस्त्विति युगपद्धस्तेनोरू । अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्त्विति शिरःप्रभृतीनि पादान्तानि सर्वाण्यङ्गान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभते । (आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह) आचान्तमुदकं येन स आचान्तोदकस्तस्मै अर्घ्याय शासं खड्गं गृहीत्वा यजमानः गौर्गौर्गौः आलभ्यतामिति प्राह ब्रवीति । ततोऽर्घ्यः (प्रत्याह मातारुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट । मम चामुष्य च पाप्मानठं हनोमीति यद्यालभेत) ततोऽर्घ्यः । मातारुद्राणामित्यादि वधिष्टेत्यन्तं मन्त्रं पठित्वा मम चामुकशर्मणो यजमानस्य च पाप्मानं हनोमीति पठति यदि गामालभेत (अथ यद्युत्सिसृक्षेत) अथवा अर्घ्यो यदि गामुत्स्रष्टुमिच्छेत् तदा (मम चामुष्य च) मम चामुकशर्मणो यजमानस्य च (पाप्मा हतः ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयाद्) ओमित्यन्तं उपांशु पठित्वा उत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् इत्यन्तमुच्चैः (नत्वेवामाठंसोऽर्घः स्यात्) तु शब्दः पक्षव्यावृत्तौ । अर्घः अमांसः पश्वालम्भवर्जितो नैव भवेत् । अत्र यद्यालभेत । यद्युत्सिसृक्षेदित्यनेन सूत्रेण गवालम्भस्य विकल्पं विधाय नत्वेवामाठंस इत्यनेन गवालम्भनमर्घपात्रे विधत्ते तथा च सति द्वयोः स्मृत्योर्विरोधे अप्रामाण्ये प्राप्तव्यवस्थामाह (अधियज्ञमधिविवाहं

कुरुतेत्येव ब्रूयात्) अधियज्ञं यज्ञे अधिविवाहं विवाहे। कुरुत विदधत गवालम्भं पाप्मानं हनोमीत्यस्यान्ते इत्येवं वदेत् । अन्यत्र पाप्मा हत इति। पाप्मानठंहनोमिति वा विकल्पः। नान्यत्रेतिभावः। यद्यप्येवं मधुपर्के गवालम्भ आचार्येणोक्तः तथापि अस्वर्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वाच्च कलौ न विधेयः। 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु' इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिषु निषेधदर्शनात् (यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेय न कृतार्घ्या इति श्रुतेः) यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य संवत्सरे असकृत्पुनः पुनः सोमेन ज्योतिष्टोमादिना यजेत तदापि एनं सोमयाजिनं कृतमर्घ्यं कृतोऽर्घो येषां ते कृतार्घ्या एवं सतः याजयेयुर्यज्ञं कारयेयुः। न अकृतार्घ्या याजयेयुरिति श्रुतिवचनात् सोमेन यजेतेत्यनेन सामयागार्थमेव वृता ऋत्विजः अर्घ्या इति गम्यते न यागान्तरार्थम्। इति हरिहरभाष्ये तृतीयकण्डिका ॥ ३ ॥

सरला

१. आचार्य, ऋत्विक्, वैवाह्य (जामाता), राजा, स्नातक और अपने प्रियजन—इन छह पुरुषों को अर्घ प्रदान कर सत्कृत करना चाहिए।

२. वर्ष में एक बार घर आने पर अर्घ प्रदान कर इनका आदर करना चाहिए।

३. यज्ञ सम्पन्न करने वाले यजमान ऋत्विज् को (सदैव) अर्घ दें।

४. (आगन्तुक के लिए भृत्यों से) आसन मँगाकर (आतिथेय अर्चनीय व्यक्ति से) कहे—' आप निःसंकोच भाव से (इस आसन पर) बैठिये : हम आपका पूजन करेंगे।'

५. (आतिथेय के सेवक) विष्टर (२५ कुशों से निर्मित कूर्च), पाद्य (पैर रखने के लिए कूर्च) चरण-प्रक्षालनार्थ (ताम्रादि पात्रस्थ सुखोष्ण) जल, अर्घ (सुवर्णादि के पात्र में गन्ध, पुष्प, चावल, कुश, तिल, श्वेत, सरसों, दही, दूर्वायुक्त जल) आचमनार्थ जल, काँसे के पात्र में रखा हुआ दही, मधु तथा घी (मधुपर्क) जो काँसेसे ही ढका हुआ हो लायें।

६. (पूज्य-पूजकातिरिक्त कोई) अन्य जन विष्टरादि (वस्तुओं का) तीन-तीन वार नामोच्चारण करे (जैसे, विष्टरो, विष्टरो, विष्टरः।

७–८. (आतिथेय द्वारा प्रदत्त) विष्टर को (अतिथि बिना मंत्र पढ़े ही) ले ले (किन्तु) वैठे 'वर्ष्मोऽस्मि 'मंत्र पढकर।

९. (विष्टर पर) आसीन पुरुष को पैर रखने के लिए दूसरा विष्टर दिया जाये।

१०. (पाद-प्रक्षालन करते समय) बायां पैर (पहले) धोकर (तब) दाहिने पैर को धोया जाये।

११. (यदि अर्घ्य पुरुष) ब्राह्मण हो (तो) 'विराजो दोहो (सि....' मंत्र पढ़कर दाहिना पैर पहले धुलेगा।

१२–१२. 'आपः स्थ....' मंत्र पढ़कर (पूजक-प्रदत्त) अर्घ्यं को (पूज्य व्यक्ति) ले ले।

१४. (उसे शिर से अभिवन्दित कर भूमि पर) प्रवाहित करते हुए मंत्र पढ़े: 'समुद्रं वः....' ।

१५. 'आमागन्यशसा....' मंत्र पढ़कर आचमन करे ।

१६. 'मित्रस्य त्वा....' मंत्र पढ़कर (पूज्य पुरुष) मधुपर्क की ओर देखे ।

१७. 'देवस्य त्वा....' मंत्र पढ़कर उसे ले ले ।

१८. 'नमः श्यावास्याय.....' मंत्र पढ़ते हुए दायें हाथ में (मधुपर्क) लेकर दाहिने हाथ की अनामिका उँगली से उसका आलोडन करे ।

१९. अनामिका उँगली अँगूठे से मधुपर्क का कुछ अंश तीन वार बाहर निकाल दे ।

२०. 'यन्मधुनो मधव्यं....' मंत्र पढ़ते हुए तीन बार उसे चाटे ।

२१. अथवा मधुपर्क-प्राशन के समय 'मधुमती...' प्रभृति तीन ऋचायें क्रमशः पढ़े ।

२२. उच्छिष्ट अंश उत्तर की ओर बैठे हुए पुत्र अथवा अन्तेवासी को दे दे ।

२३. अथवा स्वयं ही सारा मधुपर्क खा जाये ।

२४. अथवा पूर्व दिशा में जन-संचार शून्य स्थान पर उसे फेंक दे ।

२५. आचमन करके 'वाङ्म आस्ये....' मंत्र पढ़ते हुए जल से इन्द्रियों का स्पर्श करे ।

२६. आचमन—निवृत्त (पूज्य पुरुष) के प्रति (आतिथेय) खड्ग लेकर 'गौः' (शब्द) का तीन वार उच्चारण करे ।

२७. प्रत्युत्तर में (पूज्य पुरुष) 'माता रुद्राणां....' मंत्र पढ़े; यदि गौ का आलभन (स्पर्श) करे तो कहे :' मैं अपने और इस आतिथेय दोनों के पापों को नष्ट कर रहा हूँ ।'

२८. और यदि स्वच्छन्द-विचरण हेतु उसका उत्सर्ग करना चाहे तो कहे । 'मेरे और आतिथेय के पाप नष्ट हो गये–अब यह गाय उत्सृष्ट है, स्वच्छन्दता से यह तृण भक्षण करे ।'

२९–३०. (उपर गो-आलंभन से सम्बद्ध विविध विकल्पों को देकर पारस्कर पुनः कहते हैं कि, अर्घ तो मांसरहित नहीं हो सकता । अतः यज्ञ और विवाह में गवालम्भ का विधान करना चाहिए ।'

३१. वर्ष में अनेक वार जब-जब सोमयाग करे, तबतब उसके ऋत्विजों को अर्घ प्रदान करना चाहिए क्योंकि श्रुति का कथन ही है—कृतार्घ्य से ही यज्ञ करना चाहिए ।

टिप्पणी—९. ओल्डेनबर्ग ने 'वैवाह्य' का अर्थ श्वशुर किया है—शां० गृ. सू. (२. १५. १) पर उनकी टिप्पणी है—This Sutra presupposes the श्रौतसूत्र (४. २१. १) Here the fourth person mentioned is श्वसुर; while in the गृह्य text the expression वैवाह्य is used. It

is difficult not to believe that both words are used in the same sense, and accordingly Narayan says श्वसुर."

—(सैकेडवुक्स ऑव इष्ट ग्रन्थमाला का गृह्यसूत्र खण्ड)

यह अर्थ अशुद्ध है। परम्परा और प्रयोग से सिद्ध है कि विवाह इत्यादि में वर को ही अर्घ दिया जाता है, इसीलिये प्राचीन भाष्यकारों ने 'वैवाह्य' का अर्थ जामाता किया है। नारायण श्रौतसूत्र के अधिकारी भाष्यकार हैं; गृह्यसूत्र के नहीं। श्रौतसूत्र का कार्यक्षेत्र पृथक् है—वहां कुछ भी अर्थ क्यों न हो, गृह्यसूत्र में वह ग्राह्य नहीं हो सकता

२. 'खादिर गृह्यसूत्र' गत 'विष्टरमास्तीर्य' के आधार पर 'पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय' का अनुवाद—"With the feet (he threads) on the other bundle of grass" भी अनुपयुक्त है। 'विष्टर' 'घास का गठ्ठर' नहीं होता। विष्टर का लक्षण है—

पञ्चाशता भवेद्ब्रह्मा तदर्धेन तु विष्टरः।
ऊर्ध्वकेशो भवेद्ब्रह्मा लम्बकेशस्तु विष्टरः॥'

या—

'दक्षिणावर्तब्रह्मा च वामावर्तस्तु विष्टरः।'

अथवा—

'पञ्चविंशति दर्भाणां वेण्यग्रे ग्रन्थिभूषिता।
विष्टरे सर्वयज्ञेषु लक्षणं परिकीर्तितम्॥'

२५. कुशों से विष्टर बनता है—वह वामावर्त होना चाहिए।

३. मधुपर्क—'वरस्य या भवेच्छाखा तच्छाखागृह्यचोदितः।
मधुपर्कः प्रदातव्यो ह्यन्यशाखेऽपि दातरि॥'—(गृह्यपरिशिष्ट)

—वर जिस शाखा का अध्यायी हो, उसी शाखा के गृह्यसूत्र में बताई गई विधि से उसे मधुपर्क देना चाहिए—भले ही दाता की अन्य शाखा हो।

किन्तु याज्ञिक-परम्परा यह नहीं मानती, तदनुसार तो कर्म जिस शाखा के अनुसार हो रहा हो, उसी शाखा की पद्धती से मधुपर्क दिया जायेगा।

मधुपर्क में उच्छिष्ट का विचार भी नहीं होता—

'मधुपर्के च सोमे च अप्सु प्राणाहुतिषु च।
नोच्छिष्टस्तु भवेद्विप्रो यथाऽत्रेर्वचनं यथा॥'

मधुपर्क प्रायः दहीं, मधु और घृत को मिलाकर बनाया जाता है। गदाधर का मत है कि दहीं न मिलने पर उसके स्थान पर दूध अथवा जल मिलाकर भी मधुपर्क तैयार किया जा सकता है। आश्वलायन के अनुसार मधु न मिलने पर घी अथवा गुड़ मिलाया जा सकता है।

४. गवालंभन। 'आलंभन' शब्द का अर्थ बड़ा विवादास्पद है। कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर और विश्वनाथ में से किसी ने भी इसकी व्याख्या नहीं की। वी. एस्. आप्टे के कोश में इसके ये अर्थ दिए गए हैं—१. पकड़ना २. कब्जा करना ३. छूना ४. मार डालना। यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि किस अर्थ का ग्रहण किया जाये ? पठ्यमान मन्त्र बध का निषेध करता है, उससे तो गोरक्षा का महत्व ज्ञापित होता हैं।

'पराशर–स्मृति' में कलियुग में गवालंभन कर्म वर्जित घोषित किया गया है—

'यज्ञावानं गवालंभं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥'

हरिहर ने भी इसका समर्थन किया है—

'यद्यप्येवं मधुपर्के गवालम्भ आचार्येणोक्तः तथापि अस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्धिष्टत्वाच्च कलौ न विधेयः।'

याज्ञवल्क्य प्रभृति अन्य स्मृतिकारों ने भी इसका निषेध किया है।

जयराम का मत है कि गाय के स्थान पर उसके प्रतिनिधि रूप में किसी अन्य पशु अथवा पायस का पशु बनाकर उसका आलम्भन कर देना चाहिए। गदाधर भी इससे सहमत हैं, उनके अनुसार गाय के स्थान पर अजालम्भन किया जा सकता है।

इस समस्या का सामना पद्धतिकारों को भी करना पड़ा। 'संस्कारदीपक' में इसकी प्रतिध्वनि यों हुई—"अन्त्य एव पक्षो ग्राह्य इति पद्धतिकृद्भिस्तदनुसारेणैव प्रयोगो लिखितः। अतएव गोसंमुखीकरणकाले सूत्रोपदिष्टमपि खड्गादानं 'गौर्गौर्गौ-रिति वाक्यशेषत्वेन भाष्यादिलिखितमप्यालभ्यतामिति वाक्यं पद्धतिकारैरुपेक्षितम्—अर्थलोपेन तद्बाधात्।'

इस सम्पूर्ण प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पारस्कर के काल में ही गवालंभन की निन्दा होने लगी थी, २६ वां सूत्र इसीलिए अपूर्ण है, उसमें 'गौः आलभ्यताम्' का स्पष्ट उल्लेख ही नहीं हैं। 'आलभ्यताम्' शब्द तो है ही नहीं। वह आया आगे २७ वें सूत्र के अन्त में, और उसके पहले भी 'यदि' लगा है जो इस सारे प्रकरण को बड़ा सन्दिग्ध बना देता है। पारस्कर यहाँ कुछ दबकर बोलते दिखाई देते हैं—वे स्पष्ट रूप से किसी भी पक्ष का समर्थन नहीं कर पा रहे हैं।

५. २९ वें सूत्र का उपर्युक्त अर्थ से भिन्न अर्थ भी किया जाता है, जो यों है—'ऐसा नहीं अर्थात् विवाह और यज्ञ में प्रयुक्त अर्घ मांसरहित नहीं, समांस ही होना चाहिए।'

६. 'संस्कार दीपक' कार तथा रामदत्त आदि कुछ पद्धतिकारों के अनुसार 'गौः' शब्द का तीन बार उच्चारण नाई को करना चाहिए, जैसा कि 'गोभिल गृह्यसूत्र' में कहा गया है—'आचान्तोदकाय नापितस्त्रिब्रूयात्।'

यद्यपि पारस्कर ने इसका उल्लेख नहीं किया है तथापि अपनी शाखा के विरुद्ध न होने के कारण इसे मान लेने में कोई दोष नहीं है—

'यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत् ।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥'

मंत्रार्थ

१. वर्ष्मोऽस्मिसमानानामुद्यतामिव सूर्यः ।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चिदभिदासति ॥

ऋषि अथर्वण, अनुष्टुप् छन्द, विष्टर देवता ।

—अपने सजातीयों के मध्य मैं उसी प्रकार से श्रेष्ठ बनूं, जैसे उदीयमान नक्षत्रादि के मध्य सूर्य श्रेष्ठ है । इस आसन पर मैं उसे अभिभूत कर बैठता हूं जो मुझे उपक्षीण करने की कामना मन में संजोये है ।

२. विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय ।
मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥

ऋषि प्रजापति, यजुष, जलदेवता ।

हे जलाभिमानी देव ! तुम जिस अन्न-रस या विशिष्ट दीप्ति से परिपूर्ण हो, वह मुझमें भी व्याप्त करो । अपनी पद-परिचर्या के निमित्त मैं अभिमन्त्रित जल का प्रयोग करता हूं ।

३. आपः स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानि ॥

ऋषि प्रजापति, जलदेवता, यजुष् ।

हे जलाभिमानी देव ! आप स्थिर हों, जिससे मैं आपकी कृपा से अपने सम्पूर्ण मनोरथों की सिद्धि कर सकूं ।

४. समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत ।
अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचिमत्पयः ॥

ऋषि अथर्वण, अनुष्टुप् छन्द, जलाभिमानी देव—हे जलाभिमानी देव ! आपने हमारे मनोरथों को सम्पन्न कर दिया है, अतः अब हम आपको पुनः आपके उद्गम केन्द्र समुद्र में भेजते हैं—आप वहां निश्चिन्त होकर जायें । आप की कृपा से हमारे पुत्र-पौत्र और बन्धु-बान्धव सदैव स्वस्थ तथा सानन्द रहें । मुझे कभी अधंगत जल का अभाव न हो—मैं सदैव इसी प्रकार से आदर प्राप्त करता रहूं ।

५. आमागन्यशसा संसृज वर्चसा । तं मा कुरु प्रियं
प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ॥

ऋषि परमेष्ठी, बृहती छन्द, वरुण। हे जलेश वरुण ! आप मुझे यशस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी बनायें, आपकी कृपा से मैं समाज में लोकप्रिय और पशु-धन का स्वामी बनूँ—मेरे शारीरिक अवयव सर्वथा स्वस्थ रहें।

६. मित्रस्य त्व···· ।

ऋषि प्रजापति, पङ्क्ति छन्द, मित्र देव। (पूर्ण मंत्र और अर्थ परिशिष्ट में देखिये)

७. देवस्य त्व········।

ऋषि परमेष्ठी, गायत्री, सूर्य।

८. नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ।

ऋषि प्रजापति, यजुष्, सविता।

हे कपिशमुख, अन्नाशन अग्निदेव ! तुम्हें प्रणाम। तुममें जो कुछ अशुद्ध है, वह मैं बाहर निकालता हूँ।

९. यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि ।।

ऋषि कुत्स, जगती छन्द, मधुपर्क देव। देवगण !

हे देववृन्द ! इस मधु में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, देह को रूपवान बनानेवाला है, अन्न के सदृश प्राणधारक है, उससे मैं सर्वाधिक गुणवान् होकर मधुपर्क का अधिकारी और उत्तम अन्न का भोक्ता बनूँ।

१०–१२. 'मधुमती....' प्रभृति तीन ऋचायें ।

—ऋषि गौतम, गायत्री छन्द, विश्वेदेव।

(द्रष्टव्य : परिशिष्ट)

१३. वाङ् म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाहुबलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह ।।

—मेरी वाणी, नासिका, प्राणवायु, नेत्रगोलक, नेत्रेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय, बाहु, और जंघायें सबल तथा सतेज रहें; मेरे समस्त अंग स्वस्थ रहें—इस प्रकार से मेरी देह अवयवों के साथ निरुज रहे।

१४. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट ।।

ऋषि ब्रह्मा, त्रिष्टुप् छन्द, गौ देवता।

—यह गाय रुद्रों की मा:, वसुओं की पुत्री, और आदित्यों की भगिनी है; इसकी नाभि में अमृतोपम क्षीर निहित है। मेरा कथन है कि मुझ सदृश एक क्षुद्र प्राणी को तुष्ट करने के लिए इस निपराध, और अखण्डनीया देवजननी का वध मत करो।

चतुर्थकण्डिका

चत्वारः पाकयज्ञा हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति ॥ १॥ पञ्चसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन इति ॥ २ ॥ उपलिप्तऽउद्धृतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय ॥३॥ निर्मंथ्यमेके विवाहे ॥ ४ ॥ उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात् ॥ ५ ॥ त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु ॥ ६ ॥ स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा ॥ ७ ॥ तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण ॥ ८ ॥ द्वे राजन्यस्य ॥ ९ ॥ एका वैश्यस्य ॥ १० ॥ सर्वेषाᳬशूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम् ॥ ११ ॥ अथैनां वासः परिधापयति जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टिनामभिशस्तिपावा शतं च जीव शरदः सुवर्च्चा रयिं च पुत्राननुसव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति ॥ १२ ॥ अथोत्तरीयम् । या अकृतन्न वयं या अतन्वत याश्च देवीतन्तूनभितो ततंथ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासऽइति ॥ १३ ॥ अथैनौ समञ्जयति । समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातुनाविति ॥ १४ ॥ पित्राप्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा हिरण्यवर्णो वै कर्णः सत्वा मन्मनसां करोत्विति असाविति ॥ १५ ॥ अथैनौ समीक्षयति । अघोरचक्षूरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामास्योनाशन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽअग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजः सोमोऽददद्‌गंधर्वाय गंधर्वोऽदददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्! सा नः पूषा शिवतमा मै रयसा नऽऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामुकामा बहवो निविष्टया इति ॥ १६ ॥ ॥ ४ ॥

हरिहरभाष्यम्

(चत्वारः पाकयज्ञाः)। पच्यते श्रप्यते ओदनादिकमस्मिन्नति पाको गृह्याग्निः तस्मिन् पाके नान्यत्रेति भावः। पाके यज्ञाः पाकयज्ञाः यतः 'वैवाहिकेऽग्नौ कुर्व्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधि। पंचयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही' इति मनुना दैनन्दिनपाको गृह्येऽग्नौ स्मर्यते ते चत्वारः चतुर्विधा भवन्ति कथम् (हुतोहुतः प्रहुतः प्राशित इति) तत्र हुतः होममात्रं यथा सायंप्रातर्होमः। अहुतः होमवलिरहितं कर्म यथा स्रस्तरारोहणम्। प्रहुतो यत्र होमो बलिकर्मभक्षणं च। यथा पक्षादिकर्म। प्राशितः यत्र प्राशनमात्रं न होमो न बलिः। यथा सर्वासां गवां पयसि पायसश्रपणानन्तरं ब्राह्मणभोजनमित्थं चतुर्विधः (पंचसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते-

सीमन्तोन्नयने) पञ्चसु संस्कारकर्मसु बहिःशालायां गृहाद्बहिःशाला बहिःशालामण्डप इति यावत् । तस्यां कर्म भवति । यथा विवाहे परिणयने चूडाकरणे क्षौरकर्मणि उपनयने मेखलाबन्धे केशान्ते गोदानकर्मणि सीमन्तोन्नयने गर्भसंस्कारे एतेषु पञ्चसु बहिःशालायामनुष्ठानम् । अन्यत्र गृहाभ्यन्तरे मुखशालायामेव (उपलिप्त उद्धृतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय) उपलिप्ते गोमयोदकेन । उद्धृते । स्फ्येनोल्लिखितेनेति तिसृभीरेखाभिः अवोक्षिते उदकेनाभ्युक्षिते बहिःशालागृहयोः अन्यतरस्मिन् प्रदेशे अग्निमुपसमाधाय । अग्निं लौकिकमावसथ्यं वा । उपसमाधाय स्थापयित्वा । अयं च लेपनादिविधिर्नापूर्वः अपि तु परिसमुह्येत्यादिपूर्वोक्तस्यैवानुवादः ततश्चात्रानुक्तमपि परिसमूहनमुद्धरणं च सर्वत्र भवति एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इति वचनात् (निर्मंथ्यमेके विवाहे) एके आचार्याः विवाहे पाणिग्रहे निर्मंथ्यमारण्येयमग्निं वैवाहिकहोमादिकरणमिच्छन्ति । अथ विवाहाख्यं कर्माह (उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात्) उदगयने मृगादिराशिषट्कांस्यते रवौ आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे पुण्याहे ज्योतिःशास्त्रोक्तविष्ट्यादिदोषरहिते । कुमार्याः अनन्यपूर्विकायाः कन्यायाः अनेन विंशतिप्रसूतायाः स्मृत्यन्तरविहितस्य पुनर्विवाहस्यानियमः । इच्छा चेत्करोति । पाणिं गृह्णीयात् पाणिं हस्तं स्वगृह्योक्तविधिना गृह्णीयात् । अस्मिन्नयनपक्षदिनानि नियम्य नक्षत्रनियममाह (त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा) उत्तरा आदिर्येषां तान्युत्तरादीनि तेषु कतिषु त्रिषु त्रिषु तथाहि उत्तराहस्तचित्रा इति त्रीणि उत्तराश्रवणधनिष्ठा इति त्रीणि । तथा उत्तरारेवत्यश्विन्य इति त्रीणि । स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा । एतेषां नक्षत्राणामन्यतमे इत्यर्थः । कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात् इति सामान्येनोक्तं तत्र विशेषमाह (तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण द्वे राजन्यस्यैका वैश्यस्य) ब्राह्मणस्य द्विजाग्र्यस्य वर्णानुपूर्व्येण वर्णक्रमेण तिस्रः । ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या विवाह्या भवन्ति । द्वे क्षत्रियावैश्ये राजन्यस्य विवाह्ये भवतः एका वैश्यैव वैश्यस्य विवाह्या भवति वर्णानुपूर्व्यग्रहणात् व्युत्क्रमो निषिद्धः (सर्वेषाꣳ शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्) ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रामप्येके विवाह्यां मन्यते । तत्र विशेषः । मन्त्ररहितं यथा भवति तथा अत्र द्विजातीनामपि शूद्रापरिणयने आचार्येण मन्त्रवत् क्रियानिषेधात् अतः शूद्रस्य शूद्रापरिणयने मन्त्रवत् क्रिया नास्ति किंतु मंत्ररहितं क्रियामात्रमिति गम्यते ! ततश्च शूद्रस्य शूद्रापरिणयने यन्मंत्रवद्धोमादि कर्म कुर्वन्ति तदशास्त्रीयम् । एके न मन्यन्ते शूद्राविवाहम् । कुतः । शूद्रायाः धर्मकार्येष्वनधिकारात् । कुतो नाधिकार इति चेत् । रामारमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीयेति निरुक्तकारयास्काचार्याः इतिवचनात् । अतो रमणार्थं शूद्रापरिणयनपक्षे ! एवं सति षण्मासदीक्षासंवत्सरदीक्षानन्तरमग्निं चित्वा प्रथमं न रामामुपेयात् । इति निषेध उपपद्येत प्राप्तं हि प्रतिषेधस्य विषयः । यदि रामोढा न स्यात् तदा अग्निचितः कथं तत्प्रथमगमनं प्रतिषिध्येत । तस्माच्छूद्रापरिणयनं भोगार्थमिच्छया कुर्वतो न शास्त्रातिक्रमः धर्मप्रजापत्यर्थौ हि विवाहः प्रासंगिकमभिधाय इदानीं प्रकृतमाह । तत्र पुण्येऽहनि (अथैनां वासः परिधापयति जरां गच्छ परिधत्स्व वासो

भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वा-युष्मतीदं परिधत्स्व वास इति) अथाग्निस्थापनानन्तरं एनां कुमारीं वासः अहतं सदशं वस्त्रं परिधापयति परिहितं कारयति वरः । जरां गच्छेति मन्त्रं पठित्वा । कुमारी च स्वयं परिधत्ते (अथोत्तरीयं या अकृतन्न वयं या अतन्वत । याश्च देवीस्तंतूनभितोऽततंथ तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति) अथ वस्त्रपरिधानानन्तरं उत्तरीयं वासः परिधापयति वरः । या अकृंतन्निति मन्त्रमुक्त्वा अत्र परिधापयतीति णिजन्तस्य चरितार्थत्वात् । परिधत्स्व वास इति मन्त्रस्यापि तदर्थत्वात् परिधाप-यितान्य इव गम्यते स किं वरः अध्वर्युर्वा इति संशयः । तत्राध्वर्युः कर्मसु वेदयोगादिति परिभाषाबलात् । अध्वर्युः परिधापयितेति चेत् । तन्न । स्मार्त्तेषु कर्मसु अध्वर्योः कर्त्तृ-त्वयोगाभावात् । समाख्यया हि अध्वर्योः कर्मसु योगः समाख्या च वेदयोगात् । न च स्मृतिर्वेदः । स्मरणादेव स्मृतीनां प्रामाण्यात् न पुनर्वेदमूलत्वेन । अतः समाख्याया अभावात् स्वयं कर्त्तृत्वं पाकयज्ञेषु अतो वर एव परिधापयिता । ननु पूर्णपात्रो दक्षिणा-वरो वेति पाकयज्ञेषु परिक्रियार्था दक्षिणा श्रूयते । सा च दक्षिणा परिक्रेतव्याभावेनोप-पद्यते । अतस्तदन्यथानुपपत्त्या अन्यस्य कर्त्तृत्वं कल्प्यताम् । नैतदेवम् अन्यस्य ब्रह्मणः परिक्रेतव्यस्य कर्त्तुर्विद्यमानत्वात् परिक्रयार्थदक्षिणाश्रवणस्योपपत्तेः । किंच । वचना-भावे परः परस्य कर्म कर्तुं न प्रवर्त्तते । नात्र वचनमस्ति पाकयज्ञेषु स्वतोऽन्यकर्त्तृत्व-विधायकम् । श्रौतवत्समाख्याऽपि नास्ति । ननु स्मृतीनां वेदमूलत्वात् यद्वेदमूलं स्मार्त्तं कर्म तद्वेदसमाख्यया अन्यस्य कर्त्तृत्वं कल्प्यतां, मैवं यतः स्मृतयोऽनिश्चितवेदमूलाः । अतो न ज्ञायते किं वेदमूलमिदं कर्म । यद्वेदसमाख्यया अन्यः कर्त्ता कल्प्यते । मन्त्रलिंग-विरोधोऽपि परकर्त्तृत्वे कथं सामामनुव्रता भव । प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् । अमोह-मस्मीत्यादि सा नः पूषा शिवतमेत्यादयो वैवाहिकमन्त्राः आत्मलिंगाः ते च परकर्तृत्वे विरुध्यन्ते । तस्मात् पाकयज्ञेषु स्वयं यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति सिद्धम् । अत्र वरोऽपि वाससी परिधत्ते न परिधास्यै यशसामेति मन्त्राभ्यां (अथैनौ समंजयति समंजन्तु विश्वेदेवाः समापोहृदयानि नौ संमातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नाविति) अथ वस्त्रपरिधानानन्तरं परस्परं समंजेथामिति प्रेषेण कन्यापिता एनौ वधूवरौ समञ्जयति सम्मुखौ करोति । अत्र विशेषमाह ऋष्यशृंगः—"वरगोत्रं समुच्चार्य प्रपितामहपूर्वकम् । नाम संकीर्त्तयेद्विद्वान् कन्यायाश्चैवमेव हि" तत्र वरः समंजंतु विश्वेदेवा इत्यादिकं मन्त्रं कन्यासंमुखीभूतः पठति । अत्र कन्यादानप्रयोगो लिख्यते । उत्तरत्र पित्रा प्रत्ता इति सूत्रस्मरणात् तद्यथा अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्राय अमुकगोत्रस्या-मुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पौत्राय अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः पुत्राय इति वरपक्षे । अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्यामुकशर्मणः प्रपौत्रीम् अमुकगोत्रस्यामुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पौत्रीम् । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पुत्रीम् इति कन्यापक्षे । एवमेव पुनर्वारद्वयमुच्चार्य अमुकगोत्राय अमुकप्रवराय अमुकशर्मणे ब्राह्मणाय इति ब्राह्मणवरपक्षे । इतरवरपक्षे वर्मणे अमुकगुप्ताय अमुकदासयेति विशेषः । अमुकगोत्राम्

अमुकप्रवराम् अमुकनाम्नीमिमां कन्यां प्रजापतिदेवतां यथाशक्त्यलंकृतां पुराणोक्तां कन्यादानफलकामो भार्यात्वेन तुभ्यमहं संप्रददे इति सकुशेन जलेन कन्याहस्तं वरस्य हस्ते दद्यात्। वरश्च द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्विति मन्त्रेण प्रतिगृह्णीयात्ततः कोदादिति कामस्तुतिं पठेत्। ततः कन्यापिता कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठासिद्ध्यर्थं सुवर्णं गोमिथुनं च दक्षिणां दद्यात्। अत्राचारादन्यदपि यौतकत्वेन सुवर्णरजतताम्रगोमहिष्यश्च ग्रामादि कन्यापिता यथासंभवं ददाति। अन्येऽपि बान्धवादयो यथासंभवं यौतकं प्रयच्छन्ति। केचन यौतकं होमान्ते प्रयच्छन्ति। अत्र देशाचारतो व्यवस्था। (पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति ॥ यदैषीति) पित्रा जनकेन प्रत्तां संकल्प्य दत्तामादाय प्रतिग्रहविधिना प्रतिगृह्य गृहीत्वा हस्ते धृत्वा निष्क्रामति गृहमध्यात्। मण्डपाद्वा। अग्निसमीपं गंतुम्। यदैषि मनसेत्यादिना मन्त्रेण कृणोत्वसुकि देवि इत्यन्तेन। अत्र पित्रेत्युपलक्षणम्! "पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा। कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः" इति याज्ञवल्क्येन अन्येषामपि कन्यादाने अधिकारस्मरणात् (अथैनौ समीक्षयति अघोरचक्षुरित्यादि) अथ निष्क्रमणानन्तरमेनौ वधूवरौ परस्परं समीक्षेयामिति प्रैषेण कन्यापिता समीक्षयति समीक्षणं कारयति। तत्र समीक्षमाणो वरः। अघोरचक्षुरित्यादीन् निविष्टया इत्यन्तान्मन्त्रान्पठति। इति हरिहरभाष्ये चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

सरला

१. पाकयज्ञ चार हैं—हुत (केवल होम, यथा सायं-प्रातः कालीन अग्निहोत्र), आहुत (यथा स्रस्तरारोहण—होमविहीन), प्रहुत (होम और बलिहरण दोनों, यथा पक्षादि कर्म), प्राशित (केवल प्राशन, यथा ब्राह्मण-भोजन)।

२. विवाह, चूडाकरण, उपनयन, केशान्त और सीमन्तोन्नयन—इन पाँच (संस्कारों) में घर के बाहर बने मण्डप में (अग्नि-स्थापना होनी चाहिए)।

३. (प्रथम कण्डिकोक्त परिसमूहन-) उपलेपनादि पंचभू-संस्कार पूर्वक अग्न्याधान कर (यथाभिमत अनुष्ठान करे)।

४. कुछ (आचार्यों) के अनुसार विवाह में अरणि—मन्थनजन्य अग्नि होनी चाहिए)

५. सूर्य के उत्तरायण होने पर, शुक्लपक्ष में (ज्योतिष शास्त्रोक्त) शुभ दिन कुमारी कन्या का पाणि—ग्रहण करना चाहिए।

६. 'उत्तरा' से प्रारम्भ तीन-तीन नक्षत्रों (यथा—१. उत्तराफाल्गुन, हस्त, चित्रा, २. उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा तथा ३. उत्तराभाद्रपद, रेवती और अश्विनी (पाणिग्रहण शुभ है)

७. अथवा स्वाति, मृगशिरा और रोहिणी (नक्षत्रों) में (भी पाणिग्रहण हो सकता है)।

८. वर्णों के अनुलोमक्रम से ब्राह्मण के तीन (विवाह हो सकते हैं—ब्राह्मणः क्रमशः ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा वैश्य-कन्या से विवाह कर सकता है।)

९–१०. क्षत्रिय के दो और वैश्य का केवल एकविवाह (हो सकता है ।)

११. कुछ (आचार्यों) के अनुसार सभी (वर्णों के पुरुष) शूद्र-कन्या से भी मन्त्ररहित (विवाह कर सकते हैं) ।

१२. 'जरां गच्छ'…मंत्र पढ़कर (वर) कन्या को वस्त्र पहनाये । (वर केवल वस्त्र प्रदान करे) नाईन की सहायता से कन्या स्वयं पहने ।

१३. तदनन्तर (उसी विधि से) 'या अकृन्तन'……मंत्र पढ़कर उत्तरीय (वस्त्र पहनाये) !

१४. तदुपरान्त (कन्या का पिता) वर-कन्या दोनों का ('परस्परं समञ्जेथाम्' प्रैष पढ़कर) सम्मुखीकरण करायें; (वर) मन्त्र (पढ़े) —'समञ्जन्तु…' ।

१५. (कन्यादान ।) पिता के द्वारा (दान विधि से) प्रदत्त कन्या को (दान-विधि से ही) ग्रहण कर (अग्नि के समीप जाने के लिए) 'यदैषि'…मन्त्र पढ़ते हुए (वर घर या मण्डप से) निकले ।

१६. तदुपरान्त (कन्या का पिता) दोनों का ('परस्परं समीक्षेथाम्' प्रैष पढ़कर) समीक्षण करायें; (वर) मन्त्र (पढ़े—)—'अघोर…' ।

टिप्पणी—१. पाक = पच्यते श्रप्यते ओदनादिकमस्मिन् इति पाकः अर्थात् गृह्याग्नि । गृह्याग्नि में ही हुतप्रभृति चारों यज्ञ होंगे—

'वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधिं ।
पञ्चयज्ञविधानं च पंक्ति चान्वाहिकीं गृही ॥'

—मनुस्मृति ३।६७।

२. शूद्रा-विवाह के विषय में निरुक्तकार यास्क का कथन है—'रामा रमणायोपेयते न धर्माय कृष्णजातीया इति ।'

३. हरिहर ने प्रश्न उठाया है कि कन्या को वर वस्त्र पहनायें या अध्वर्यु ? इसका निर्णय यह है । वर ही पहनायेगा क्योंकि स्मार्त्त कर्मों में अध्वर्यु की आवश्यकता नहीं होती ।

४. ज्येष्ठ पुत्र-पुत्रियों का विवाह मार्गशीर्ष तथा ज्येष्ठ में होना अशुभ है, उसे सप्रयत्न रोकना चाहिए—मार्गशीर्षे तथा ज्येष्ठे क्षौरं परिणयं व्रतम् । ज्येष्ठपुत्रदुहित्रोश्च यत्नतः परिवर्जयेत् । '

मंत्रार्थ

१. जरां गच्छ परिधत्स्व वासो
भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा ।
शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्रानन्तु-
संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

ऋषि प्रजापति, त्रिष्टुप्छन्द, तन्तुदेवियाँ— हे कन्ये ! तुम मेरे साथ निर्दोष वृद्धावस्था तक रहो, इस वस्त्र को पहनो, मनुष्यों को अभिशाप से बचाओ। पातिव्रत्य के तेज से युक्त होकर १०० वर्ष की आयु भोगो; पुत्रों को उत्पन्न कर धनराशि का संग्रह करो ! हे आयुष्मति! इस वस्त्र को पहन लो।

२. या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत ।
याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

ऋषि प्रजापति, गायत्री, वस्त्रविधात्री देवियां—हे आयुष्मति! जिन देवियों ने इस उत्तरीय वस्त्र को काता है, बुना है, फैलाया है और जिन देवियों ने करघे पर इसका चतुर्धा विस्तार किया है, वे तुम्हें निर्दुष्ट वृद्धावस्था के लिए इसे पहनने की अनुमती दे रही हैं, तुम इसे पहन लो।

३. समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ ।
संमातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥

ऋषि अथर्व, अनुष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता—हे कन्ये ! हमारे हृदयों को समीचीन रीति से विश्वेदेव, जलदेव, मातरिश्वा, प्रजापति और धर्मादि की उपदेशिका वाणी संस्कृत करे, सुस्थिर करे !

४. यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा ।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोत्वित्यसौ ॥

अथर्वा, अनुष्टुप्, पवमान।

हे कन्ये ! जो तुम्हारा मन पितृ गृह से दूर, बहुत दूर प्राची प्रभृति दिशाओं में वायु के सदृश चला जाता है, उसे वे वायुदेव केवल मुझमें केन्द्रित करें जो हिरण्यपर्ण और कर्णाश्रित हैं।

५. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवकामास्योनाशन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे । सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः । सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये । रयिं च पुत्रांश्चा-दादग्निर्मह्यमथो इमाम् । सा नः पूषा सा न ऊरू उशती विहर । यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामुकामा बहवो निविष्ट्यै ॥

ऋषि प्रजापति, द्वितीय मंत्र अनुष्टुप् तथा शेप त्रिष्टुप्, कुमारीदेवता।

हे कन्ये ! तुम सौम्यदृष्टि, अपतिघातिनी, तथा पशुओं के लिए कल्याणमयी, प्रसन्नचित्त और तेजोमयी हो; वीरपुत्र को जन्म दो, देवताओं की प्रिय बनो; पशुओं और मनुष्यों दोनों के लिए सुखकर और कल्याणकारिणी सिद्ध हो।

हे कन्ये ! तुम्हें सर्वप्रथम जन्म-दिन पर सोम ने प्राप्त किया; उसके ढाई वर्ष के अनन्तर गन्धर्व-सूर्य ने प्राप्त किया; उसी समय अग्नि तुम्हारे तीसरे पति हुए और अब मनुष्ययोनि में उत्पन्न मैं तुम्हारा चतुर्थ पति हूँ।

सोम ने गन्धर्व को तुम्हें प्रदान किया, गन्धर्व ने अग्नि को और तदनंतर पुत्रों और धनसंपत्ति के साथ अग्नि ने अब मुझे प्रदान किया है।

हमसे सुख और धन की कामना करती हुई तुम अपनी जंघायें फैलाओ; उसमें हम सायुज्य मुक्ति हेतु पुत्र और रतिजन्य आनन्द की चाह से अपने शिश्न को प्रविष्ट करायें।

पञ्चमकण्डिका

प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके ॥१॥ पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्योपविशति ॥ २ ॥ अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यꣳस्विष्टकृच्च ॥ ३ ॥ एतन्नित्यꣳ सर्वत्र ॥ ४ ॥ प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः ॥ ५ ॥ सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यांतरमेतदावापस्थानं विवाहे ॥ ६ ॥ राष्ट्रभृतइच्छञ्जयाभ्यातानांश्च जानन् ॥ ७ ॥ येन कर्मणेर्त्छेदितिवचनात् ॥ ८ ॥ चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शक्करीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च वृहच्च रथंतरं च प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु ॥ तस्मै विशः; समनमंत सर्वाः सउग्रः सइहव्यो बभूव स्वाहेति ॥ ९ ॥ अग्निर्भूतानामधिपतिः समावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां यमः पृथिव्या वायुरंतरिक्षस्य सूर्यो दिवश्चन्द्रमानक्षत्राणां बृहस्पतिर्ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां वरुणोऽपाꣳसमुद्रः स्रोत्यानामन्नꣳसाम्राज्यानामधिपतिस्तन्मावतु सोम ओषधीनाꣳ सविता प्रसवानाꣳ रुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां विष्णुः पर्वतानां मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः। इह मावन्त्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन् क्षेत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहेति सर्वत्रानुषजति ॥ १० ॥ अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳसोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्नरोदात्स्वाहा इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः अशून्योपस्था जीवतामस्तुमाता पौत्रमानं दमभिविबुध्यतामियꣳस्वाहा स्वस्ति नो अग्ने दिव आ पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथायजत्र यदस्यां महिदिर्वि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳस्वाहा ॥

सुगन्नुपंथाप्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्येह्यजरन्नऽआयुः अपैतु मृत्युरमृतन्नआ-गाद्वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहेति ॥ ११ ॥ परं मृत्यविति चैके प्राशनांते ॥ १२ ॥

हरिहरभाष्यम्

(प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयै) एके आचार्याः अग्नेः प्रदक्षिणं कारयित्वा वासः परिधानं समंजनं समीक्षणं च मन्यन्ते, एके न मन्यन्ते । ततो विकल्पः (पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्योपविशति) समीक्षणानन्तरं अग्निम् प्रदक्षिणीकृत्याग्नेः पश्चिमतः प्राङ्मुख उपविशति । दक्षिणतो वधूः । किं कृत्वा दक्षिणपादेन तेजनीं तृणपूलिकां कटं वा तृणमयं स्रस्तरं प्रवृत्य प्रक्रम्य उल्लंघ्येत्यर्थः । दक्षिणपादेनोल्लंघयन् चलन् चलित्वा उभयोः संस्कार्यत्वात् सवधूकः (अन्वारब्धआघारावाज्यभागौ महाव्या-हृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यठं स्विष्टकृच्चैतन्नित्यठं-सर्वत्र) अत्र वैवाहिकहोमप्रसंगेन सर्वकर्मसाधारणीं परिभाषां करोत्याचार्यः तद्यथा । ब्रह्मणा दक्षिणे बाहौ दक्षिणहस्तेन अन्वारब्धे कर्तरि । आधारसंज्ञके आज्याहुती । यथा मनसा प्रजापतय स्वाहा इदं प्रजापतये । मनसा त्यागमपि । इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय । आज्यभागौ आज्यभाग-संज्ञकौ होमौ यथा । अग्नये स्वाहा । इदमग्नये । सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय । महाव्याहृतयः । भूराद्यास्तिस्रो यथा । ॐ भूः स्वाहा । इदमग्नये । इदं भूर्वा इति त्यागः । तथैव भुवः स्वाहा इदं वायवे इदं भुव इति वा । स्वः स्वाहा इदं सूर्याय इदं स्व इति वा । सर्वप्रायश्चित्तसंज्ञकाः पंचाहुतयः यथा त्वन्नो अग्ने० प्रमुमुग्धस्म-त्स्वाहा । सत्वन्नो अग्ने० सुहवो न एधि स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्यां द्वाभ्यां त्यागः । अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि । अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजठं-स्वाहा । इदमग्नये । ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा । इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः । उदुत्तममित्यादि अदितये स्याम स्वाहे-त्यन्तम् इदं वरुणाय । प्राजापत्यम् । प्रजापतिदेवताको होमः । यथा प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये । स्विष्टकृच्च स्विष्टकृद्धोमः । यथा अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा । इदमग्नये स्विष्टकृते । चकारः सर्वसमुच्चयार्थः एतन्नित्यठं सर्वत्र । एतदाघारादिस्विष्टकृदवसानं सर्वत्र । सर्वेषु होमात्मकेषु कर्मसु नित्यं यत्र होमाभावस्तत्र वास्ति । यथा स्रस्तरा-रोहणलांगलयोजनपायसब्राह्मणभोजनेषु । अन्ते विहितस्य स्विष्टकृद्धोमस्य कर्मविशेषे स्थानान्तरमाह (प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः) महाव्याहृतिभ्यः प्राक्पूर्वं स्विष्टकृद्योगो भवति । चेद्यदि आज्यात्सकाशादन्यदपि चरुप्रभृतिहविर्भवति । केवलाज्ययागे सर्वाहुतिशेषे भवति (सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यान्तरमेतदावापस्थानं विवाहे) सर्वप्रायश्चित्तं त्वन्नो अग्न इत्यारभ्य उदुत्तममित्यन्तं आहुतिपञ्चकं प्राजापत्यः प्रजापत्याहुतिः सर्वप्रायश्चित्तं च प्राजापत्यश्च सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यौ तयोरन्तरम् ।

सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरम् । एतदावापस्थानम् । कस्मिन् कर्मणि विवाहे । आवापस्थानम् । आवापश्च अन्यत्र विहितस्य होमस्य जयादेः कर्मणः कर्मान्तरप्रक्षेपः । आवापस्य आगन्तुकत्वेन अन्ते निवेशो युक्तः न्यायात् तन्निवृत्त्यर्थम् । तमेवाह । (राष्ट्रभृत इच्छन्) विवाहे वैवाहिकहोमकर्मणि । राष्ट्रभृतः राष्ट्रभृत्संज्ञकाः आहुतीः आवपेदित्यध्याहारः (जयाभ्यातानांश्च) जयाश्च अभ्यातानाश्च जयाभ्यातानाः तान् जयाभ्यातानांश्च आवपेत् । किं कुर्वन् इच्छन् राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानानां होमफलं कामयन् । किं प्रमाणमिति चेत् (जानन्येन कर्मणेत्सेदिति वचनात्) येन कर्मणा अस्मिन् कर्मणि ओप्य तेन यत्फलं भवतीति जानन् विदन् । तत्कर्मफलमिच्छन् तस्मिन् कर्मणि तत्कर्म आवपेदिति वचनात् । श्रुतेरित्यर्थः, तत्र राष्ट्रभृथो यथा । ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यादिका द्वादशमन्त्रा राष्ट्रभृत्संज्ञकाः (चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शक्वरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथन्तरं च प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु । तस्मै विशः समनमंत सर्वा स उग्रः स इह्व्यो बभूव स्वाहा) चित्तं चेत्येवमादीनां पदानां चतुर्थ्यन्तानां केचिदिच्छंति तदसांप्रतम् । कुतः । नह्येतानि देवतापदानि । किं तु मन्त्रा एते । मंत्राश्च एते यथाम्नाता एवं प्रयुज्यन्ते (अग्निर्भूतानामधिपतिः समावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां यमः पृथिव्यावायुरंतरिक्षस्य सूर्यो दिवश्चन्द्रमानक्षत्राणां बृहस्पतिर्ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां वरुणोपाठं समुद्रः स्रोत्यानामन्नठं साम्राज्यानामधिपतिस्तन्मावतु सोम ओषधीनाठंसविता प्रसावानाठंरुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां विष्णुः पर्वतानां मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः । इह मावंत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याठं स्वाहेति) अभ्यातानामसंज्ञका ह्येते अष्टादश मंत्रा (सर्वत्रानुषजति) अग्निर्भूतानामित्यादिषु पितरः पितामहा इत्यंतेष्वष्टादशसु मंत्रेषु प्रतिमंत्रं यथालिंगं यथावचनं समावत्वित्यादि देवहूत्याठं स्वाहेत्यन्तं वाक्यैकदेशं अनुषजति संयुनक्ति (अग्निरैत्वित्यादि परं मृत्यविति चैके प्राशनान्ते) अग्निरैत्वित्यादिकाः परं मृत्यवित्यंताः पंच मंत्राः परं मृत्यविति च जुहुयात् । एके आचार्याः परं मृत्यवित्येतामाहुतिं प्राशनांते संस्रवप्राशनांते जुहुयादितीच्छंति उदकस्पर्शः । इति हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमी कण्डिका ॥ ५ ॥

सरला

१. कुछ (आचार्यों का मत है कि) अग्नि की प्रदक्षिणा कराने के उपरान्त (कन्या के) वस्त्र-परिधापन, समञ्जन तथा समीक्षण कर्म किये जायें। (अन्य आचार्य इससे असहमत हैं, वे समीक्षण के बाद अग्नि की प्रदक्षिणा कराने के पक्ष में हैं) ।

२. (पारस्कर के अनुसार समीक्षण कर्म के) अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिणा करके, (उसके) पश्चिम ओर (पूर्वाभिमुख, वर के दाहिनी ओर वधू) दाहिने पैर से तृणपूलिका अथवा चटाई को लाँघकर बैठे ।

३–४. (वैवाहिक होम में प्रजापति और इन्द्र की) दो आधाराहुतियाँ, (अग्नि और सोम की) दो आज्याहुतियाँ, (भूः, भुवः, स्वः—ये) तीन महाव्याहृति-सम्बन्धी आहुतियों, ('त्वं नो अग्ने' प्रभृति मंत्रों से होनेवाली पाँच) सर्वप्रायश्चित्ता-हुतियाँ, प्रजापति की एक आहुति, एक स्विष्टकृत् अग्नि की आहुति (— ये १४ आहुतियाँ नित्य हैं, जो सर्वत्र दी जाती हैं) ।

५. यदि आज्य (घी) के स्थान पर किसी अन्य वस्तु (चरु आदि) की आहुति डालनी हो तो स्विष्टकृत् आहुति महाव्याहृति-आहुतियों से पहले दी जाये ।

६. विवाह में (राष्ट्रभृत प्रभृति) अन्य (आहुतियों) का आवापस्थान सर्व-प्रायश्चित्ताहुति और प्राजापत्याहुति के मध्य में (है) ।

७–८. (वैवाहिक होम में) राष्ट्रभृत् संज्ञक १२ आहुतियाँ, जया नाम्नी १३ आहुतियाँ और अभ्यातान संज्ञक १८ आहुतियाँ भी दी जायें—यदि इनके फल की कामना हो ।

९. 'चित्तं च....' प्रभृति मंत्र (पढ़कर जया होमगत आहुतियाँ डाली जायें ।

१०. 'अग्निर्भूतानामधिपतिः....' प्रभृति मंत्र अभ्यातान आहुतियों के है ।

११. 'अग्निरैतु....' मंत्र पढ़कर पाँच आहुतियाँ डाली जायेंगी ।

१२. कुछ (आचार्यों) के अनुसार 'परं मृत्यो....' मंत्र पढ़कर संस्रव-प्राशन के अनन्तर एक आहुति डाली जाये ।

टिप्पणी—१. कुछ के अनुसार जया-होम के 'चित्तं' आदि पदों को चतुर्थ्यन्त कर देना चाहिए किन्तु हरिहर इससे असहमत हैं—ये देवताओं के नाम नहीं हैं, प्रत्युत मंत्र हैं और मंत्र यथावत् ही प्रयुक्त होते हैं—अतः इनमें कोई परिवर्तन नहीं होगा किन्तु विश्वनाथ ने जो प्रयोग-पद्धति दी है, उसमें ये चतुर्थ्यन्त कर दिए गये हैं—यथा, 'चित्ताय स्वाहा, इदं चित्ताय । चित्यै स्वाहा, इदं चित्यै ।'

२. राष्ट्रभृत् आहुतियाँ शुक्ल यजुर्वेद के १८वें अध्यायगत ३८वें से ५० तक १२ मंत्र पढ़कर दी जायेंगी (देखिए, परिशिष्ट) ।

३. अभ्यातान आहुतियों के १८ मंत्रों में से प्रत्येक में यथालिङ्ग और वचन 'स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा'; जोड़ दिया जायेगा । मंत्र ऐसे होंगे—१. 'अग्निर्भूतानामधिपतिः स माव-त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा, इदमग्नये भूतानामधिपतये ।' ऐसे ही अन्य मंत्र भी ।

मंत्रार्थ

१–१२. चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च नमश्च शक्वरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथन्तरं च ।

ऋषि परमेष्ठी, यजुष्, लिङ्गोक्त देवता ।

(प्रजापति ने इन्द्र को जैसे विजयी बनाया था, वैसे ही) हृदय, चेतना, कर्मेन्द्रिय, तदधिष्ठात्री देवता, शिल्पादि ज्ञान, अपरोक्षज्ञान, मन, मानसिक शक्तियाँ, दर्श, पौर्णमास तथा बृहत् और रथन्तर साम (मुझे विजयिष्णुवृत्ति प्रदान करें) ।

१३. प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतना जयेषु । तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इह्व्यो बभूव ॥

ऋषि परमेष्ठी, त्रिष्टुप् छन्द, इन्द्र ।

प्रजापति ने अभीष्ट प्रयोजन सिद्धि के लिये इन्द्र को जया—मंत्र प्रदान किये; इन्हें पाकर सेनाविजय नामक कृत्यों में इन्द्र प्रचण्ड हो उठे—फिर उन्हें सम्पूर्ण प्रजा ने प्रणाम किया अपना नेता स्वीकार किया; तब से इन्द्र प्रचुरशक्तिशाली और यज्ञ-भाग के अधिकारी बन गये ।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण में एतद्विषयक एक आख्यायिका दी गई है, जो इस प्रकार है—'स इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावत्स तस्मा एताञ्जयान्प्रायच्छत् ताम् अजुहोत् । ततो देवा असुरानजयन्त यदजयँस्तज्जयानां जयात्वम् ।')

१४–३२. अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां यमः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षस्य सूर्योदिवश्चन्द्रमा नक्षत्राणां बृहस्पतिर्ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां वरुणोऽपाᳬ समुद्रः स्रोत्यानामन्नं साम्राज्यानामधिपति तन्मावतु सोम ओषधीनाᳬ सविता प्रसवानाᳬ रुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां विष्णुः पर्वतानां मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः । इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्या ᳬ॥

प्रजापति, पङ्क्ति, लिङ्गोक्त देवता ।

प्राणियों के अधिपति अग्निदेव, श्रेष्ठाधिपति इन्द्र, पृथिवीपाल यम, अन्तरिक्षस्वामी वायु, द्युलोकपति सूर्य, नक्षत्रपति चन्द्र, वेदाधिष्ठाता बृहस्पति, सत्य के पालक मित्र, जलेश वरुण, नदींपति समुद्र, साम्राज्य-चालक अन्न, वनस्पतियों का अधिष्ठाता सोम, प्रेरक वस्तुओं में प्रधान सवितृदेव, पशुपति रुद्र, शिल्प और वास्तु प्रमुख त्वष्टा, पर्वतस्वामी विष्णु, गणस्वामी मरुत् तथा पिता-पितामह और अन्य पूर्वज गण इस ब्रह्मकर्म, प्रजापालन रूप क्षत्रियकर्म में हमारी रक्षा करें; हमारे सामने स्थित कन्या को अपने आशीर्वाद से कृतार्थ करें । इस देवाह्वान पूर्ण यज्ञ की प्रत्येक आहुति सुहुत हो ।

३३. अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳬ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयᳬ स्त्री पौत्र मघन्नरोदात् ।

प्रजापति, त्रिष्टुप्, अग्नि वरुण ।

यज्ञ-भाग के अधिकारी देवों में प्रमुख अग्नि यहाँ आकर इस स्त्री की भावी सन्तानों को जो मृत्यु के बन्धन से मुक्त करें; राजा वरुण भी इस बन्धन-मुक्ति को अपना अनुमोदन दें जिससे यह स्त्री संतति-जन्य दुःख से रुदन न करें ।

३४. इमामग्निस्त्रायताङ्गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तुमाता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियᳯं ॥

वही । अग्नि ।

अग्निदेव इस स्त्री की सन्तानों को दीर्घायु प्रदान करें; इसका गर्भाधान व्यर्थ न जाये, पुत्र जीवित रहें—यह पुत्र-पौत्र जन्य सम्पूर्ण आनन्द की उपलब्धि करे ।

३५. स्वस्तिनो अग्ने दिव आपृथिव्या विश्वानिधेह्ययथा यजत्र । यदस्यां महिदिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥

वही ।

हे यजमान-रक्षक अग्निदेव ! तुम हमारे अनुकूल और प्रतिकूल सभी प्रकार के कृत्यों को शुभ-स्वस्तिमय बनाओ; द्युलोक से पृथिवी तक अभिव्याप्त अपनी महिमा से हमें महिमान्वित करो—इस पृथिवी पर उत्पन्न और पवित्र स्वर्गिक सम्पदा—दोनों प्रकार की विविध धनराशि हमें प्रदान करो ।

३६. सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतन्न आगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु ॥

वही ।

हे अग्निदेव ! यहाँ आकर हमें अर्चि आदि मार्गों का उपदेश देते हुए ऊर्जस्कर और जरारहित जीवन जीने की दृष्टि दीजिए । आपकी कृपा से मृत्यु दूर हो, अमृत आनन्द की सृष्टि हो—यमदेव हमें सर्वथा निर्भय बनायें ।

षष्ठकण्डिका लाजाहोम

कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्रांल्लाजानंजलिनांजलावावपति ॥१॥ ता जुहोति सᳯंहतेन तिष्ठती अर्यमणं देवं कन्याऽग्निमयक्षत । स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुंचतु मा पते स्वाहा ॥ इयन्नार्युपब्रूते लाजानावपंतिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधंतां ज्ञातयो मम स्वाहा ॥ ईमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव ॥ मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियᳯं स्वाहेति ॥ २ ॥ अथास्यै दक्षिणᳯंहस्तं गृह्णाति सांगुष्ठं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया

पत्या जरदष्टिर्यथा सः ॥ भगोऽअर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवः ॥ अमोऽहमस्मि सात्वꣳसात्वमस्यमोऽअहं ॥ सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतोदधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान्विदावहै बहून् ते संतु जरदष्टयः । संप्रियौ रोचिष्णु सुमनस्यामानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतमिति ॥ ३–६ ॥

हरिहरभाष्यम्

(कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानंजलिनांजलावावपति तां जुहोति सꣳहतेन तिष्ठती) कुमार्याः कन्यायाः भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजान् शमीपत्रयुक्तान् भृष्टानि धान्यानि अंजलिना कृत्वा बद्ध्वा अंजली आवपति निक्षिपति । तां जुहोति सा च तान् अंजलिस्थान् लाजान् सꣳहतेन मिलितेन अंजलिना जुहोति विवाहाग्नौ प्रक्षिपति तिष्ठती ऊर्ध्वा (अर्यमणं देवमित्यादि इयꣳस्वाहेत्यंतं) अर्यमणं देवमिति प्रथमं इयं नार्युपब्रूत इति द्वितीयं इमां लाजानामिति तृतीयं (अथास्यै दक्षिणꣳ हस्तं गृह्णाति सांगुष्ठं गृभ्णामि ते सौभगत्वायेत्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यंतं) अथ लाजाहोमानंतरम् अस्यै अस्याः कुमार्याः दक्षिणं हस्तं गृह्णाति स्वदक्षिणहस्तेन आदत्त । कीदृशं हस्तं सांगुष्ठम् अंगुष्ठेन सहितम् । इति हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

सरला

१. कन्या का भाई शमी-पत्र-मिश्रित खीलें (अपनी) अञ्जलि से (बहिन की) अञ्जलि में डाले ।

२. वह (कन्या) उनका (भाई की और अपनी) जुड़ी हुई अञ्जलि से होम करे, मंत्र पढ़े—'अर्यमणं देवम्····' । (तीन आहुतियाँ एक-एक कर डाली जायेंगीः कन्या-कर्तृक होम होने पर भी मंत्र वर ही पढ़ेगा) ।

३. (लाजा-होम के) अनन्तर (वर) 'गृभ्णामि····' मंत्र (पढ़ते हुए अपने दाहिने हाथ से) कन्या के अंगुष्ठयुक्त दाहिने हाथ को पकड़ ले ।

टिप्पणी—१. लाजा-होम तीन विधियाँ हैं—अंगुली के आगे से, अञ्जलि-मध्य से और अञ्जलि के वामपार्श्व से । यहां अञ्जलि के वामपार्श्व से ही हवन होगा, क्योंकि स्त्री का वामभाग ही देवभाग है—

'अङ्गुल्यग्रे न होतव्यं तथैवाञ्जलिभेदतः ।
अञ्जलेर्वामपार्श्वेन लाजाहोमो विधीयते ॥'
'वामभागस्तु नारीणां देवभाग इति स्मृतः ।'

२. यदि कन्या के सहोदर भाई न हो, तो चचेरे, ममेरे, मौसेरे या फुफेरे भाई से भी काम चल सकता है । यदि ये भी न हों तो जातिबांधव भी उपयोग में लिया जा सकता है—

'भ्रातृस्थाने पितृव्यस्य मातुलस्य च यः सुतः ।
मातृस्वसुः सुतस्तद्वत्सुतस्तद्वत्पितृष्वसुः ॥
अन्यो भ्रातुरभावे स्याद्बान्धवो जातिरेव च ॥'

३ गोभिल गृह्यसूत्र में कहा गया है कि हवन करते समय पति का हाथ भी साथ में रहना चाहिए ।

ओल्डेनवर्ग ने शां. गृ. सू. (१. १३. १५) का सन्दर्भ देकर भाई के स्थान पर पिता का विकल्प भी रखा है जो उचित प्रतीत नहीं होता ।

मंत्रार्थ

१. अर्यमणं देवं कन्याऽऽग्निमयक्षत ।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मापतेः ॥

अथर्वा, अनुष्टुप्, अग्नि ।

कन्या ने अग्नि तुल्य तेजस्वी वर की कामना से पहले जिन अर्यमा देवता का यज्ञ किया था, वे उसे पितृ-कुल से मुक्त करें, न कि पति-कुल से ।

२. इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका ।
आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम ॥

वही ।

लाजा-होम करती हुई यह परिणीता कन्या कहती है—मेरे पति दीर्घायु हों और अन्य सम्बंधी समुन्नत ।

३. इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव ।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियम् ॥

वही ।

(परिणीता कन्या वर से कहती है—) मैं इन खीलों को अपनी और तुम्हारी समृद्धि के लिए अग्नि में डालती हूं । हमारे पारस्परिक अनुराग का अग्निदेव अनुमोदन करें ।

४. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मयापत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगोऽऽर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः ॥

याज्ञवल्क्य, त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्तदेवता ।

हे कन्ये ! मैं सौभाग्य-कामना से तुम्हारा हाथ ग्रहण कर रहा हूं; तुम मेरे साथ सुदीर्घ आयु का भाग करो । भग, अर्यमा और सविता प्रभृति देवों ने तुम्हें

श्रेष्ठ और सुन्दर समझ कर गृहस्थ-जीवन का आनन्द लेने के लिए मुझे प्रदान किया है।

५. अमोऽहमस्मि सा त्वं सात्वमस्यमोऽहम् ।
सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ॥

भरद्वाज, उष्णिक्, विष्णु ।

हे कन्ये ! मैं विष्णु हूँ, तुम लक्ष्मी हो; तुम देवीत्रयरूपा हो, मैं त्रिदेवरूप हूँ। मैं साम हूँ तुम ऋचा। मैं द्युलोक रूप हूँ और तुम पृथ्वीरूपा।

६–७. तावेहि विवाहावहै सहरेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान्विन्द्यावहै बहून् ते सन्तु। जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतमिति ॥

अथर्वा, प्रजापति, अनुष्टुप्, यजुष्, विष्णु ।

आओ, हम व्याह करें, एक साथ वीर्य धारण करें, संतान उत्पन्न करें; हमारे पुत्रों की संख्या प्रभूत हो। वे हमारी संतानें दीर्घायु हों। हम भी परस्पर प्रीतियुक्त, सुप्रभ और सौमनस्ययुक्त होकर १०० वर्ष तक देखते-सुनते हुए जीवित रहें।

सप्तमकण्डिका अश्मारोहण

अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेन। आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोववाधस्व पृतनायत इति ॥ १ ॥ अथ गाथां गायति सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳसमभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश इति ॥ २ ॥ अथ परिक्रामतः तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह पुनः पतिभ्यो जायांदाग्ने प्रजया सहेति ॥ ३ ॥ एवं द्विरपरं लाजादि ॥ ४ ॥ चतुर्थꣳशूर्पकुष्ठया सर्वाँल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति ॥ ५ ॥ त्रिः परिणीतां प्राजापत्यꣳहुत्वा ॥ ६–७ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेनारोहेममित्यादि पृतनायत इत्यंतं सूत्रं) अथ पाणिग्रहणानंतरम् एनां वधूम् अश्मानं दृषद उत्तरतोऽग्नेर्ध्रियमाणदक्षिणपादेन कृत्वा आरोहयति आरोहेममित्यादि पृतनायत इति मंत्रेण। (अथ गाथां गायति) सूत्रम्। अथ अश्मारोहणानंतरं गाथां गायति तां गाथामाह (सरस्वति प्रेदमवेत्यादिकां उत्तमं यश इत्यंताम्। अथ परिक्रामतस्तुभ्यमग्न इति) अथ गाथायां समाप्तायामग्निं प्रादक्षिण्येन परिक्रामतो वधूवरौ तत्र मंत्रः तुभ्यमग्ने पर्यवहन्नित्यादिकस्य प्रजया सहेत्यंतस्य मंत्रस्य वरपठितस्यांते। अत्र हस्तग्रहणादिपरिक्रमणांतेषु कर्मसु वर एव मंत्रा-

न्पठति (एवं द्विरपरं लाजादि) एवमुक्तप्रकारेण द्विः वारद्वयमपरं पुनरपि लाजादि कुमार्या भ्रातेत्यारभ्य परिक्रमणांतं कर्म भवति (चतुर्थंꣳशूर्पकुष्ठया सर्वांल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति) ततः तृतीयपरिक्रमणानंतरं कुमार्या भ्राता शूर्पकुष्ठया शूर्पस्य कोणेन सर्वान् यावच्छूर्पेऽवशिष्टान् लाजान् कुमार्या अंजलौ आवपति निक्षिपति । तान् लाजान् तिष्ठती कुमारी भगाय स्वाहेति मन्त्रेण चतु जुहोतिथं ततः समाचारात् तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं वधूवरौ कुरुतः । नेतरथा वृत्तिम् । इतरथा वृत्तेः कारणस्य व्यवायस्य अभावात् । ब्रह्माग्न्योरन्तरागमने हि इतरथावृत्ति कारणं कुत इति चेत् हविः पात्रस्वाम्युत्विजां पूर्वंपूर्वमंतरमृत्विजां च यथापूर्वमितिपरिभाषासूत्रात् तेन परिक्रमणं कुर्वन्तौ वधूवरौ ब्रह्माग्न्योर्मध्ये न गच्छेतां (त्रिः परिणीतां प्राजापत्यꣳहुत्वा) पूर्ववदुपविश्य प्रजापतये स्वाहेति ब्रह्मान्वारब्धे हुत्वा इदं प्रजापतये इति त्यागं विधाय ॥ इति श्रीहरिहरकृते पारस्करगृह्यसूत्रभाष्ये सप्तमी कंडिका ॥ ७ ॥

सरला

१. (पाणिग्रहण के अनन्तर) वर 'आरोहेमश्मानम्'.... मंत्र पढ़कर (अग्नि के) उत्तर रखे हुए पत्थर पर दाहिने पैर से (वधू को) आरोहण कराये ।

२. तदनन्तर गाथा गाये—'सरस्वति....' ।

३. (जब गाथा समाप्त हो जाये, तब वर-वधू अग्नि की) परिक्रमा करते हुए मंत्र पढ़ें : 'तुभ्यम्....' ।

४. इसी प्रकार से पुनः दो बार लाजावपन से (प्रदक्षिणा तक के कृत्यों का अनुष्ठान किया जाये) ।

५. (तीसरी प्रदक्षिणा के अनन्तर) कन्या का भाई सूप के कोने से अवशीष्ट खीलें (कन्या की अञ्जली में डाले ।) कन्या उन्हें 'भगाय स्वाहा' कहकर अग्नि में होम कर दे । यह चतुर्थ प्रदक्षिणा है, (इसमें मंत्र-पाठ नहीं होगा । यह प्रदक्षिणा करते हुए वर-वधू ब्रह्मा और अग्नि के मध्य न जायें) ।

६. तीन बार परिक्रमा कराने के अनन्तर वधू को (बिठाकर आचार्य 'प्रजापतये स्वाहा' कहकर) प्रजापति की आहुति दिलाये । (फिर अन्य कर्म कराये ।)

टिप्पणी—१. पंचम सूत्र की व्याख्या के विषय में हरिहर के भाष्य से गदाधर असहमत हैं । हरिहर के समर्थकों में वासुदेव, गङ्गाधर और रेणुदीक्षित प्रमुख हैं । दोनों पक्ष संक्षेप में प्रस्तुत हैं—(१) हरिहर के अनुसार चतुर्थ परिक्रमा चुपचाप करते हुए वर-वधू ब्रह्मा और अग्नि के मध्य से न जायें क्योंकि ब्रह्मा और अग्नि के मध्य गमन इतरथावृत्ति का कारण है क्योंकि परिभाषा सूत्र में कहा गया है—'हविष्पात्र स्वामृत्विजां पूर्वं पूर्वमन्तरमृत्विजां च यथापूर्वमिति !'

यहां हरिहर का मत ठीक नहीं प्रतीत होता । लाजा-होम के प्रसंग में यहाँ अग्नि-परिणयन का विधान है । वह किस प्रकार हो ? जिस प्रकार से देव-प्रदक्षिणा

होती है, उसी प्रकार तीन वार करनी चाहिए और इसमें वधू और वर को अग्नि और ब्रह्मा के बीच से निकलना चाहिए। परिभाषा सूत्र का शुद्ध अर्थ यह है। हविष् = व्रीह्यादि, पात्र = शूर्पादि, स्वामी = यजमान, वधू-वर तथा ब्रह्मा आदि ऋत्विक्। इनमें पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर की अपेक्षा अग्नि के अधिक निकट है। जब हविष् अन्तरंग है, तो पात्र बहिरंग, जब पात्र अन्तरंग है तो यजमान बहिरंग और जब यजमान अन्तरंग है तो ब्रह्मा आदि बहिरंग। अतः प्रदक्षिणा करते हुए वर-वधू दोनों को ब्रह्मा की अपेक्षा अग्नि के अधिक निकट होना चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है, जब वे परिक्रमा करते हुए अग्नि और ब्रह्मा के मध्य से गुजरें। यदि ब्रह्मा के पीछे से निकलते हैं तो ब्रह्मा अग्नि के अधिक निकट हो जायेगा और वधू-वर दूर। तात्पर्य यह कि ब्रह्मा अन्तरंग होगा और यजमान बहिरंग। ऐसा होने पर परिभाषा-सूत्र से विरोध होगा, जो यह बतलाता है कि यजमान = वधूवर ब्रह्मा की अपेक्षा अन्तरंग है, अर्थात् उन्हें अग्नि के अधिक निकट रहना चाहिए। इस आशय को न समझने के कारण ही हरिहर ने उल्टा अर्थ किया है, इसीलिए गदाधर ने उन पर तीव्र प्रहार किया है—'अत्र हरिहरमिश्रैरबुद्ध्वैव पाण्डित्यं कृतमस्ति।'

वस्तुतः वधू-वर को ब्रह्मा के पीछे से नहीं, प्रत्युत ब्रह्मा के आगे से ही निकलना चाहिए। इसकी पुष्टि 'प्रयोगरत्न' के एक वचन से भी होती है—'चतुर्थं परिक्रमणवर्जं ब्रह्माग्नी अन्तरागतिर्भवेदिति।'

मंत्रार्थ

१. आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत ॥

अथर्वा, अनुष्टुप्, वधूदेवता।

हे वधू! तुम इस पुरोवर्ती पत्थर पर पैर रखकर चढ़ो; (हमारे आवास में) तुम प्रस्तरसदृश दृढता से रहो। हम पर आक्रमण करनेवालों के प्रयत्न तुम विफल बना दो।

२–३. सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजनीवती।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ॥
यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥

विश्वावसु, अनुष्टुप्, सरस्वती।

देवि सरस्वति! तुम अन्नवती और कल्याणमयी हो, इस युग्मकर्म की रक्षा करो। मैं वह गाथा गा रहा हूँ जिसमें तुम्हें सम्पूर्ण प्राणियों की जननी कहा गया है।

प्रकृति रूप में तुम्हीं आद्या माता हो, तुममें ही यह सम्पूर्ण जगत् लीन हो जाता है। मैं वही गाथा गा रहा हूँ जिसमें तुम्हारे नारी-रूप में विविध यशस्वी कर्मों का वर्णन है।

४. तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सह॥

अथर्वा, अनुष्टुप्, अग्नि।

हे अग्निदेव! तुम्हारे निमित्त ही सोम प्रभृति देवताओं ने जन्म-दिन से अब तक इसका परिग्रहण किया है—अब सूर्य की सम्बन्धिनी इस भार्या का भार आप वहन करें, फिर अपने भोग के अनन्तर ससन्तान आप इसे हमें दे दें।

अष्टमकण्डिका

अथैनामुदीचीठंसप्तपदानि प्रकामयति। एकमिषे द्वे ऊर्ज्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पंच पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा सा मामनुव्रता भव॥ १॥ विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति॥ २॥ निष्क्रमणप्रभृत्युदकुंभठंस्कंधे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवति॥ ३॥ उत्तरत एकेषाम्॥ ४॥ तत एनां मूर्द्धन्यभिषिचति। आपः शिवाः शिवतमाः शांताः शांततमास्तास्ते कृण्वंतु भेषजमिति॥ ६॥ आपोहिष्ठेति च तिसृभिः॥ ६॥ अथैनाठंसूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति॥ ७॥ अथास्यै दक्षिणाठंसमधि-हृदयमालभते। मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति॥ ८॥ अथैनामभि-मंत्रयते। सुमंगलीरियं वधूरिमाठंसमेत पश्यत सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्तं विपरेतनेति॥ ९॥ तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वानुगुप्तागार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति इह गावोनिषीदंत्विहाश्वा इह पूरुषाः। इहोसहस्र-दक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदंत्विति॥ १०॥ ग्रामवचनं च कुर्युः॥ ११॥ विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्रविशतादिति वचनात्॥ १२॥ तस्मात्तयोर्ग्राम-प्रमाणमितिश्रुतेः॥ १३॥ आचार्याय वरं ददाति॥ १४॥ गौर्ब्राह्मणस्य वरः॥ १५॥ ग्रामोराजन्यस्य॥ १६॥ अश्वो वैश्यस्य॥ १७॥ अधिरथठंशतं दुहितृमते॥ १८॥ अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति। ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि। मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति॥ १९॥ सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येव ब्रूयात्॥ २०॥ त्रिरात्र-मक्षारालवणाशिनौ स्यातामधःशयीयाताठंसंवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादश-रात्रठंषड्रात्रं त्रिरात्रमंततः॥ २१॥ ८॥

हरिहरभाष्यम्

(अथैनामुदोचीऺ सप्तपदानि प्रक्रामयत्येकमिषे द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पंच पशुभ्यः षड्तुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति) अथ प्राजापत्यहोमानंतरम् एनां वधूमुदीचामुदङ्मुखीं सप्तपदानि प्रक्रामयति। सप्त प्रक्रमान् दक्षिणपादेन कारयति उत्तरोत्तरं वरः कथंभूतां त्रिः परिणीतां त्रीन् वारान् अग्नेः प्रादक्षिण्येन आनीताम् इति व्यवहितेन संबन्धः कुतः पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् एकमिष इत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः। तद्यथा। एकमिषे विष्णुस्त्वा नयत्विति वरेणोक्ते मंत्रे वधूरेकं पदं उदग्ददाति तथा द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयत्विति मंत्रांते द्वितीयम्। त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वां नयत्वित्युक्ते तृतीयम्। चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते चतुर्थम्। पंचपशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु इत्युक्ते पञ्चमम्। षड्तुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु इत्युक्ते षष्ठम्। सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते सप्तमम्। विष्णुस्त्वा नयत्वित्येतावन्मंत्रभागं सर्वत्र एकमिष इत्यादिपु सर्वेपु अनुषजति संबध्नाति (निष्क्रमणप्रभृत्युदकुंभऺ स्कंधे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवत्युत्तरत एकेषाम्) निष्क्रमणप्रभृति पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामतीत्यादि आरभ्य कश्चित्पुरुषो जलपूर्णं कलशं स्कंधे निधाय वधूवरयोः पृष्ठत आगत्य अग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि मौनी स्थित आस्ते, केषांचित्पक्षे उत्तरतः। (तत एनां मूर्द्धन्यभिषिंचतीत्यादि आपोहिष्ठेति च तिसृभिः इत्येतावत्सूत्रम्)। ततस्तस्मात् स्कंधस्थितादुदकुंभात्। आचारादाम्रादिपल्लवसहितेन हस्तेन जलमादाय एनां वधूं मूर्धनि शिरस्यभिषिंचति वरः। आपः शिवा इत्यादिना भेषजमित्यंतेन मंत्रेण पुनस्तथैवोदकमादाय आपोहिष्ठेत्यादि आपोजनयथाचन इत्यंताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः अभिषिंचतीति चकारादनुषज्यते (अथैनाऺ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति) अथ अभिषेकादुपरि सूर्यमुदीक्षस्वेति प्रेषेण सूर्यम् एनां वधूं वर उदीक्षयति सूर्यस्य निरीक्षणं कारयतीत्यर्थः। सा च वरप्रेषिता सती तच्चक्षुरिति मंत्रेण स्वयं पठितेन सूर्यं निरीक्षते दिवा विवाहपक्षे (अथास्यै दक्षिणाऺ समधिहृदयमालभते। मम व्रते त इति) अथ सूर्योदीक्षणानंतरं अस्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्या वध्वाः दक्षिणांसमधि दक्षिणस्य स्कंधस्योपरि हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते वरः स्पृशति। मम व्रते ते हृदयं दधामीत्यादिना नियुनक्तु मह्यमित्यंतेन मंत्रेण (अथैनामभिमंत्रयते सुमंगलीरित्यादि विपरेतनेत्यंतं सूत्रं) अथ हृदयालंभनानंतरम् एनां वधूं वरोऽभिमंत्रयते। सुमंगलीरित्यादिना मंत्रेण अत्र शिष्टसमाचारात्। उत्तरत आयतना हि स्त्रीतिश्रुतिलिंगाच्च वधूं वरस्य वामभागे उपवेशयति (तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वानुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति इह गाव इति) ततः तां वधूं दृढपुरुषः बलवान् कश्चित् पुमान् उन्मथ्य उत्थाप्य प्राक् पूर्वस्यां दिशि उदक् उदीच्यां वा दिशि पूर्वकल्पिते अनुगुप्ते सर्वतः परिवृते अगारे गृहे तत्र च पूर्वमास्तीर्णे आनडुहे आर्षभे रोहिते लोहितवर्णे चर्मणि

अजिने प्राग्ग्रीवे उत्तरलोम्नि उपवेशयति इह गाव इत्यादिना निषीदंत्विति अस्य मंत्रस्य पाठांते। केचन जामातैव दृढपुरुष इत्याहुः तत्पक्षे जामातैव वधूमुत्क्षिप्य मंत्रमुक्त्वा चर्मण्युपवेशयति। तत आगत्य यथास्थानमुपविश्य ब्रह्मान्वारब्धः स्विष्टकृद्धोमं विधाय संस्रवं प्राश्य ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं दक्षिणात्वेन दत्वा स्वकीयाचार्याय ब्राह्मणः परिणेता गां वरं ददाति। क्षत्रियश्चेद्वरस्तदा ग्रामं ददाति। वैश्यश्चेदश्वम्। "यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां कन्यां पुत्रिकाधर्मशंकया" ॥ इति मनुवचनात् अभ्रातृमतीपरिणयनं प्रतिषिद्धम्। तदतिक्रम्य यदि कश्चित्तामुद्वहेत्, तदा तस्याः पुत्रिकात्वदोषपरिहाराय च एकरथेन अधिकं गवां शतं तत्पित्रे दत्वा उद्वहेत्। ग्रामवचनं कुर्युः। अत्र विवाहे ग्रामशब्दवाच्यानां स्वकुलवृद्धानां स्त्रीणां श्मशाने च वाक्यं कुर्युः अंकुरार्पणहरिद्राक्षतचंदनादिधर्मप्रतिपादकम्। कस्माद्विवाहश्मशानयोर्ग्रामं स्वकुलवृद्धाः स्त्रियः प्राविशतात् शास्त्रातिरिक्तं कर्तव्यमाचारं पृच्छेदिति वचनात् इति स्मृतेः। न केवलं स्मृतेः श्रुतेश्चापि। का सा श्रुतिः। तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति। यतः स्वकुलवृद्धाः स्त्रियः पूर्वपुरुषानुष्ठीयमानं सदाचारं स्मरंति तस्मात्तयोः विवाहश्मशानयोः ग्रामः प्रमाणं सदाचारबोधकमित्यर्थः (अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति) दिवा विवाहश्चेत् अस्तमिते सूर्ये अमुकि ध्रुवमीक्षस्व इति प्रैषेण वधूं ध्रुवं तारकाविशेषं दर्शयति। रात्रौ चेद्विवाहस्तदा वरदानानंतरमेव। तद्यथा (ध्रुवमसीत्यादि संजीव शरदः शतमित्यंतं) वरेण पठिते मंत्रे वधूर्ध्रुवमीक्षते (सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येव ब्रूयात्) सा वधूः यदि ध्रुवं नेक्षेत तथापि पश्यामि इत्येवं वदेत्। न विपरीतं (त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयातां) विवाहदिनमारभ्य त्रिरात्रं त्रीणि अहोरात्राणि अक्षारालवणाशिनौ। अक्षारं चालवणं च अक्षारालवणं तत् अश्नीत इत्येवंशीलौ अक्षारालवणाशिनौ स्यातां भवेताम्। अधः आस्तृतभूमौ न खट्वायां शयीयातां (संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रठे षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः) संवत्सरं वर्षं यावत् मिथुनं अभिगमनं नोपेयातां नोपगच्छेयातां। अथवा द्वादशरात्रं। अथवा षड्रात्रं। यद्वा त्रिरात्रं अंततः संवत्सरादिपक्षाणामंते त्रिरात्रमित्यर्थः। संवत्सरादिविकल्पास्तु शक्त्यपेक्षया व्यवस्थिता ज्ञेयाः। संवत्सरादिपक्षाशक्तौ त्रिरात्रपक्षाश्रयणेऽपि चतुर्थीकर्मानंतरं पंचम्यादिरात्रावभिगमनं चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यात्वमेव न संवृत्तं विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः ॥ इति सूत्रार्थः ॥ अथ पद्धतिः ॥ अथ प्रकृतं विवाहकर्माह ॥ तत्र पुण्येऽहनि मातृपूजापूर्वकं वरस्य पिता स्वपितृभ्यः पुत्रविवाहनिमित्तं नांदीमुखं श्राद्धं विधाय विवाह्यं पुत्रं मंगलतूर्यवेदघोषेण कन्यापितृगृहमानयति कन्यापिता च मातृपूजापूर्वकं कन्याविवाहनिमित्तकं स्वपितृभ्यो नांदीमुखं श्राद्धं विधाय मंडपद्वारमागतं वरं अभ्युत्थानादिभिः प्रतीक्ष्य मधुपर्केणार्चयेत्। तद्यथा। अर्चयिता आसनमानाय्य तस्यासनस्य पश्चात्तिष्ठंतमर्घ्यं प्रति साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवंतं इति ब्रवीति। तत्र अर्चकपुरुषाः विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कं तत्समीपमानयति। अथार्चयिता एकं

विष्टरमादाय तिष्ठति अन्यः कश्चिद्ब्राह्मणो विष्टरो विष्टरो विष्टर इति श्रावयति। प्रतिगृह्यतामित्यध्यर्थस्य हस्तयोर्ददाति ॥ अर्घ्यश्च वर्ष्मोस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठाभि यो मा कश्चाभिदासतीत्यनेन मंत्रेण विष्टरमासने निधाय तदुपर्युपविशति। ततोऽन्येन पाद्यं पाद्यं पाद्यमिति श्राविते पादार्थमुदकमर्चयिता अर्घ्याय प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वा समर्प्पयति। अथार्घ्यस्तत्पात्रं भूमौ निधायांजलिना जलमादाय विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति मन्त्रेण ब्राह्मणो दक्षिणं पादं प्रक्षाल्य तथैव वामं प्रक्षालयति। क्षत्रियादयस्त्वन्ये सव्यं प्रक्षाल्य अनेनैव विधिना दक्षिणं प्रक्षालयति। ततः पुर्नविष्टरो विष्टरो विष्टर इत्यनेन श्राविते प्रतिगृह्यतामिति यजमानदत्तं विष्टरं प्रतिगृह्य वर्ष्मोस्मीति मन्त्रेण पादयोरधस्तान्निदधाति। ततोऽर्घोऽर्घोऽर्घ इत्यनेन श्राविते‌ऽर्चयिता। प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वा अर्घ्यायार्घ्यं (आपस्थयुष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति सूत्रं) पठितवते प्रयच्छति। अर्घ्यश्चार्घ्यं प्रतिगृह्य मूर्द्धपर्यन्तमानीय समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टास्माकं वीरामापयासेचिमत्पय इत्यनेन मन्त्रेण निनयन्नभिमन्त्रयते। अथाचमनीयमाचमनीयमाचमनीयमित्यनेन श्राविते अर्चयिताध्यर्याय प्रतिगृह्यतामिति उक्त्वा आचमनीयं प्रयच्छति। अर्घ्यश्च प्रतिगृह्य आमागन्यशसासठंसृजवर्चसा। तम्मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामितिमन्त्रेण सकृदाचम्य स्मार्त्तमाचमनं करोति। अथ मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्क इत्यनेनोक्ते यजमानहस्तस्थितमुद्घाटितं मधुपर्कं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्ष इति मन्त्रेण प्रतीक्ष्य देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति मन्त्रेण अञ्जलिना प्रतिगृह्य सव्ये पाणौ निधाय दक्षिणस्य पाणेरुपकनिष्ठिकयांगुल्या नमः श्यावास्यायानशने यत्तआविद्धं तत्ते निष्कृंतामीति मन्त्रेण सकृदालोड्य तूर्ष्णीं सकृद् अनामिकांगुष्ठाभ्यामादाय बहिर्निक्षिप्य पुनरेवं द्विर्वारमालोडनं निरीक्षणं च करोति। ततो यन्मधुनो मधव्यं परमठंरूपमन्नाद्यं। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्ना द्येन परमो मधव्योन्नादोसानीति मन्त्रेण अनामिकांगुष्ठाभ्यामादाय त्रिः प्राश्नाति। मधुव्वाताऋतायत इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः प्रत्यृचं त्रिः प्राश्नाति वा प्राशितशेषं पुत्राय शिष्याय वा दद्यात्तत्सर्वं वा भक्षयेत्। पूर्वस्यां दिशि असंचरे प्रदेशे वा क्षिपेत्। ततः स्मार्तेन विधिनाऽऽचम्य वाङ्म आस्येऽस्त्विति कराग्रेण मुखं स्पृशति। नसोर्मे प्राणोऽस्त्विति दक्षिणवामे नासारंध्रे। अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्त्विति दक्षिणोत्तरे चक्षुषी। कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति दक्षिणं श्रोत्रं संस्पृश्य पुनः कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्त्विति वामम्। एवं बाह्वोर्मे बलमस्त्विति दक्षिणोत्तरौ बाहू। ऊर्वोर्मे ओजोऽस्त्विति युगपदूरू। अरिष्टानि मेऽगानि तनूस्तन्वा मे सह संत्विति शिरःप्रभृतीनि पादांतानि सर्वाग्यंगान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभेत। एवमाचांतोदकाय खड्गहस्तो यजमानः गौर्गौरालभ्यतामिति ब्रूयात्। ततोऽर्घ्यः। माता रुद्राणां दुहिता वसूनाठं स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट।

मम च अमुकशर्मणो यजमानस्य च पाप्मानं हनोमीति गवालंभपक्षे प्रतिब्रूयात् । उत्सर्गपक्षे तु माता रुद्राणामित्यादि वाप्माहत ॐमित्युपांशूक्त्वा उत्सृजत तृणान्यत्त्वित्युच्चैः प्रतिब्रूयात् । ततो वरो बहिः शालायामीशान्यां दिशि चतुर्हस्तायां सिकतावच्छन्नायां वेदिकायां लौकिकं निर्मथ्यं वाग्निं स्थापयित्वा पश्चादग्नेः तृणपुलकं कटं वा स्थापयेत्। अथ कन्यापिता वस्त्रचतुष्टयं वराय प्रयच्छति वरश्च तेषु मध्ये जरां परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्ति पावा । शतं च जीव शरदः सुवर्च्चारयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इत्यनेन मन्त्रेण एवं कुमारीं परिधापयति । द्वितीयं या अकृन्तन्न वयंया अतन्वत । याश्च देवीस्तंतूनभितोततंथ । तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति मन्त्रेण । स्वयं च परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदःपुरुचोरायस्पोषमभिसंव्ययिष्यति इति मन्त्रेण एकं परिधत्ते । यशसा द्यावापृथिवी यशसेंद्राबृहस्पती । यशोभगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यतामिति द्वितीयम् । अथ कुमार्याः पिता एनौ परिहिताहतसदशवस्त्रौ कन्यावरौ समंजयति । परस्परं समंजेथामिति प्रैषेण । ततो वरः कन्या सुमुखीभूतः समंजंतु विश्वेदेवाः समापोहृदयानि नौ संमातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ इत्यादिकं मंत्रं पठति । अथ कन्यादानं करोति पित्रादिः कन्यादानाधिकारी तत्र वाक्यम् । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः प्रपौत्राय । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पौत्राय । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पुत्राय इति वरपक्षे । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः प्रपौत्रीम् । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पौत्रीम् । अमुकगोत्रस्य अमुकप्रवरस्य अमुकशर्मणः पुत्रीम् इति कन्यापक्षे । एवमेव पुनर्वारद्वयमभिहिते । अथ कन्यापिता कुशजलाक्षतपाणिः उदङ्मुखोपविष्टः प्राङ्मुखोपविष्टाय वराय प्रत्यङ्मुखोपविष्टां कन्याम् अमुकगोत्राय अमुकप्रवराय अमुकशर्मणे ब्राह्मणाय इति ब्राह्मणवरपक्षे, इतरवरपक्षे वर्मणे अमुकगुप्ताय अमुकदासायेति विशेषः । अमुकगोत्रां अमुकप्रवरामपुकनाम्नीमिमां कन्यां सालंकारां प्रजापतिदैवतां पुराणोक्तशतगुणीकृतज्योतिष्टोमातिरात्रसमफलप्राप्तिकामः कन्यादानफलप्राप्तिकामो वा भार्यात्वेन तुभ्यमहं संप्रददे इत्युक्त्वा सकुशाक्षतजलं कन्यादक्षिणहस्तं वरदक्षिणहस्ते दद्यात् वरश्च द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्वित्यनेन मंत्रेण तां प्रतिगृह्णीयात् । अथ कोदादितिकामस्तुतिं पठेत् । ततः कृतैतत्कन्यादानप्रतिष्ठासिद्ध्यर्थं स्वर्णं गोमिथुनं च दक्षिणां दद्यात् । अत्र आचारात् अन्यदपि यौतकत्वेन सुवर्णरजतताम्रगोमहिष्यश्वग्रामादि कन्यापिता यथासम्भवं ददाति । अन्येऽपि बांधवादयः यथासम्भवं योतकं प्रयच्छंति । केचन यौतकं होमांते प्रयच्छन्ति । अत्र देशाचारतो व्यवस्था । एवं पित्रा दत्तां गृहीत्वा प्रतिग्रहस्थानान्निष्क्रामति । यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा हिरण्यपर्णो वै कर्णः सत्वा मन्मनसां करोत्वमुकि इत्यन्तेन मंत्रेण। अथ निष्क्रमणप्रभृत्येको जलपूर्णं कलशं स्कंधे निधाय दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यत ऊर्ध्वस्तिष्ठति उत्तरतो वा अभिषेकपर्यंतम् । अथैनो वधूवरौ अग्निसमीपमागतौ कन्यायाः पिता

परस्परं समीक्षेथामिति प्रैषेण समीक्षयति । ततः प्रेषितो वरः समीक्षमाणां कन्यां समीक्षमाणः अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः । वीरसूर्देवकामा- स्योनाशन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे । सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजः । सोमोददद् गन्धर्वाय गंधर्वोददग्नये । रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमां । सा नः पूषा शिवतमा मे रयसा न ऊरू-उशती विहर । यस्यामुशंतः प्रहराम शेषं यस्यामुकामा बहवो निविष्टच । इत्यादिकान् चतुरो मंत्रान् पठति । ततः प्रदक्षिणमग्निं परीत्य पश्चादग्नेः पूर्वस्थापिततेजनीकयोरन्यतरे दक्षिणं पादमग्रे कृत्वोपविशति वरः तस्य दक्षिणतो वधूः ततो ब्रह्मोपवेशनादि चरुवर्जं पर्युक्षणांतं कुर्यात् । इयांस्तु विशेषः आचार्याय वरद्रव्यं इत्येतावंति वस्तूनि उपकल्पयेत् । न प्रोक्षेत् । ततः स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतिसर्व- प्रायश्चित्तं ब्रह्मान्वारब्धे हुत्वा राष्ट्रभृज्जयाभ्यातानाग्निरैत्वित्यादिकान्परंमृत्यवित्यंतान् । अनन्वारब्धौ जुहुयात् । प्राशनांते वा परं मृत्यविति । तद्यथा । ॐ प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये । इन्द्राय स्वाहा : इदमिंद्राय । अग्नये स्वाहा । इदमग्नये । सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय । ॐ भूः स्वाहा इदमग्नये । ॐ भुवः स्वाहा इदं वायवे । ॐ स्वः स्वाहा इदं सूर्याय । त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः । यजिष्ठो- व्वह्नितमः शोशुचानो विश्वाद्वेषाठंसि प्रमुग्ध्यस्मत्स्वाहा । इदमग्नीवरुणाभ्यां सत्वन्नो अग्ने वमोभवोतीनेदिष्ठो अस्या उषसोव्युष्टौ । अवयक्ष्व नो वरुणठं रराणो वीहिमृडीकठं सुहवोन एधि स्वाहा इदमग्नीवरुणाभ्याम् । अयाश्चाग्नेस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमया असि अयानो यज्ञं वहास्ययानो धेहि भेषजठंस्वाहा इदमग्नये ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशावितताममहांतः । तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुंचंतु मरुतः स्वर्काः स्वाहा । इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः । उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमठं श्रथाय । अथावयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा । इदं वरुणाय । ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा ततो राष्ट्रभृतो यथा । ऋताषाडृतधामाग्निर्गंधर्वः सन इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदमृता- साहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय । ऋत षाडृतधामाग्निर्गंधर्वस्तस्यौषधयोप्सरसो मुदोनाम ताभ्यः स्वाहा । इदमोषधिभ्योप्सरोभ्यो मुद्भ्यः । सठंहितो विश्वसामासूर्यो गंधर्वः सन इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदं सठंहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गंधर्वाय। सठंहिसो विश्वसामासूर्यो गंधर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवोनाम ताभ्यः स्वाहा । इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्य आयुभ्यः । सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चंद्रमागंधर्वः । सन.इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गंधर्वाय । सुषुम्णः सूर्य- रश्मिश्चंद्रमाःगंधर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा । इदं नक्षत्रे- भ्योऽप्सरोभेकुरिभ्यः । इषिरो विश्वव्यचावातो गंधर्वः सन इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् । इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय । इषिरो विश्वव्यचावातो गंधर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्ज्जोनाम ताभ्यः स्वाहा । इदमद्भ्योऽप्सरभ्य ऊर्म्यः ।

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गंधर्वः सन इदं ब्रह्म क्षत्र पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गंधर्वाय। भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गंधर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा। इदं दक्षिणाभ्योप्सरोभ्यस्तावाभ्यः। प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनोगंधर्वः सन इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गंधर्वाय। प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनोगंधर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमृक्सामभ्योऽप्सरोभ्य एष्टिभ्यः। केचिदन्यथा मंत्रप्रयोगं कुर्वंति तत्प्रदर्श्यंते। ऋताषाडृतधामाग्निर्गंधर्वः सन् इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। इति प्रथमः तस्यौषधोप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहेति द्वितीयः। एवं सर्वेषु मंत्रेषु अस्मिन्नपि पक्षे त्यागास्तु त एव। अथ जयाहोमः। चित्तं च स्वाहा इदं चित्ताय। चित्तिश्च स्वाहा इदं चित्त्यै। आकूतं च स्वाहा इदमाकूताय। आकूतिश्च स्वाहा इदमाकूत्यै। विज्ञातं च स्वाहा इदं विज्ञाताय। विज्ञातिश्च स्वाहा इदं विज्ञात्यै। मनश्च स्वाहा इदं मनसे। शक्करीश्च स्वाहा इदं शक्करीभ्यः। दर्शश्च स्वाहा इदं दर्शाय। पौर्णमासं च स्वाहा इदं पौर्णमासाय। बृहच्च स्वाहा इदं बृहते। रथंतरं च स्वाहा इदं रथंतराय। चित्तं चेत्येवमादीनां पदानां चतुर्थ्यंतानां प्रयोगं केचिदिच्छंति तदसांप्रतम्। कुतः। नह्येतानि देवतापदानि किन्तु मंत्रा एते मंत्राश्च यथाम्नाता एव प्रयुज्यंते। प्रजापतिर्जयानिंद्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनंत सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहा। इदं प्रजापतये जयानिंद्राय। अथाभ्यातानाः अग्निर्भूतानामधिपतिः समावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहुत्या स्वाहा इदमग्नये भूतानामधिपतये। इंद्रो ज्येष्ठानामधिपतिः। समावत्वित्येवमादि स्वाहाकारांतो मंत्रः इदमिंद्राय ज्येष्ठानामधिपतये। एवं समावत्वस्मिन्नित्यादिवक्ष्यमाणेषु सर्वमंत्रेष्वनुषंगः। यमः पृथिव्याधिपतिः। इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये। वायुरंतरिक्षस्याधिपतिः। इदं वायवेंऽतरिक्षस्याधिपतये। सूर्यो दिवोऽधिपतिः। इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये। चंद्रमा नक्षत्राणामधिपतिः। इदं चंद्रमसे नक्षत्राणामधिपतये। बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः इदं बृहस्पतये ब्रह्मणोऽधिपतये। मित्रः सत्यानामधिपतिः .इदं मित्राय सत्यानामधिपतये। वरुणोऽपामधिपतिः। इदं वरुणायापामधिपतये। समुद्रोऽस्रोत्यानामधिपतिः। इदठं समुद्राय स्रोत्यानामधिपतये। अन्नठं, साम्राज्यानामधिपतिस्तन्मावत्वस्मिन् इत्यादि। इदमन्नाय साम्राज्यानामधिपतये। सोम ओषधीनामधिपतिः। इदं सोमायौषधीनामधिपतये। सविता प्रसवानामधिपतिः। इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये। रुद्रः पशूनामधिपतिः। इदं रुद्राय पशूनामधिपतये। उदकस्पर्शनम्। त्वष्टा रूपाणामधिपतिः। इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये। विष्णुः पर्वतानामधिपतिः। इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये। मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावंत्वस्मिन्। इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः। पितरः पितामहाः परेवरे ततास्ततामहाः इह मावंत्वस्मिन् ब्रह्मणीत्यादि समानम्। इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्यो वरेभ्यस्ततेभ्यस्ततामहेभ्यः। उदकस्पर्शनं एते अष्टादश मंत्रा अभ्यातानसंज्ञकाः। अग्निरैतु प्रथमो देवतानाठं सोऽस्यै प्रजां मुंचतु मृत्युपाशात्।

तदयठं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्रीपौत्रमघं नरोदात्स्वाहा । इदमग्नये । इमामग्निः त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्थाजीवतामस्तु माता पौत्रमानंदमभिविबुध्यतामियठं स्वाहा । इदमग्नये । स्वस्तिनोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथायजत्र । यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रठंस्वाहा । इदमग्नये ! सुगंनुपंथां प्रतिशन्न एहि ज्योतिष्मध्यये ह्यजरन्न आयुः । अपैतु मृत्युरमृतं नआगाद्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु स्वाहा इदं वैवस्वताय । परं मृत्यो अनुपरेहि पंथा यस्ते अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मानः प्रजाठंरीरिषोमोत वीरान्स्वाहा । इदं मृत्यवे । एके संस्रवप्राशनांते जुहुयादितीच्छंति । उदकस्पर्शः । कुमार्या भ्राता उपकल्पितान् शमीपलाशमिश्रान् लाजान् शूर्पे कृतान् स्वेनांजलिना गृहीत्वा कुमार्या अंजलावावपति । तॉल्लाजान् प्राङ्मुखी तिष्ठती कुमारी सव्यहस्तसहितेन दक्षिणहस्तेन अंजलिना विग्राहं जुहोति । अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत । सनो अर्यमा देवः प्रेतो मुंचतु मापते स्वाहा इत्यनेन मंत्रेण तृतीयांशं जुहोति । इदमर्यम्णे । इय नार्युपब्रूते लाजानावपंतिका । आयुष्मानस्तु मे पतिरेधंतां ज्ञातयो मम स्वाहा । इत्यनेन मंत्रेण अंजलिस्थितानां लाजानामर्द्धं जुहोति । इदमग्नये । इमांल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव । मम तुभ्यं च संवनन तदग्निरनुमन्यतामियठंस्वाहा इत्यनेन मंत्रेण सर्वांल्लाजान् जुहोति । इदमग्नये । मंत्रत्रयं कन्यैव पठति । अथ कुमार्याः सांगुष्ठं दक्षिणं हस्तं वरो गृह्णाति । गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या यरदष्टिर्यथा सः । भगो अर्यमा सविता पुरंध्रिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः । अमोहमस्मि सात्वठं सात्वमस्यमो अहम् । सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतोदधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विंदावहै बहून् ते संतु जरदष्टयः । संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतठं शृणुयाम शरदः शतमित्यंतेन मंत्रसंदर्भेण । अथ कुमार्याः दक्षिणं पादं स्वदक्षिणहस्तेन गृहीत्वारोहे ममामानमश्मेवत्वठं स्थिरा भव । अभितिष्ठ पृतन्यतोरबाधस्व पृतनायत इत्यनेन मंत्रेण अग्नेरुत्तरतो व्यवस्थितस्याश्मनः उपरि वरः करोति । अथाश्मन्यारूढायां कुमार्यां वरो गाथां गायति । सरस्वति प्रेदमिव सुभगे वाजिनीवति । यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः । यस्यां भूतठंसमभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश इत्यताम् । अथ वधूवरौ । प्रदक्षिणमग्निं परिक्रामतः तुभ्यमग्ने पर्यवहन् सूर्यां वहतु नासह । पुनः पतिभ्यो जायान्दाग्ने प्रजया सह । इत्यंतस्य मंत्रस्य वरपठितस्यांते । एवं पुनर्वारद्वयं लाजावपनादि परिक्रमणांतं कर्म निर्विशेषं भवति । ततस्तृतीयपरिक्रमणानंतरं कुमार्या भ्राता शूर्पकोणप्रदेशेन सर्वांल्लाजान् कुमार्यंजलावावपति । तान् तिष्ठंती कुमारी भगाय स्वाहेत्यनेन जुहोति । इदं भगाय । ततः समाचारात् तूष्णीं चतुर्थं परिक्रमणं कुरुतः । नेतरथा वृत्तिम् । अत्र प्रजापतये स्वाहेति ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा इदं प्रजापतय इति त्यागं विधाय एनां वधूमुदीचीं सप्त पदानि प्रक्रामयति । एकमिषे विष्णुस्त्वा नयत्विति वरेणोक्ते मंत्रे वधूरेकं पदमुदग्ददाति । द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा

नयत्विति द्वितीयम् । त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयत्वित्युक्ते तृतीयम् । चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयत्विति चतुर्थम् । पंचपशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्विति पंचमम् । षड्तुभ्यो विष्णुस्त्वा नयत्विति षष्ठम् । सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयत्विति सप्तमम् । एवं वर एकैकं मंत्रं समुच्चार्योच्चार्य सप्तपदानि दापयत्युत्तरोत्तरं दक्षिणपादेन । अथ वरः स्कंधकृतादुदकुंभादुदकमादाय वधूमूर्धन्यभिषिंचति । आपः शिवाः शिवतमाः शांताः शान्ततमास्ताते कुण्वंतु भेषजमित्यनेन मन्त्रेण पुनस्तथैवोदकमादायापोहिष्ठेति प्रत्यृचं पठित्वा तथैव मूर्धन्यभिषिंचति । अथ वरः सूर्यमूदीक्षस्वेति वधूं प्रेषयति सा च प्रेषिता सती सूर्यमुदीक्षते । तच्चक्षुरित्यादि शृणुयाम शरदः शतमित्यंतं मंत्रं स्वयं पठित्वा, अथ वरो वध्वाः दक्षिणांसस्योपरि हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमित्यनेन मंत्रेण । अथ हृदयालंभनानन्तरं वरो वधूमभिमंत्रयते । सुमंगलीरियं वधुरिमाठंसमेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतनेत्यनेन मंत्रेण । अत्र शिष्टसमाचारात् वधूं वरस्य वामभागे उपवेशयति । तस्याः सीमंते वरेण सिंदूरं दापयंति । अथाग्नेः प्रागुदग्वा पूर्वकल्पितेन गुप्त आगारे उत्तरलोम्नि प्राग्ग्रीवे आनडुहे चर्मणि तां वधूं दृढपुरुष उत्थाप्योपवेशयति इह गावो निषीदंत्विहाश्वा इह पुरुषा इहोसहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदंत्वितिमंत्रेण । यद्वा जामाता दृढपुरुषस्तस्मिन् पक्षे वर उपवेशयति वधूम् । तत आगत्य पूर्ववद्यथास्थानमुपविश्य ब्रह्मान्वारब्धो वरः अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते इति स्विष्टकृद्धोमं विधाय संस्रवान् प्राश्य ब्रह्मणे पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं दत्त्वा स्वकीयाचार्याय वरं ददाति । ब्राह्मणश्चेद् गां क्षत्रियश्चेद् ग्रामं वैश्यश्चेदश्वम् । अन्यच्च सुवर्णादि द्रव्यं यथाश्रद्धं यथाशक्ति ब्राह्मणेभ्यो दातुं संकल्पयेत् । ग्रामवचनं च कुर्युरित्यनेन शिष्टाचारप्राप्तं तिलककरणाक्षतचंदनमंत्रविप्राशीर्वचनप्रतिष्ठामंत्रपाठादिकं यथाकुलं यथादेशसमाचारं तत्र तत्र क्रियमाणमनुमन्येरन् दिवा चेद्विवाहस्तदास्तमिते ध्रुवं दर्शयति वरो वध्वाः रात्रौ चेद्वरदानानंतरमेव । तद्यथा । ध्रुवमीक्षस्वेति प्रेषिता वधूः । ध्रुवमसि ध्रुव त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि । मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिर्मयापत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमित्यंतेन मंत्रेण वरेणोक्ते । ध्रुवमीक्षते सा वधूर्यदि ध्रुवं न पश्येत् तथापि पश्यामीत्येव वदेत् । विवाहादारभ्य त्रिरात्र अक्षारालवणाशिनौ स्यातां जायापती अधः खट्वारहिते भूभागे आस्तृते शयीयातां त्रिरात्रमेव । संवत्सरं समग्रं मिथुनं नोपेयातां द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं चेति एते विकल्पाः मिथुनकरणशक्त्यपेक्षया । अत्र त्रिरात्रपक्षाश्रयणं चतुर्थ्युत्तरकालहेतुस्तु व्याख्याने विहितः ॥ ॥ इति विवाहकर्मपद्धतिः ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डेऽष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

सरला

१. (प्राजापत्य होम के) अनन्तर उत्तराभिमुखी वधू को वर दाहिने पैर से सात बार प्रदक्षिणा करायें—ये सात मन्त्र पढ़ें—(१) एकमिषे विष्णुस्त्वानयतु (२) द्वे

ऊर्जे विष्णुस्त्वानयतु (३) त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वानयतु (४) चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वानयतु (५) पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु (६) षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वानयतु (७) सखे सप्तपदा भव, सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु ।

२. 'विष्णुस्त्वानयतु' अंश सभी मन्त्रों के साथ सम्बद्ध (किया जाये) ।

३. (कुछ आचार्यों का मत है कि) निष्क्रमण से ही कोई पुरुष सजल कलश कन्धे पर रखकर वधू-वर के पीछे और अग्नि के दाहिने चुपचाप खड़ा हो जाये।

४. कुछ (के अनुसार) अग्नि के उत्तर ओर खड़ा हो ।

५. स्कन्ध-स्थित कलश से (आम्र-पल्लव) में जल लेकर 'आपः शिवा...' मन्त्र पढ़ते हुए वधू का मूर्धाभिषेक करे ।

६. पुनः उसी प्रकार से जल लेकर 'आपोहिष्ठा...'प्रभृति तीन ऋचायें पढ़कर अभिषेक करे ।

७. 'तच्चक्षुः...' मन्त्र पढ़कर वधू को वर सूर्य-दर्शन कराये ।

८. 'मम व्रते...' मन्त्र पढ़ते हुए वर वधू के दाहिने कन्धे के ऊपर से हाथ लाकर हृदय का स्पर्श करे ।

९. तदनन्तर 'सुमङ्गलीरियं...' मन्त्र पढ़ते हुए वर उसका अभिमन्त्रण करे— कुलाचार के अनुसार सिन्दूर दान करे । (इसके उपरान्त ही वधू को वर की बायीं ओर बिठा दिया जाये । यद्यपि पारस्कर ने इसका उल्लेख नहीं किया है किन्तु परम्परा से यह समर्थित है) ।

१०. (तब) वधू को कोई बलवान पुरुष उठाकर पूर्व या उत्तर दिशा में (पहले से बने हुए) सर्वथा घिरे आगार में, गाड़ी में जुतने वाले बैल के रक्त वर्ण चर्म पर 'इह गावः निषीदन्तु...' मन्त्र पढ़कर बिठा दे । (हरिहर का कथन है कि यह दृढ़पुरुष जामाता ही होगा) ।

११. तदनन्तर गाँव (की वृद्ध स्त्रियां जो) कहें, वह (लोकाचार) किया जाये; क्योंकि स्मृतियों में कहा गया है कि विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों में शास्त्रीय आचार के अतिरिक्त कुल की आप्त स्त्रियों को प्रामाणिक मानकर (चलना चाहिए)।

१४. (वर) आचार्य को दक्षिणा दे ।

१५. ब्राह्मणवर दक्षिणा में गौ दे ।

१६. क्षत्रिय ग्राम ।

१७. (और) वैश्य अश्व-दान दे ।

१८. (यदि जाने-अनजाने किसी कारण वश पुत्रिका कन्या से ब्याह करना पड़े तो दोषनिवारण के लिए) अपने ससुर को सौ गायों के साथ एक रथ देकर (तब उसका पाणिग्रहण करे) ।

१९. (दिवा-विवाह में) सूर्यास्त होने पर वर वधू को 'ध्रुवमसि····' मन्त्र पढ़ते हुए ध्रुव नक्षत्र दिखलाये। (रात्रि-विवाह में यह कुछ पहले यानी कन्या-दान के अनन्तर ही हो जायेगा) ।

२०. वधू को यदि ध्रुव नक्षत्र न भी दिखे, तब भी 'देख रही हूँ' ही कहे।

२१. (विवाह-दिन से) तीन दिन तक वर-वधू क्षार और लवणयुक्त भोजन न करें, खाट पर न सोयें–(भूमि पर शयन करें) ।

(कुछ आचार्यों के अनुसार) वर-वधू वर्ष भर तक मैथुन न करें; (कुछ) १२ दिन (और कुछ) अन्ततः तीन दिन तक ही (मैथुन को वर्जित करें) ।

टिप्पणी—१. पारस्कर ने सम्भवतः दिवा-विवाह का विधान किया हैं, तभी सूर्य-दर्शन करना सम्भव है ।

२. पुत्रिका । जिस कन्या के भाई न हो, वह पुत्रिका है । 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए—

'यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत् तां कन्यां पुत्रिकाऽधर्मशङ्कया ॥

अन्तिम सूत्र में आये 'अन्ततः' का अभिप्राय है कि चौथी (चतुर्थी कर्म) जब तक नहीं हो जाती, तब तक वधू वस्तुतः भार्या ही नहीं बनती, अतः तब तक तो मैथुन नहीं ही करना चाहिए—इस विन्दु पर लगभग सभी आचार्य सहमत हैं।

मंत्रार्थ

१. एकमिषे द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव ॥

हे कन्ये ! तुम्हारा पहला पग अन्न, दूसरा शक्ति, तीसरा धन, चौथा सुख, पाँचवाँ पशु, छठा आर्त्तवभोग और सातवां सौख्य-संपादन के निमित्त है। तुम मेरे कर्त्तव्य-पालन में सहायक सिद्ध हो ।

२. आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ।

परम माङ्गलिक तथा शांत जल तुम्हें आरोग्य प्रदान करें ।

३. मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु । मम वाचमेकव्रता जुषस्व प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

परमेष्ठी, त्रिष्टुप्, प्रजापति ।

हे कन्ये ! शास्त्रविहित नियमों के पालन के लिए मैं तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ। तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ मेरे मन के अनुकूल हो जायें। तुम एकनिष्ठ होकर

मेरे वचनों का पालन करो ! प्रजापति तुम्हें मुझसे संयुक्त करें—तुम प्रत्येक दृष्टि से मेरी सहयोगिनी बनो ।

४. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेत न ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, विवाह की अधिष्ठात्री देवता !

ओ विवाह की अधिष्ठात्री देवियों ! यह वधू मंगलमयी है । तुम संगठित होकर समवेत रूप से इसका अवलोकन करो । इसे सौभाग्य और इसके पुत्रादि को मंगलमय आशीर्वाद देकर ही तुम अपने स्थान पर जाओ, विमुख होकर नहीं ।

५. इह गावो निषीदन्तु इहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदन्तु ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता ।

इस आसन पर गायें, अश्व और पुरुष आसीन हों । सहस्र गायों की दक्षिणा-मंडित पुष्टिकर यज्ञदेव भी यहाँ आसीन हों ।

६. ध्रुवसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम् ।

परमेष्ठी, पङ्क्ति, प्रजापति ।

ओ वधू ! तुम ध्रुव नक्षत्र की भाँति हमारे घर में स्थिर रहो; मैं तुम्हें ध्रुव तारे के सदृश ही अचल-अटल देख रहा हूँ; तुम ध्रुववत् मेरी सन्तानों का पोषण करो—इसी निमित्त तुम्हें ब्रह्मा और बृहस्पति ने मुझे प्रदान किया है । तुम पति, पुत्र और पौत्रों से भरी-पूरी होकर १०० वर्ष की आयु भोगो ।

नवमकण्डिका

उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम् ॥ १ ॥ अस्तमितानुदितयोर्दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा ॥ २ ॥ अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम् ॥ ३ ॥ सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः ॥ ४ ॥ पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसा-वश्विनावुभौ पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाꣳसं वर्ततां मयि पुनः स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा ॥ ५ ॥ ६ ॥

हरिहरभाष्यम्

(उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरम्) अथौपासनस्य आवसथ्यस्याग्नेः परि-चरणमुपासनं व्याख्यास्यते । कथमुपयमनप्रभृति । उपयमनकुशादनमारभ्य कोऽर्थः । उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयादिति । यावत् तस्य कालनियम-

माह (अस्तिमितानुदितयोः) अस्तमितश्च अनुदितश्च अस्तमितानुदितौ तयोस्तथा सूर्ययोः सूर्यस्यास्तमयानुदिताभ्यामुपलक्षितयोः कालयोरित्यर्थः। तत्रास्तमितलक्षणं छंदोगपरिशिष्टे 'यावत्सम्यङ्न भाव्यंते नभस्यृक्षाणि सर्वतः। न च लोहितिमापैति तावत्सायं तु हूयते ॥' अनुदितस्य द्वैविध्यम् अनुदितः समयाध्युषितश्च तत्रानुदितस्पष्टतारकोपलक्षितः ततः परमुदयात्प्राक् समयाध्युषितः तथा च मनुः। "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः" ॥ इति संपूर्णादित्यमंडलरूपदर्शनोपलक्षित उदितः। तत्र वाजसनेयिनां नियमेन अनुदितहोमः। सूर्योहवा अग्निहोत्रमित्यारभ्य तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामह इत्यन्तेन श्रुतिसमाम्नायेन उदितहोमनिंदापूर्वकमनुदितहोमस्य समर्थितत्वात्। छन्दोगानामुदितानुदितयोर्विकल्पः। उदितेऽनुदिते वेति गोभिलवचनात्। आश्वलायननानां पुनरुदितहोमनियमः तथा च तैत्तिरीयब्राह्मणं 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति येऽग्निहोत्रम्'' दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्त्तयतः सूर्योज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्" इति अनुदितहोमनिंदार्थवादपुरःसरं तस्मादुदिते होतव्यमिति उदिते होमविधानात्। होमद्रव्यनियममाह (दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा जुहुयात्) दध्ना गव्येन तण्डुलैर्व्रीहिमयैः अक्षतैः सत्वक्कैयवैः वा विकल्पेन एतेषामन्यतमेनेत्यर्थः। अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति स यं सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः तत्र सायं अग्नये स्वाहेति पूर्वाहुतिं प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां जुहुयात् सर्वत्र प्रजापतियाग उपांशुस्वाहाकारः श्राव्यस्त्यागश्च आधारे तु स्वाहांतेऽपि मानसः तथा सूर्याय स्वाहेति पूर्वां प्रजापतये स्वाहेत्युत्तरां प्रातः। त्यागास्तु प्रयोगे वक्ष्यन्ते ते च यजमानेन कार्याः। कुतः प्रधानत्वात्प्रधानꣳस्वामी फलयोगादिति कात्यायनवचनात् प्रधानं द्रव्यस्वत्वपरित्यागः ततश्च प्रवसता यजमानेन यथाकालं यथादैवतं शुचिना आचांतेन प्राङ्मुखोपविष्टेन सर्वकर्मसु कर्त्तव्याः तत्र 'सायमादि प्रातरंतमेकं कर्म प्रचक्षते' इतिवचनात् सायं होमद्रव्येणैव प्रातर्होमः कर्त्तव्यः तथा येन होत्रा सायं हुतं तेनैव प्रातर्होतव्यम् येनारंभस्तेनैव समाप्तिरितिन्यायाच्च तथा दधितण्डुलयवानामलाभे श्यामाकनीवारवेणुयवकंदमूलफलजलसप्तानांपू र्वपूर्वालाभे परं परं नित्यहोमाय ग्राह्यम्। कन्दं सूरणादि। फलमाम्रादि। अस्यैव कर्मणः कामसंयोगमाह। पुमाꣳसौ मित्रावरुणावित्यादिना पुनः स्वाहेतिपूर्वां गर्भकामाः) पुमांसौ मित्रावरुणावित्यादिना मन्त्रेण गर्भकामा पत्नी पूर्वामाहुतिं जुहुयात्। अत्र पूर्वां गर्भकामेत्यस्य कोऽर्थः। किं नित्ययोर्द्वयोराहुत्योः प्रथमा पूर्वशब्देन विवक्षिता उत ताभ्यां पूर्वा पूर्वां होतव्या अन्यैव किं तावत्प्राप्तम्। अन्यैवेति मन्त्रांतरेण देवतांतरहोमविधानात्। मन्त्रस्य देवतायाश्च गुणत्वेन कर्मभेदकत्वात्। किंच द्वयोः प्रथमायाः पूर्वत्वे विवक्षिते नित्याग्नेस्य सौर्यस्य च बाधः प्रसज्येत। अत्रोच्यते। सत्यम्। मन्त्रदेवतयोः कर्मभेदकत्वपूर्वां गर्भकामेतीदं काम्यं कर्म। प्रकृतं तु नित्यं काम्यं नित्यस्य बाधकम्। पुरुषार्थसमासक्तेः काम्यं नित्यस्य बाधकमिति न्यायात्। तस्मादग्नये स्वाहा सूर्याय स्वाहेति नित्ये आहुती बाधित्वा पुमांसौ मित्रावरुणावित्यादिमन्त्रविहिता पत्नीकर्तृका

कर्मांतररूपा हि काम्याहुतिः प्रवर्त्तते तथा गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदित्यत्र काम्यं गोदोहनप्रणयनं नित्यं चमसं बाधित्वा प्रवर्त्तते अत्र कथं बाध्यबाधकभावः । उच्यते=नित्यं तावदफलं अकरणे प्रत्यवायजनकं काम्यं तु फलवत्तत्र फलवत् बलवत् अफलं दुर्बलं बाधते अत्र यदि केचित् प्रत्यवतिष्ठेरन् आधानानुविधानानन्तरं सायंप्रातर्होमानुविधानं कर्त्तव्यमाचार्येण केन हेतुनाऽत्र कृतं को दोष इति चेत् परप्रकरणाम्नातं कथं षड्चर्या भवन्तीत्यारभ्यतामुदुह्येत्यंतं विवाहप्रकरणं यतः तत्र समाधीयते सूत्रकारस्य शैलीयं विवाहात्प्राक् आवसथ्याधानकथं यथा न चेच्छंकनीयं विवाहाग्निरेवावसथ्याग्निरिति पक्षश्चाचार्याभिमतः तेनात्र होमानुविधानं कृतमिति विवाहाग्नेरोपासनत्वं कुतो वागत-मिति चेत् "वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत स्मार्त्तं कर्म यथाविधिः । पंचयज्ञविधानं च पंक्ति चान्वाहिकीं द्विजः" इति मनुवचनात् 'कर्म स्मार्त्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही । दायकालहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिजाग्निषु' इति याज्ञवल्क्यवचनात् कृतविवाहस्य सभार्य-स्यावसथ्याधानाधिकारः आश्वलायनगोभिलादिगृह्यकारवचनाच्च तस्माद्बहुसंमतत्वात् विवाहसमनन्तरमेष होमविधानाच्चाचार्यस्य विवाहहोमसाधनाग्निरेवौपासनः संमत इति तत्रोच्यते आश्वलायनगृह्यमतं मन्वादिवचनं तु यथागृह्यमाहितौपासनाग्निपरं स्वस्व-शाखाधर्मप्रतिपादनपरं वाजसनेयिनां पंचदशशाखाश्रयिणां मध्यंदिनकाण्वप्रभृतीनां च पारस्कराचार्यस्य तु आवसथ्याधानप्रयोगं विवाहप्रयोगात्पृथगनुविदधते नैष पक्षः संमत इति गम्यते यदि विवाहाग्निरेवौपासनाग्निरिति संमतः स्यात्तदावसथ्याधानं दारकाल इत्यादिना पृथक् प्रयोगमनुविदध्यात् विवाहहोमेनैव आवसथ्याग्नौ सिद्धे पृथक् प्रयोगा-रंभस्य वैयर्थ्यात् तस्मादन्यस्थानपाठो न दोषः इदं च औपासनपरिचरणं सर्वदा न सकृत् यतः ततोऽस्तमितेऽग्निपरिचर्यंदर्व्योपघातं सक्तून् सर्वेभ्यो बलिठंहरेत् इति बलिहरणविधिपरे वाक्ये परिचरणस्य नित्यत्वं ज्ञापयति "छिन्नं लूनं च पिष्टं च सान्नाय्यं मृन्मयं तथा । लोकसिद्धं गृहीतं चेन्मंत्रा जप्याः कठाशयात् ॥ छिन्नादि लोकसिद्धं चेदाद्रियेत क्रतुं प्रति । तत्तन्मंत्रजपं प्राह भारद्वाजः कृताकृतम् ॥ छिन्ने चावहने लूने पिष्टे दुग्धे च मृन्मये । खातेऽथ लौकिके प्राप्ते जपो नास्त्येव वाजिनाम् ॥" अत्र च न मंत्रांते स्वाहाकारहोमौ किंतु आदावेव नवोंकार-प्रतिमंत्रं किंतु आद्य एव यदाह "स्वाहा कुर्यान्न मंत्रांते न चैव जुहुयाद्धविः । स्वाहा-कारेण हुत्वाग्नौ पश्चान्मंत्रं समापयेत् ॥" सामगानमयं "नो कुर्याद्धोममंत्राणां पृथगादिषु कुत्रचित् । अन्येषां चाविकृष्टानां कालेनाचमनादिना ॥" अविकृष्टानामनंतरितानां कालेन आचमनादिना वा । अथ प्रयोगः । आवसथ्याधानोत्तरकालं तद्दिवस एव सायंप्रातर्होम-निमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा संध्यावंदनानंतरमग्निसमीपं गत्वा पश्चादग्नेः प्राङ्मुख उपविश्य उपयमनकुशान् समिधस्तिस्रः मणिकवारिदध्यादीना-मन्यतमं होमद्रव्यमग्नेरुत्तरतः प्रांचः आसाद्य उपयमनकुशानादाय तिष्ठन् समिधोऽभ्या-धाय पर्युक्ष्य द्वादशपर्वपूरकेण दधितंडुलयवानामेकतमेन द्रव्येण हस्तेनैव स्वांगारिणि स्वार्चिषि वह्नौ मध्यप्रदेशे देवतां ध्यायन् जुहुयात् । अग्नये स्वाहा इदमग्नये तदुत्तरतः

मनसा प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये इति सायं तथैव सूर्याय स्वाहा इदं सूर्याय। प्रजापतये स्वाहा इति प्रातः। पत्नी चेद्गर्भकामा भवति तदा पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ। पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाꣳसंवर्त्ततां मयि। पुनः स्वाहेति पूर्वामाहुतिं पत्नी जुहोति उत्तरार्द्धं यजमानः। इदं मित्रावरुणाभ्यामश्विभ्यामिन्द्राय सूर्याय च ॥ इति नित्यहोमविधिः ॥ अथ नैमित्तिकमुच्यते ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे नवमा कण्डिका ॥ ९ ॥

सरला

१. (विवाहित व्यक्ति प्रतिदिन) 'उपयमनान्कुशानादाय' प्रभृति (कुश-कण्डिकोक्त विधि से) अग्नि की परिचर्या करे (—अग्न्याधान कर अग्निहोत्र करे)।

२. (प्रातः) सूर्योदय होने से पूर्व (और सायंकाल) सूर्यास्त होने पर दहीं, तण्डुल अथवा अथवा अक्षतों से होम करे।

३. सायंकाल 'अग्नये स्वाहा' और 'प्रजापतये स्वाहा' मंत्र पढ़कर दो आहुतियाँ (डाली जायें)।

४. प्रातः 'सूर्याय स्वाहा' और 'प्रजापतये स्वाहा' मंत्र पढ़कर दो आहुतियाँ (डाली जायें)।

५. यदि यजमान-पत्नी गर्भ चाहती हो तो 'पुमांसावश्विनावुभा....' मंत्र पढ़कर नित्य आहुतियों से पहले एक आहुति डाले। (केवल यही एक आहुति स्त्रीकर्तृक है, शेष पुरुषकर्तृक हैं)।

टिप्पणी—१. उदित और अनुदित होम के विषय में बड़ा विवाद है। यजुर्वेदी तो नित्य अनुदित होम ही करते हैं। सामवेदियों के लिए वैकल्पिक व्यवस्था है, चाहे उदित करें, चाहे अनुदित। ऋग्वेदी उदित होम ही करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि जो लोग सूर्योदय से पहले होम करते हैं, वे सवेरे-सवेरे झूठ ही बोलते हैं—

'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति येऽग्निहोत्रम्। दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् ॥

६. अग्निहोत्र स्वयं ही करना चाहिए। असमर्थ और अशक्त होने पर किसी अन्य से भी कराया जा सकता है—

'संध्याकर्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते।
स्वयं होमे फलं यत्स्यान्न तदन्येन लभ्यते ॥
होमे यत्फलमुद्दिष्टं जुह्वतः स्वयमेव तु।
हूयमाने तदन्येन फलमर्द्धं प्रपद्यते ॥'—स्मृत्यर्थसार

उसकी विधि भी वहीं बताई गई है—

'यजमानः प्रधानं स्यात्पत्नी पुत्रश्च कन्यका।
ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः ॥

एतैरेव हुतं यत्तु तद्धुतं स्वयमेव हि।
पत्नी कन्या च जुहुयाद्विना पर्युक्षणक्रियाम् ॥'
—वही।

३. मंत्रार्थ अत्यन्त सुगम है।

दशमकण्डिका

राज्ञोऽक्षयभेदे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने तमेवाग्निमुपसमाधायाज्यꣳसंस्कृत्येहरतिरिति जुहोति नानामंत्राभ्याम् ॥ १ ॥ अन्यद्यानमुपकल्प्यतत्रोपवेशयेद्राजानं स्त्रियं वा प्रतिक्षत्र इति यज्ञान्तेनात्वाहार्षमिति चैतया ॥ २ ॥ धुर्यो दक्षिणा ॥ ३ ॥ प्रायश्चित्तिः ॥४॥ ततो ब्राह्मण-भोजनम् ॥ ५ ॥ १० ॥

हरिहरभाष्यम्

(राज्ञोक्षभेदेनड्वविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने) राज्ञः प्रजापालनाधिकृतस्य यात्रादिप्रस्थितस्य अक्षभेदे रथावयवभंगेऽनड्व विमोक्षेऽनड्वस्य रथस्य विमोक्षे सन्नहनच्छेदे वा यानविपर्यासे यानस्य विपर्यासे अधोमुखादिभावे वा अन्यस्यां वा व्यापत्तौ अन्यस्मिन् वा अशुभसूचके निमित्ते। स्त्रियाश्चोद्वहने उद्वाहितायाः पूर्वं पतिगृहनयने च शब्दात् रथाक्षभेदादिकनिमित्ते संजाते नैमित्तिकप्रायश्चित्तरूपं कर्मोच्यते। कर्मोपयाते प्रायश्चित्तं तत्कालमिति वचनात् निमित्तसमनंतरमेव नैमित्तिकं कुर्यात्। तद्यथा। (तमेवाग्निमुपसमाधायाज्यꣳ संस्कृत्येह रतिरिति जुहोति नानामंत्राभ्याम्) तमेवेति यदि राज्ञो निमित्तं तदा प्रास्थानिकं सेनाग्नि यदि स्त्रिया वैदिकमग्नि पंचभूसंस्कारान् कृत्वा उपसमाधाय स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्तां कुशकण्डिकां विधाय एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेनैवाज्यसंस्कारे प्राप्ते पुनराज्यꣳ संस्कृत्येति वचनमाघारहोमात्प्रागेव इह रतिरित्याज्याहुतिद्वयप्राप्त्यर्थम्। ततश्च पर्युक्षणान्ते इह रतिरितिनानामंत्राभ्यां द्वाभ्यां जुहोत्याहुतिद्वयं तत आघारादिस्विष्टकृदंते (अन्यद्यानमुपकल्प्य तत्रोपवेशयेद्राजानꣳ स्त्रियं वा प्रतिक्षत्र इति यज्ञांतेनात्वाहार्षमिति चैतया) अन्यद्रथादिकं यानं वाहनमुपकल्प्य संयोज्य तत्र तस्मिन् याने राजानं नृपं स्त्रियं चोद्वाहितां वधूमुपवेशयेत्। आरोहयेत्। कथं प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामीत्यादिना प्रतितिष्ठामि यज्ञ इत्यंतेन मंत्रेण। आत्वाहार्षमित्येतयर्चा। (धुर्यो दक्षिणा प्रायश्चित्तिः) धुर्यौ धुरि साधू अनड्वाहौ दक्षिणा ब्राह्मणेभ्यो देया। दक्षिणाशब्दः परिक्रयार्थे द्रव्ये वर्त्तते। येन ऋत्विजामानतिर्भवति। इदं कर्म प्रायश्चित्तिः। दुर्निमित्तसूचितदुरितापहारिणी। अतः सति निमित्ते भवति। (ततो ब्राह्मणभोजनम्) ततः कर्मसमाप्त्यनंतरं ब्राह्मणस्य भोजनं कारयितव्यम्। इति सूत्रार्थः। अथ प्रयोगः। अक्षादिनिमित्तानामेकतमे निमित्ते संजाते शुचौ देशे पंचभूसंस्कारान् कृत्वा राज्ञः सेनाग्निमुपसमाधाय वध्वा वरः वैवाहिकमग्नि ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणांते इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः

स्वाहेति प्रथमामाहुतिं जुहुयात् इदमग्नये इत्याहुतिद्वयं हुत्वा उपसृजन् वरुणम्मात्रे वरुणोमातरन्धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहेति द्वितीयां इदमग्नये इत्याहुतिद्वयं हुत्वा तत आधारादिस्विष्टकृदंतं चतुर्दशाहुतिकं होमं विधाय संस्रवं प्राश्याचम्य धूर्यावनड्वाहौ। ब्रह्मणे अस्य कर्मणः प्रतिष्ठार्थम् एतावनड्वाहौ ब्रह्मंस्तुभ्यं ब्रह्मणे मयादत्ताविति प्रयोगेण दक्षिणां दत्वा। अन्यद्यानमानीय तत्पुरोहितो राजानं वरो वधूमुपवेशयेत्। प्रतिक्षत्त्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे आत्वाहार्षमितिमंत्राभ्याम्। ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे दशमी कण्डिका ॥ १० ॥

सरला

१. (यात्रा करते हुए) राजा के रथ की धुरी टूट जाने, बँधे रथ के आकस्मिक रूप से खुल जाने, यान के उलट जाने या अन्य किसी विपत्ति में पड़ जाने अथवा स्त्री के पितृगृह से पतिगृह जाने पर सेनाग्नि या वैवाहिक अग्नि में आज्य-संस्कार कर 'इह रति'……मंत्र पढ़ते हुए दो आहुतियाँ डाले; फिर विविध मंत्रों से दो आहुतियाँ डाले।

२. (स्विष्टकृत् आहुति के अनन्तर) अन्य यान की व्यवस्था कर उसमें 'प्रतिक्षत्रे…' तथा 'आत्वाहार्षं…' ऋचायें पढ़ते हुए राजा या स्त्री को बिठाये।

३. धुरी में जुतनेवाले दो बैल दक्षिणा रूप में (दिए जायें)।

४. इस कर्म से दुर्निमित्त सूचित दुरितों का निराकरण होता है।

५. (कर्मान्त में) ब्राह्मण को भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. आहुतिक्रम—'इहरतिरिह रमध्वं इह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा—' 'पहली आहुति।

'इदमग्नये०। उपसृजन् वरुणं मात्रे वरुणो मातरन्धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा'—दूसरी आहुति। फिर आधार से स्विष्टकृत तक १४ आहुतियाँ डाली जायेंगी।

२. कुशकण्डिकोक्त पञ्चभूसंस्कार यहाँ भी होंगे।

मंत्रार्थ

१. प्रतिक्षत्रः…।

प्रजापति, अतिशक्वरी, विश्वेदेव।

२. आत्वाहार्षम्…।

ध्रुव' अनुष्टुप्, अग्नि।

(दोनों मंत्र और उनके अर्थ परिशिष्ट में देखें)

एकादशकण्डिका—गर्भाधान

चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ १ ॥ अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यैनाशाय स्वाहा। सूर्यप्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। इन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशाय स्वाहा। गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहेति ॥ २ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति प्रजापतये स्वाहेति ॥ ३ ॥ हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे संस्रवान्त्सभवनीय तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति। या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासाविति ॥ ४ ॥ अथैनां स्थालीपाकं प्राशयति प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधाम्यस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति ॥ ५ ॥ तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ ६ ॥ तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम् ॥ ७ ॥ यथाकामी वा काममाविजनितोः संभवामेति वचनात् ॥ ८ ॥ अथास्यै दक्षिणांसमधिहृदयमालभते। यत्ते सुशीले हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ ९ ॥ एवमत ऊर्ध्वम् ॥ १०–११ ॥

हरिहरभाष्यम्

(चतुर्थ्यामपररात्रेभ्यंतरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳश्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति) चतुर्थ्यां तिथौ विवाहतिथिमारभ्य अपररात्रेः रात्रेः पश्चिमे यामे अभ्यंतरतः गृहस्य मध्ये अग्निं वैवाहिकमुपसमाधाय पंचभूसंस्कारान् कृत्वा स्थापयित्वा दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्र पूर्ववद् ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीतास्थानाद् उत्तरतः जलपूर्णं ताम्रादिपात्रं स्थापयित्वा अत्र ब्रह्माणमुपवेश्येति। पुनर्वचनमुदपात्रप्रतिष्ठापनाव सरज्ञापनार्थम्। स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा पर्युक्षणांते आघारानंतरमाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति आज्येन पंचाहुतीर्वक्ष्यमाणैर्मंत्रैर्जुहोति (अग्ने प्रायश्चित्त इत्यादिभिः) स्थालीपाकस्य जुहोति। स्थालीपाकस्य चरोः प्रजापतये स्वाहेत्येकामाहुतिं जुहोति (हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे सꣳस्रवान्त्समवनीय) अग्ने प्रायश्चित्त

इत्यादीनां प्रजापत्यंतानां षण्णामाहुतीनां प्रत्येकं हुत्वा संस्रवान् हुतशेषानुदपात्रे समवनीय प्रक्षिप्य केषांचिन्मते स्विष्टकृदाहुतेरपि (तत एनां मूर्धन्यभिषिचति) ततस्तस्मादुदपात्रादुदकमादाय एनां वधूं वरो मूर्धन्यभिषिंचति (या ते पतिघ्नी इत्यादिना सा जीर्यत्वं मया सहामुकि देवि इत्यंतेन । अथैनाठंस्थालीपाकं प्राशयति) अथाभिषेकानंतरमेनां वधूं स्थालीपाकं चरुशेषं (प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामीत्यादिना त्वचा त्वचमित्यंतेन मंत्रेण) वरः प्राशयति (तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित् परो भवति) यतोऽनेन चरुशेषप्राशनकर्मणा भर्त्रा सहैक्यं प्राप्ता दाराः तस्मादेवंवित्पुरुषः श्रोत्रियस्य विदुषः दारेण भार्यया सह उपहासं मैथुनं नेच्छेत् न कामयेत् हि यस्मात् एवंविदपि श्रोत्रियः परः शत्रुर्भवति (तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्) एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण

तां वधूम् उदुह्य विवाहयित्वा विवाहकर्मणा भार्यात्वं संपाद्य यथर्तुप्रवेशनम् ऋतुकालमृतुकालं प्रवेशनमभिगमनं कुर्यादितिशेषः (यथाकामी वा) स्त्रियाः काममनतिक्रम्य यथाकामं तदस्यास्तीति यथाकामी वा भवेत् । न ऋतुकालाभिगमननियमः । कुतः (काममाविजनितोः सम्भवामेति वचनात्) कामं स्वेच्छया आविजनितोः आप्रसवात् संभवाम भर्त्रा सह संभवामेति स्त्रीणामिंद्राद्वरप्रार्थनावचनात् । प्रजापतेरिति केचित् । अत्र यद्यपि यथर्तुप्रवेशनमिति सामान्येनोक्तम् । तथापि स्मृत्यंतरोक्तपर्वादिनिषेधपालनं कुर्यात् । यथाह मनुः । "अमावास्याष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः' । याज्ञवल्क्योऽपि "षोडशर्तुनिशा स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत् । ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्" ॥ इत्यादिनिषेधो याथाकाम्यपक्षोप समान एव । यतः प्राप्तेभिगमने निषेधः प्रवर्त्तते । गर्भिण्यभिगमने निषेधस्तु काममाविजनितोः संभवामेति वचनात् बाध्यते ऋतावनभिगमने दोषमाह । "ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ॥ घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः । तथा । ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति ॥ घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ तथा । लोकानंत्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकः । यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिताः" ॥ इत्यादिभिः स्मृतिभिः स्त्रीरक्षाया विहितत्वात् । तासां कामातिक्रमणे व्यभिचारशंकासंभवाद्रक्षार्थं याथाकाम्यम् । तस्माद्याथाकाम्ये तु न नियमः । यथाकामा वेति विकल्पाभिधानात् । अनभिगमने तु प्रत्यवायस्मरणाच्च अतो लोकानंत्यं दिवः प्राप्तिश्च (अथास्यै दक्षिणाठंसमधिहृदमालभते । यत्ते सुसीम इति) अथाभिगमनानंतरमस्यै अस्या भार्यायाः दक्षिणांसं दक्षिणस्कंधसमधि उपरि दक्षिणं हस्तं नीत्वा हृदयमालभते हृदयं वक्षः आलभते स्पृशति (यत्ते सुसीमेत्यादिना शृणुयाम शरदः शतमिति अनेन मंत्रेण एवमत ऊर्ध्वम्) एवमनेनैव प्रकारेण अतोनंतरं ऋतावृतौ प्रवेशनं यथाकामं वा इति सूत्रार्थव्याख्या ॥ अथ चतुर्थीप्रयोगः ॥ तत्र विवाहाच्चतुर्थ्यामपररात्रे गृहाभ्यंतरतः पंचभूसंस्कारान् कृत्वा विवाहाग्नेः स्थापनम् । दक्षिणतः ब्रह्मोपवेशनम् । प्रणीतास्थापनादुत्तरतः उदपात्रस्थापनम् । प्रणीताप्रणयनादि आज्यभागांतमावसथ्या-

धानवत् कुर्यात् । आज्यभागानंतरमग्ने प्रायश्चित्त इत्यादिभिः पंचभिर्मंत्रैः पंचाज्याहुतीर्हुत्वा । तद्यथा । अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा । इदमग्नये ॥ वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा । इदं वायवे ॥ सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरपि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा इदꣳ सूर्याय । चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा । इदं चंद्रमसे । गंधर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा । इदं गंधर्वाय । ततः स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये । इति प्राजापत्यांतं हुत्वा अग्ने प्रायश्चित्त इत्यादिप्राजापत्यांतानां षडाहुतीनां संस्रवमुदपात्रे प्रक्षिपेत् । केषांचिन्मते स्विष्टकृतोऽपि संस्रवं प्रक्षिपेत् । अन्यासामाहुतीनां पात्रांतरे संस्रवान्प्रक्षिपेत् । ततोऽग्नये स्विष्टकृते । हुत्वाऽऽज्येन महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यांतानाहुतीर्वा जुहोति । ततः पात्रांतरस्थान् संस्रवान् प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्वा उदपात्रादुदमादाय वधूं मूर्धन्यभिषिंचति । या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निंदिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासाविति इत्यनेन मंत्रेण अथ वरः वधूं स्थालीपाकं हुतशेषं सकृत्प्राशयति । प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामि अस्थिभिरस्थीनि माꣳसैर्माꣳसानि त्वचा त्वचमिति अनेन मंत्रेण सा च भर्त्रा मंत्रे पठिते प्राश्नाति । अथ ऋतुकाले रजोदर्शने संजाते पुण्याहे गर्भाधाननिमित्तं मातृपूजापूर्वकं स्वयमाभ्युदयिकं कृत्वा रात्रावभिगमनं कुर्यात् । अभिगमनानंतरं वध्वा दक्षिणस्कंधस्योपरि दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं स्पृशति यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चंद्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतमित्यनेन मंत्रेण ! एव श्राद्धवर्जं प्रत्यृतुकालमभिगमनं कुर्यात् । यथाकामी वा भवेत् ऋतुकालाभिगमनं कुर्वन् ब्रह्मचर्यात् न स्खलति । 'ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्' । इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । अनभिगमने तु दोषस्य श्रवणात् । "ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां ब्रह्महत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ ऋतुस्नातां तु यो भार्यां शक्तः सन्नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः" ॥ इत्यादिप्रत्यवायस्मरणाच्च ऋतुकालाभिगमने । नियमः । यथाकामी चेति याथाकाम्ये तु न नियमः ॥ विकल्पविधानात् । अतो "अलोकानंत्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः । यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्त्तव्याश्च सुरक्षिताः" । इत्यादिभिः स्मृतिभिः स्त्रीरक्षणविहितत्वात् । तासां कामातिक्रमणे व्यभिचारशंकासंभवात् मद्रक्षार्थं याथाकाम्यमिति चतुर्थीपद्धतिः ॥ विष्णुपुराणे । "ऋतावभिगमः शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते । पुन्नामर्क्षे शुभे काले श्रेष्ठे युग्मासु रात्रिषु ॥ नास्नातां तां स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम् ।

नाप्रशस्तां न कुपितां नानिष्ठां न च गुर्विणीम् ॥ नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम् । क्षुत्क्षामामतिभुक्तां वा स्वयं चैभिर्गुणैर्युतः ॥ स्नातः स्रग्गंधधृक् प्रीतो नाध्मातः क्षुधितोऽपि वा । सकामः सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत् ॥ चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याथ पूर्णिमा । पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रविसंक्रांतिरेव च ॥ तैलस्त्रीमांससंभोगी पर्वस्वेतेषु वै पुमान् । विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं स्मृतः ॥"

॥ इति चतुर्थीकर्मपद्धतिः ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे एकादशकण्डिका ॥ ११ ॥

सरला

१-२. (विवाह के) चौथे दिन रात के पिछले पहर घर के अन्दर वैवाहिक अग्नि की स्थापना कर, दाहिनी ओर ब्रह्मा को बिठाकर, उत्तर की ओर जलपूर्ण पात्र रखकर, चरु पकाकर अग्नि और सोम की दो आहुतियां देकर 'अग्ने प्रायश्चित्ते ...' प्रभृति (पांच) मंत्र पढ़कर (पांच) आज्याहुतियाँ (दें) ।

३. 'प्रजापतये स्वाहा' कहकर स्थालीपाक की एक आहुति दी जाये ।

४. (ये छह) आहुतियाँ डालकर जलपात्र में अवशिष्ट अंश रखकर 'या ते पतिघ्नी ...' मंत्र पढ़ते हुए वधू के सिर पर जल छिड़के ।

५. अभिषेक के अनन्तर शेष चरु में से कुछ अंश लेकर 'प्राणान्त्संदधामि ...' मंत्र पढ़ते हुए वधू को खिलाये ।

६. इस चरु-प्राशन से पत्नी पति के साथ एक हो जाती है अतः ऐसे विद्वान् पति की पत्नी के साथ कोई भी व्यक्ति उपहास तक करने की इच्छा न करे क्योंकि ऐसा करने पर वह श्रोत्रिय पति का परम शत्रु बन जाता है ।

७. पूर्वोक्त विधि से वधू के साथ विवाह कर ऋतुकालपूर्वक स्त्रीप्रसंग करे ।

८. अथवा स्त्री की कामना के अनुसार मैथुन करे (क्योंकि स्त्रियों ने इन्द्र से यह वर माँग लिया था कि) जब हम चाहें, अपने पति के साथ सहवास करें ।

९. (मैथुन के अनन्तर) 'यत्ते सुसीमे ...' मंत्र पढ़कर वर दाहिने कंधे के ऊपर से हाथ ले जाकर वधू के हृदय का स्पर्श करे ।

१०. बाद में भी इसी प्रकार से (गर्भाधान) किया जाए ।

टिप्पणी—१. कर्क के अतिरिक्त अन्य सभी भाष्यकारों ने मैथुन-सम्बन्धी कुछ स्मृतिगत नियम उद्धृत किए हैं; संक्षेप में वे ये हैं—

(१) अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी को ऋतुकाल में भी ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिए ।

(२) इनके अतिरिक्त ऋतुकाल के अन्य दिनों में जो व्यक्ति स्त्री-सहवास नहीं करता उसे घोर भ्रूणहत्या का पाप लगता है ।

(३) स्त्री-प्रसंग की दृष्टि से युग्म रात्रियाँ प्रशस्त मानी गई हैं ।

(४) अस्नाता, आतुरा और रजस्वला, कुपिता, अकामा, परस्त्री, भूखी-प्यासी, अधिक खाई हुई और अप्रशस्त स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं करना चाहिए।

(५) स्नान करके सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन कर और अनुरक्त होकर ही मैथुन करना चाहिए।

मंत्रार्थ

१. अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, अग्नि।

हे सर्वदोषापहारक अग्निदेव ! तुम देवताओं के दोषों का निवारण करते हो; मैं वेदाध्यायी ब्राह्मण ऐश्वर्य और आशीर्वाद की कामना से तुम्हारी आराधना करता हूँ। तुम इस वधू के पति-विघातक अंश को नष्ट कर दो।

(चन्द्र, वायु, सूर्य और गन्धर्व सम्बन्धी मंत्रों का अर्थ भी कुछ परिवर्तन के साथ यही होगा।)

२. याते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासौ ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता।

हे कन्ये ! तुम्हारे शरीर के जो अंग पति, पुत्र, गृह और यश को नष्ट करने-वाले हैं—उनसे मैं जार का नाश करता हूँ। तुम मेरे—पतिके—साथ निर्विघ्न वृद्धावस्था तक जीवन का आनन्द लो।

३. प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामि अस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचम् ॥

प्रजापति, यजुष्; वधू।

हे कन्ये ! मैं अपने प्राणों के साथ तुम्हारे प्राणों को, अस्थियों के साथ अस्थियों को मांस से मांस को और त्वचा के साथ त्वचा को संयुक्त करता हूँ।

४. यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम् शृणुयाम शरदः शतम् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, वधू।

हे सुन्दर सीमन्तिनि कन्ये ! तुम्हारा द्युलोकस्थ चन्द्रमा में केन्द्रित हृदय मुझे जाने, मैं उसे जानूँ—हम सौ वर्ष तक नेत्र और श्रवणेन्द्रियों से स्वस्थ रहकर जीवन का आनन्द लें।

द्वादशकण्डिका—पक्षादि कर्म

पक्षादिषु स्थालीपाकꣳश्रपयित्वा दर्शपूर्णमास देवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यामिति ॥ १ ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्य आकाशाय च ॥ २ ॥ वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोत्यग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति ॥ ३ ॥ बाह्यतः स्त्रीर्बलिं हरति नमः स्त्रियै नमः पुंसे वयसेऽवयसे नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापीनां पतये नमः। ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यो नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददत्विति ॥ ४ ॥ शेषमद्भिः प्रप्लाव्य । ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥५-१२॥

हरिहरभाष्यम्

(पक्षादिषु स्थालीपाकꣳश्रपयित्वा दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यामिति) पक्षाणामादयः पक्षादयः तासु पक्षादिषु प्रतिपत्सु । अत्र यद्यपि पक्षादिष्वित्युक्तं तथापि संधिमभितो यजेतेतिवचनात् । "पर्वणोयश्चतुर्थांश आद्यः प्रतिपदस्त्रयः । यागकालः स विज्ञेयः प्रातर्युक्तो मनीषिभिः" इति पर्वचतुर्थांशोऽपि यागकालत्वेनाभिमतः तथा "पूर्वाह्णे वाथ मध्याह्ने यदि पर्वसमाप्ते । तदैव यागकालः स्यात्परतश्चेत्परेऽहनि ।।" तत्रापि "संधिर्यदा पराह्णे स्याद्यागं प्राप्तः परेऽहनि । कुर्वाणः प्रतिपद्भागे चतुर्थेपि न दुष्यति" इति। इत्यादिभिर्वचनैर्यागकालं निर्णीय । पर्वदिवसे कृतौ यवसथिकाशनः सपत्नीकः शालायां जवनेनाग्निं रात्रौ जाग्रत् मिश्र इतिहासमिश्रो वा पृथक् शयित्वा प्रातः कृतस्नानसंध्यावंदनप्रातर्होमः स्वाचांतोऽग्नेः पश्चात् प्राङ्मुख उपविश्य पूर्वोक्तविधिना चरुं श्रपयित्वाज्यभागांते दर्शे दर्शे देवताभ्यः पौर्णमासदेवताभ्यः प्रयोगे वक्ष्यमाणाभ्यश्चरुं हुत्वा ब्रह्मप्रजापतिविश्वेदेवाद्यावापृथिवीभ्यश्चरुं जुहोति (विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्यः आकाशाय च) बलिहरणं स्थालीपाकादेव विश्वेभ्यो देवेभ्यो भूतगृह्येभ्यः । आकाशाय च बलिहरणं बलिदानम् । वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोति । (अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्य· स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति) वैश्वदेवस्य विश्वेदेवादेवपितृमनुष्यदेवता अस्येति वैश्वदेवः पाकः पंचमहायज्ञार्थी साधितपाक इत्यर्थः । ननु वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोतीति विश्वेदेवसंबद्धस्य चरोस्तदघृतोपात्तस्य वा अग्नौ जुहोतीति कथं नोच्यते । यथा वृषोत्सर्गे पौष्णस्य जुहोतीति पूषसंबद्धः पृथगेव पिष्टमयः पूर्वसिद्धः चरुर्गृह्यते किमिति पंचमहायज्ञार्थः । उच्यते स्थालीपाकꣳश्रपयित्वेत्यत्र स्थालीपाकस्यैकवचनांतत्वाद् द्वितीयस्य वैश्वदेवस्य चरोरभावोऽगम्यते । पौष्णवत् वैश्वदेवस्य सिद्धोपात्तस्य पृथगुपादानं पंचमहायज्ञार्थं वैश्वदेवपाकस्य सद्भावान्निवर्त्तते । पंचमहायज्ञार्थस्य वैश्वदेवत्वकृतं इतिचेत् वैश्वदेवान्नात्पर्युक्ष्येति सूत्रात् । अग्नौ जुहोतीति अग्निग्रहणं बलिकर्मतामाभूदिति । अग्नये स्वाहेत्यादिप्रयोगदर्शनार्थं सर्वत्र तस्यैकदेशस्योद्धृत्यासादित-

प्रोक्षितस्य अग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो हुत्वा स्थालीपाकाद्वैश्वदेवाच्च अग्नये स्विष्टकृते जुहोति। ततः शेषः समाप्तिं विधाय (बाह्यतः स्त्रीबलिंहरति) प्रयोगे वक्ष्यमाणैर्नमः स्त्रियइत्यादिभिर्मंत्रैः बाह्यतः शालायाः प्रांगणे स्त्रीबलिं स्त्र्यादिभ्यो बलिः स्त्रीबलिस्तं स्त्रीबलिं हरति ददाति शेषमद्भिः प्रप्लाव्य स्थालीस्थितमवशिष्टं चरुमद्भिर्जलेन प्रप्लाव्य मज्जयित्वा अत्रापः प्रणीताः तासां सर्वकर्मार्थत्वेन प्रणीतत्वात्। ततो ब्राह्मणभोजनं व्याख्यातं सूत्रार्थः॥ अथ पक्षादिकर्मोच्यते॥ तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अमाषममांसमक्षारलवणं हविष्यं व्रताशनं विधाय रात्रावग्निसमीपे भूमौ दंपती पृथक् शयीयातां प्रातः स्नात्वा संध्यावंदनानन्तरं प्रातर्होमं च निर्वर्त्य उदिते सूर्ये पौर्णमासं स्थालीपाकमारभेत तत्रात्मनः ब्रह्मणः प्रणीतानां चासनचतुष्टयं कुशैर्दत्वा पक्षादिकर्मणाहं यक्ष्ये यत्र मे त्वं ब्रह्मा भव भवामीति तेनोक्ते आसने उपवेश्य अत्रासादने वैश्वदेवान्नासादनं विशेषः तत्प्रोक्षणं च आज्यभागांतं यथोक्तं कर्म निर्वर्त्य स्थालीपाकमभिघार्य स्रुवेण चरुमादाय अग्नये स्वाहा अग्नीषोमाभ्याठं स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्याम् उपांशु पुनः अग्नीषोमाभ्याठं स्वाहा इदमग्नीषोमाभ्याम् उच्चैः ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये विश्वेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्योः देवेभ्यः द्यावापृथिवीभ्याठं स्वाहा इदं द्यावापृथिवीभ्यां हुतशेषं स्रुवेण अग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः भूतगृह्येभ्यो नमः इदं भूतगृह्येभ्यः आकाशाय वेति स्रुवेण बलित्रयं दत्वा अभिघारितवैश्वदेवान्नात्स्रुवेणादाय अग्नये स्वाहा इदमग्नये प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः इत्याहुतित्रयमग्नौ हुत्वा स्थालीपाकोत्तरार्द्धाद्वैश्वदेवोत्तरार्द्धाच्च अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते इति हुत्वा भूरित्यादि प्राजापत्यांतानवाहुतोर्जुहुयात् संस्रवप्राशनमार्जनं पवित्रप्रतिपत्तिः न प्रणीताविमोकः ब्रह्मणे दक्षिणादानांतं कृत्वा चरुशेषमादाय शालाया बहिरुपलिप्तायां भूमौ प्राङ्मुख उपविश्य स्रुवेण नमः। स्त्रियै नमः पुठंसे वयसे नमः इदं पुठंसे वयसे नमः शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापिनां पतये नमो ये मे प्रजासुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वाऽरण्ये तेभ्यः इदं ये मे इत्यादि नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेस्तु प्रजां मे ददतु इदं स्त्रियै पुठंसे वयसे शुक्लाय कृष्णदन्ताय पापिनां पतये ये मे प्रजासुपलोभयन्ति ग्रामे वसंत उत वाऽरण्ये तेभ्यः इदमेभ्य इति वा त्यागः। शेषं प्रणीताभिः प्रप्लाव्याचम्याग्निसमीपमागत्य प्रणीताविमोकं कृत्वा एकस्मै ब्राह्मणाय भोजनं ददामीति संकल्पयेदिति पक्षादिकर्मविधिः। दर्शे पुनरियान्विशेषः। स्थालीपाकेनाग्नये विष्णवे इन्द्राग्निभ्यामिति दर्शदेवताभ्यो होमः अनुदिते चारम्भः शेषं समानम्। "सायमादिप्रातरंतमेकं कर्म प्रचक्षते। पौर्णमासादिदर्शान्तमेकमेव विदुर्बुधाः" ॥ इतिवचनात्। कृष्णपक्षे यद्याधानं तदा दर्शेष्टिर्वै पौर्णमास्यां पक्षादिकर्मारम्भः यत्तुच्छंदोगपरिशिष्टवचनं "ऊर्ध्वं पूर्णाहुतेर्दर्शः पौर्णमासोऽपि चाग्रिमः। य आयाति स होतव्यः स एवादिरिति श्रुतेः" तत्पुनराधानविषयन्तिच्छाखिविषयं वा॥ इति पक्षादिप्रयोगः॥

इति पारस्करे गृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे द्वादशी कण्डिका॥ १२॥

सरला

१. (प्रत्येक) पक्ष (की) प्रतिपदा के दिन स्थालीपाक को पकाकर दर्श और पौर्णमास देवताओं की आहुतियाँ डाल (ने के अनन्तर) ब्रह्मा, प्रजापति, विश्वेदेव और द्यावापृथिवी को आहुतियाँ दी जायें।

२. स्थालीपाक के सभी देवों, भूतदेवों, गृह्यदेवों और आकाश को बलि (दी जायें)।

३. 'अग्नये स्वाहा', 'प्रजापतये स्वाहा', 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा', 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' कहकर वैश्वदेव पाक से होम करें।

४. 'नमः स्त्रियै....' मंत्र पढ़कर घर से बाहर (दुष्ट) स्त्रियों के लिए बलियां रखी जायें।

५. स्थाली में बचे हुए चरु को जल से साफ कर।

६. (तदुपरान्त) ब्राह्मण-भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. वैश्वदेव पाक=विश्वेदेवता अस्येति सर्वार्थः पाकः (जयराम)—सभी देवताओं के लिए बना चरु।

२. पद्धतियों से ज्ञात होता है कि पक्षादि कर्म करने के इच्छुक दम्पतियों को प्रतिपदा से पहली रात में उड़द, मांस, क्षार और नमक नहीं खाना चाहिए। उन दोनों को अग्नि के समीप पृथक्-पृथक् सोना चाहिए।

३. बलि-प्रदान कर्म स्रुवा से होगा।

मंत्रार्थ

१. नमः स्त्रियै........................प्रजा मे ददतु ॥

सन्तान-सुख से वञ्चित करनेवाली स्त्रियों को नमस्कार। शुक्लवर्ण, काले-काले दाँतोंवाले अत्यन्त मलिन, पापियों के मुखियों को भी, वे छोटे हों या बड़े, मैं नमस्कार करता हूँ। मैं उन सबको नमस्कार कर बलि देता हूँ जो मेरी सन्तान को नष्ट करते हैं—वे चाहे गाँव में रहते हों, चाहे जंगल में। वे मेरा कल्याण करें, मुझे सन्तानसुख दें।

त्रयोदशकण्डिका

सा यदि गर्भं न दधीत सिᳫंह्याः श्वेतपुष्प्या उपोष्य पुष्येण मूलमुत्थाप्य चतुर्थेऽहनि स्नातायां निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायामासिञ्चति। इयमोषधी त्रायमाणा सहमानासरस्वती अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभमिति ॥ १–१३ ॥

हरिहरभाष्यम्

(सा यदि गर्भं न दधीत) सा भार्या यदि चेत् गर्भं न धारयेत् (सिᳫंह्याः श्वेतपुष्प्या उपोष्य पुष्येण मूलमुत्थाप्य चतुर्थेऽहनि स्नातायां निशायामुदपेषं पिष्ट्वा

दक्षिणस्यां नासिकायामासिंचति) गर्भधारणोपायमाह सिंह्याः कंटकारिकायाः कथंभूतायाः श्वेतपुष्प्याः श्वेतानि पुष्पाणि यस्याः सा श्वेतपुष्पी तस्याः उपोष्य उपवासं कृत्वा पुष्येण चन्द्रमसा युक्तेन पुष्यनक्षत्रेण मूलं शिफामुत्थाप्य उद्धृत्य रजोदर्शनाच्चतुर्थेऽहनि स्नातायां भार्यायां रात्रौ उदपेषं यथा भवति तथा पिष्ट्वा तन्मूलमुदकेन पिष्ट्वा द्रवीभावमापाद्येत्यर्थः दक्षिणस्यां नासिकायां दक्षिणे नासारंध्रेऽवसिंचति धारयति १ भर्ता ! इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभमित्यंतेन मंत्रेण ॥ इति पारस्करे गृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

सरला

१. भार्या यदि गर्भ-धारण न कर सके तो श्वेत पुष्पों वाली कण्टकारिका को पुष्य नक्षत्र के साथ चन्द्रयोग होने पर उपवास करके समूल उखाड़ ले; फिर रजो-दर्शन के चौथे दिन पत्नी जब स्नान कर शुद्ध हो जाये तो रात्रि में पानी के साथ पीसकर उसकी नासिका के दाहिने रन्ध्र में 'इयमोषधी…' मंत्र पढ़ते हुए डाल दें।

टिप्पणी—१. गदाधर ने 'गर्गपद्धति' को उद्धृत करते हुए बताया है कि इस औषध-सिञ्चन कर्म के बाद पति भोजन करें।

मंत्रार्थ

१. इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम जग्रभम् ॥

प्रजापति, बृहती, ओषधि।

दोष दग्ध कर गुणों का आधान करनेवाली यह रसवती ओषधी सेवन करनेवालों की रक्षा करती है; सहकर भी दोष के वेगों को नष्ट कर देती है। बहुविध फल देनेवाली इस वनस्पति की कृपा से जैसे मैं अपने पिता का नामलेवा हूँ वैसे ही मेरी सन्तान भी मेरा नाम उज्ज्वल करे।

अथ चतुर्दशी कण्डिका—पुंसवनम्

अथ पुंसवनम् ॥ १ ॥ पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ॥ २ ॥ यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत तदहरुपवास्याप्लाव्याहुते वाससी परिधाप्य न्यग्रोधावरोहाञ्छुङ्गांश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्ववदासेचनं हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः संभृत इत्येताभ्याम् ॥ ३ ॥ कुशकण्टकं सोमांशु चैके ॥ ४ ॥ कूर्मपित्तं चोपस्थे कृत्वा स यदि कामयेत वीर्यवान्त्स्यादिति विक्रत्यैनमभिमन्त्रयते सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः ॥ ५–१४ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथ पुंसवनम्) अथ अवसरप्राप्तं पुंसवनाख्यं गर्भसंस्कारकं कर्म व्याख्यास्यते (पुरा स्यंदत इति) पुरा अग्रे स्यदते चलिष्यति यावत्पुरा निपातयोर्लडिति पुरायोगे भविष्यदर्थे वर्त्तमानप्रयोग इति हेतोः ॥ (मासे द्वितीये तृतीये वा यदहः पुंसा नक्षत्रेण चंद्रमायुज्येत) गर्भधारणकालात् द्वितीये तृतीये वा मासे यस्मिन्नहनि उपवास्याभोजनं कारयित्वा भार्यामाप्लाव्य स्नापयित्वा अहते नवे सदशे सकृत्प्रक्षालिते वाससी अंतरीयोत्तरीये द्वे परिधाप्य परिधानं कारयित्वा (न्यग्रोधावरोहांछुंगांश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्ववदासेचनम्) न्यग्रोधस्य वटस्य अवरोहान् अवाचीनमवरोहंति जायंते इत्यवरोहास्तान् शुंगान् तदग्रपल्लवान् मुकुलाकारान् सान्निध्याच्चकारोवरोहसमुच्चयार्थः। ततश्चोभयं रात्रौ पूर्ववत् गर्भधारणार्थोक्तवत् पिष्ट्वा पूर्ववदेव आसेचनं भर्त्तुः। दक्षिणनासारंध्रे। मंत्रविशेषमाह (हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः संभृत इत्येताभ्यामृग्भ्यां कुशकंटकं सोमांशु' चैके एके आचार्याः न्यग्रोधावरोशुंगेषु पिष्यमाणेषु कुशस्य कंटकं मूलं सोमांशुं सोमलताखंडं च प्रक्षिपंति तत्पक्षे द्रव्यचतुष्टयपेषणम् (कूर्मपित्तं चोपस्थे कृत्वा) उत्संगे कृत्वा स यदि कामयेत् (स यदि कामयेतवीर्यवान्त्स्यादिति विकृत्यैनमभिमंत्रयते सुपर्णोऽसीति प्राग्विष्णुक्रमेभ्यः) अत्र काम्यमाह सभर्त्ता यदि कामयेत अयं गर्भः वीर्यवान् शक्तिमान् स्यादितीच्छेत् तदा अस्या भार्याया उपस्थे कूर्मपित्तं जलपूर्णशरावं निधाय विकृत्या विकृतिच्छंदस्कया सुपर्णोसीत्यनया ऋचा स्वः पतेत्यंतया एनं गर्भमभिमंत्रयते हस्तेन गर्भाशयं स्पृष्ट्वा मंत्रं जपतीत्यर्थः। विष्णुक्रमेभ्यः विष्णुक्रममंत्रेभ्यः प्राक् पूर्वं यावद्विकृतेः परिमाणमिति सूत्रार्थः ॥ अथ प्रयोगः ॥ तत्र गर्भाधानप्रभृतिद्वितीये तृतीये वा मासे यस्मिन् दिने पुन्नक्षत्रयुक्तश्चंद्रः तत्र तस्मिन्नहनि गर्भिणीमुपवासं कारयित्वा मातृपूजाभ्युदयिकं विधाय तां स्नापयित्वा अहते वाससी परिधाप्य रात्रौ न्यग्रोधावरोहांछुंगांश्च उदकेन पिष्ट्वा पक्षे कुशकंटकं सोमांशुं च तन्नासिकाया दक्षिणपुटे आसिंचति भर्ता हिरण्यगर्भोऽद्भ्यः संभृत इति ऋग्भ्यां स यदीच्छेत् वीर्यवान् स्यादयं गर्भः तदा तस्याः स्त्रियाः उदशरावं उपस्थे कृत्वा सुपर्णोऽसीत्यनया विष्णोः क्रमोसीत्येतस्मात् प्राक्पठितयाविकृत्या ऋचांतर्गर्भमभिमंत्रयते पिता। इति पारस्करे गृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

सरला

१. अब (यथावसर) 'पुंसवन' संस्कार (का निरूपण किया जा रहा है)।

२. स्पन्दन से पहले अर्थात् जब (कुक्षि में) गर्भगत बालक कुछ-कुछ हिलने-डुलने लगे तब (गर्भधारण के) दूसरे या तीसरे मास में (यह संस्कार करना चाहिए)।

३. चन्द्रमा के साथ जब पुष्यादि किसी पुरुष नक्षत्र का योग हो, तब स्त्री को उपवास और स्नान कराकर, सकृत्प्रक्षालित वस्त्र पहनाकर, रात्रि में वटवृक्ष के

अवरोहों (शाखाओं में लटकती जड़ों) को और मुकुलाकार पल्लवों को पानी में पीसकर 'हिरण्यगर्भ····' तथा 'अद्भ्यः संभृत····' मंत्रों को पढकर पूर्वोक्त (१३वीं कण्डिकोक्त) विधि से पत्नी की नासिका के दाहिने रन्ध्र में (डालना चाहिए)।

४. कुछ (आचार्यों का मत है कि) वटावरोहों और पल्लवों के साथ कुश-मूल और सोमलता का खण्ड भी (मिला लेना चाहिए)।

५. यदि गर्भस्थ बालक का पिता चाहे कि सन्तान शक्तिशाली हो तो पत्नी के अङ्क में सजल शराव रखकर हाथ से गर्भाशय का स्पर्श करते हुए विकृति छन्द में निबद्ध 'सुपर्णोऽसि····' मंत्र से प्रारम्भ कर विष्णु-मंत्रों से पहले तक पढ़े।

टिप्पणी—१. ओल्डेनबर्ग ने 'कूर्मपित्तं' का अर्थ 'कछुए का पित्त' किया है जबकि सभी प्राचीन भारतीय भाष्यकारों के अनुसार इसका अर्थ जलपूर्ण शराव है। परम्परा-विरुद्ध होने के कारण ओल्डेनबर्ग का अर्थ ठीक नहीं लगता।

मंत्रार्थ

१. हिरण्यगर्भः·········।

देव हिरण्यगर्भ, प्रजापति, त्रिष्टुप्।

२. अद्भ्यः संभृतः······।

ऋषि प्रजापति, त्रिष्टुप्, आदित्य।

(द्रष्टव्य परिशिष्ट)

पञ्चदशकण्डिका—सीमन्तोन्नयनम्

१. अथ सीमन्तोन्नयनम् ॥ १ ॥ पुंसवनवत् ॥ २ ॥ प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा ॥ ३ ॥ तिलमुद्गमिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टाया युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भ-पिञ्जूलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णपात्रेण च सीमन्तमूर्ध्वं विनयति भूर्भुवः स्वरिति ॥ ४ ॥ प्रतिमहाव्याहृतिभिर्वा ॥५॥ त्रिवृतमाबध्नाति। अय-मूर्जवतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भवेति ॥ ६ ॥ अथाह वीणागाथिनौ राजानं संगायेतां यो वाऽप्यन्यो वीरतर इति ॥ ७ ॥ नियुक्तामप्येके गाथामुपोदा-हरन्ति। सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः। अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसाविति यां नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णाति ॥ ८ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ९–१५ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथ सीमंतोन्नयनं पुंसवनवत्) अथ पुंसवनानंतरं क्रमप्राप्तं सीमंतोन्नयनं गर्भसंस्कारकं कर्म व्याख्यास्यते तच्च षष्ठेऽष्टमे वा मासे पुंसवनवत् पुंनक्षत्रे भवति

(प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा) आद्यगर्भे गर्भाधानप्रभृति षष्ठेऽष्टमे वा मासे नियमेन कुर्यात् गर्भान्तरेष्वनियम इति कर्कोपाध्यायः अन्ये तु प्रथमगर्भ एवेति । तथा चाश्वलायनगृह्यपरिशिष्टं प्रथमे गर्भे सीमंतोन्नयनसंस्कारो गर्भमात्रसंस्कार इति । "सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमंतेन द्विजस्त्रियः । यं यं गर्भं प्रसूयंते स सर्वः संस्कृतो भवेत्" इति हारीतो देवलश्च "सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता" उपवासाप्लवनाहतवासोयुगपरिधापनानि व्रतिना गृह्यन्ते (तिलमुद्गमिश्रठंस्थालीपाकठंश्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वा) तत्र विशेषमाह । तिलैर्मुद्गैर्मिश्रस्तिलमुद्गमिश्रस्तं स्थालीपाकमोदनं चरुं श्रपयित्वा आज्यभागांते प्रजापतये स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा स्विष्टकृदादिप्राशनान्तं विदध्यात् (पश्चादग्नेर्भद्रपीठ उपविष्टायाम्) अग्नेः पश्चिमतः भर्तुर्दक्षिणतः मृद्वासने आसीनायां गर्भिण्यां सत्यां (युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिंजुलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशंकुना पूर्णचात्रेण च सीमंतमूर्ध्वं विनयति भूर्भुवः स्वरिति प्रति महाव्याहृति वा) ततो भर्त्ता औदुम्बरेण उदुम्बरवृक्षोद्भवेन युग्मेन द्व्यादियुग्मेन द्व्यादियुग्मफलवता सटालुग्रप्सेन अपक्वफल एकस्तवकनिबद्धेन त्रिभिश्च दर्भपिंजूलैस्त्रिभिर्दर्भपवित्रैश्च त्र्येण्या त्रिषु स्थानेषु श्वेता त्र्येणी तया त्र्येण्या शलल्या शल्यकाख्यपक्षकंटकेन वीरतरशंकुना-शरेषीकया आश्वत्थेन वा शंकुना पूर्णचात्रेण च सूत्रेण पूर्णं पूर्णपात्रं सूत्रकर्त्तनसाधनं पुंजीकृतैः सीमंतं स्त्रिया ऊर्ध्वं विनयति पृथक्करोति ललाटांतरमारभ्य केशान् द्विधा करोति भूर्भुवः स्वर्विनयामि इत्येतावता मंत्रेण सकृदेव पक्षांतरमाह प्रतिमहाव्याहृति वा अथवा प्रतिमहाव्याहृतिं महाव्याहृतिं महाव्याहृतिं प्रति विनयति ततश्च भूर्विनयामि भुवर्विनयामि स्वर्विनयामि इत्येवं त्रिर्विनयनं भवति । अत्र व्याहृतिमंत्रपदानामाख्यातपदं विना वाक्यस्यासंपूर्णत्वात् आख्यातपदाध्याहारः कर्त्तव्यः तत्र विधियुक्तस्य मंत्रभावः स्यादिति न्यायात् विनयतीति विधिपदं विपरिणम्य विनयामीत्यध्याह्रियते (त्रिवृतमाबध्नाति) त्रिवृतं वेणीं प्रति आबध्नाति पुंजीकृतमौदुम्बरादिपंचकं वेण्यां विनियुनक्तीत्यर्थः । अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीवफलिनी भवेति मंत्रेण (अथाह वीणागाथिनौ । राजानठं संगायेतां यो वान्योवीरतर इति) अथौदुम्बरादिपंचकस्य वेणीबंधनांतरं आह ब्रवीति । किम् । हे वीणागाथिनौ राजानं भूपतिं संगायेतां राजवर्णनसंबद्धं युवादिरूपकं सम्यग्गायेतां युवाम् । अथवा योन्योऽपि राजव्यतिरिक्तो वीरतरः प्रकृष्टो वीरः शूरस्तं संगायेतामित्यनुषंगः इत्याह ब्रवीति (नियुक्तामप्येके गाथामुपोदाहरंति) एके आचार्याः नियुक्तां गाने विहितां गाथां मंत्रमुपोदाहरंति पठंति अपि समुच्चयार्थः तत्परोक्षे राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं च समुच्चितं भवति पक्षांतरे राजवीरतरयोरन्यतरगानं गाथागानं वा तां गाथामाह (सोम एव नोराजेत्यादितीरे तुभ्यमित्येता) पद्धतिकारपक्षे राजवीरतरगाथामामेकतमस्यैव गानं तत्पक्षे नियुक्तामपीत्यपिशब्दो विवक्षितार्थः स्यात् (असाविति यां नदीमुपावसिता भवति तस्या नाम गृह्णाति) ततो गर्भिणी यां नदीमुपसमीपे आवसिता स्थिता भवति तस्या नद्या असाविति गंगा यमुना इत्येवं प्रथमांतं नाम गृह्णाति । (ततो ब्राह्मणभोजनम्) इत्युक्तार्थं-

मिति सूत्रव्याख्या ॥ अथ पद्धतिः ॥ तत्र प्रथमे गर्भे षष्ठेऽष्टमे वा मासि पुन्नक्षत्रे मातृपूजां वृद्धिश्राद्धं च कृत्वा बहिः शालायां पंचभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागांतं विदध्यात् । तत्र विशेषः-पात्रासादने आज्यभागानंतरं तंडुलतिलमुद्गानां क्रमेण पृथगासादनमुपकल्पनीयानि मृदुपीठं युग्मान्यौदुम्बरफलानि एकस्तबकनिबद्धानि त्रयोदर्भपिंजुलाः त्र्येणी शलली वीरतरशंकुः शरेषीका अश्वत्थो वा शंकुः पूर्णं चात्र वीणागाथिनौ चेति । आज्यमधिश्रित्य चरुस्थाल्यां मुद्गान् प्रक्षिप्याधिश्रित्य ईषच्छृतेषु मुद्गेषु तिलतंडुलप्रक्षेपं कृत्वा पर्यग्निकरणं कुर्यात् । तत आज्यभागांते स्थालीपाकेन प्रजापतये स्वाहेति हुत्वा इदं प्रजापतये इति त्यागं विधाय स्थालीपाकेनोत्तरार्द्धात्स्विष्टकृदाहुतिं महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यांतां नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्वा पश्चादग्नेर्भद्रपीठं स्थापयित्वा गर्भिण्यां योषिति स्नातायां परिहिताहतवासोयुग्मायां भद्रपीठ उपविष्टायां युग्मेन सटालुग्रप्सेनौदुम्बरेण त्रिभिश्च दर्भपिंजुलैस्त्र्येण्या शलल्या वीरतरशंकुना पूर्णपात्रेण चेत्येतैः सर्वैः पुंजीकृतैः स्त्रियाः सीमंत भूर्भुवःस्वर्विनयामीति ऊर्ध्वं विनयति । मंत्रेण सकृत् यद्वा भूर्विनयामि भुवर्विनयामि स्वर्विनयामि इति त्रिर्विनयति ततो विनयनसाधनमौदुम्बरादिपंचकं स्त्रिया वेण्यां बध्नाति अयमूर्जावती उर्जीव फलिनी भवेति मंत्रेण । अथ वीणागाथिनौ राजानं संगायेतामिति प्रैषं ददाति । अथवा अमुकं वीरतरं संगायेतामिति । ततस्तौ यद्गानाय प्रेषितौ तं गायतः अथवा वीणागाथिनौ सोमं राजानं संगायेतामिति प्रेषितौ सोम एव नो राजेमामानुषीः प्रजाः अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमित्यंतां गाथां वीणागाथिनौ गायतः ॥ इति विकल्पपक्षः समुच्चयपक्षे राजानं मन्यं वीरतरं वा सोमं राजानं च संगायेतामिति प्रेषितौ उभयं गायतः असौ स्थाने समीपावस्थितताया गंगाप्रमुखाया नद्याः संबुद्ध्य तं गंगेत्यादि नाम गृह्णाति गर्भिण्येव । ततो ब्राह्मणभोजनं ददाति अत्र प्रथमगर्भे इतिवचनात् स्त्रीसंस्कारकर्मत्वाच्च यतः "सकृत्संस्कृतसंस्काराः सीमंतेन द्विजस्त्रियः । यं यं गर्भं प्रसूयंते स सर्वः संस्कृतो भवेत्" न प्रतिगर्भं सीमंतोन्नयनं पुंसवनं तु दृष्टार्थत्वाद्भाष्यकारमते प्रतिगर्भं भवति ॥ इति पारस्करे गृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

सरला

१. अब (यथावसर) 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार की विधि (बताई जा रही है) ।

२. पुंसवन की भाँति ही 'सीमन्तोन्नयन' भी (तभी होगा, जब चन्द्रमा के साथ पुष्य नक्षत्र का योग हो । स्त्री को उपवास-स्नान कराकर नये वस्त्र भी पहनाये जायें) ।

३. पहले गर्भाधान के छठे या आठवें मास में (हो) ।

४. तिल-मूँग-मिश्रित स्थालीपाक पकाकर आज्य भाग के अन्त में प्रजापति की एक आहुति देकर, स्विष्टकृत् अग्नि की आहुति दे (—और फिर) संस्रव—

प्राशन करके अग्नि की पश्चिम दिशा में (पति के दाहिने) कोमल आसन पर बैठी हुई स्त्री की माँग को पति गूलर के कच्चे युग्मफलयुक्त डंठल, तीन कुशपिञ्जूलों (पवित्रों), साही के तीन स्थानों पर श्वेत काँटों, वीरतरशङ्कु (जयराम-वाण, हरिहर—अश्वत्थशङ्कु, कर्क—वही, गर्गपद्धति—खादिर शङ्कु) और धागायुक्त तकुये से ऊपर उठाये (—दो भागों में केश—विभाजन करे)—मंत्र पढ़े :— 'भूर्भुवः स्वः विनयामि।'

५. कुछ (आचार्यों के अनुसार) यह क्रिया प्रत्येक महाव्याहृति का पृथक्-पृथक् उल्लेख करते हुए तीन बार (होगी; मंत्र—(१) ॐ भूर्विनयामि (२) ॐ भुर्वविनयामि, (३) ॐ स्वर्विनयामि)।

६. इन पाँचों वस्तुओं को एक में बाँधकर 'अयम्....' मंत्र पढ़ते हुए वेणी में गूँथ दें।

७. (वेणी-बन्धन के अनन्तर) पति वीणा लेकर गाथा-गान करनेवाले दो पुरुषों से राजा या किसी अन्य शूरवीर के विषय में गाथा गाने के लिए कहे।

८. कुछ (आचार्यों के अनुसार) वेदोक्त 'सोम.....' प्रभृति गाथा ही गानी चाहिए। गाथा के अन्त में गर्भिणी स्त्री जिस नदी के समीप हो, उसका प्रथमान्त नाम ले लेना चाहिए।

९. तदुपरान्त ब्राह्मण-भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. गदाधर ने अपनी पद्धति में कुछ गर्भिणी-धर्मों का उल्लेख किया है; कारिकारूप में वे ये हैं—

'अङ्गारभस्माथिकपालचुल्ली शूर्पादिकेषूपविशेन्न नारी।
सोलूखलाद्ये दृषदादिके वा यन्त्रे तुषाद्ये न तथोपविष्टा॥
नो मार्जनी गोमयपिण्डकादौ मूत्रं पुरीषं शयनं च कुर्यात्।
नो मुक्तकेशी विवशाऽथवास्याद्भुङ्क्ते न संध्यावसरे न शेते।
नामङ्गलं वाक्यमुदीरयेत् सा शून्यालयं वृक्षतलं न यायात्॥

अङ्गार, भस्म, अस्थि, कपाल, चुल्ली, सूप आदि पर गर्भिणी स्त्री न बैठे; झाड़ू, गोमय-पिण्ड आदि पर न तो वह सोये और न मल-मूल विसर्जन करे। बाल खोलकर न घूमे, सायंकाल गोधूलि-वेला में न खाये न सोये। अमङ्गल बचन न बोले; खाली घर और पेड़ के नीचे न जाये।

'प्रयोग-पारिजात' के अनुसार वह हाथी-घोड़े की सवारी, पर्वतारोहण, व्यायाम और दौड़ना छोड़ दे। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के वचनानुसार वह दोहद-दान भी न करे क्योंकि इससे गर्भस्थ बालक का अङ्ग-भङ्ग या मृत्यु तक हो सकती है। 'मदनरत्न' में कहा गया है कि हल्दी, कुङ्कुम, संदुर, काजल और अन्य मांगलिक आभूषण वह धारण करे; पान खाये।

२. गर्भिणी के पति को भी कुछ नियमों का पालन करना चाहिए। उसे मैथुन, पर्वतारोहण, नौकारोहण आदि का परित्याग कर देना चाहिए।

मंत्रार्थ

१. अयमूर्जावतो वृक्ष उर्जीव फलिनी भव ।

प्रजापति, यजुष्, वधू।

हे सुष्ठु सीमन्तिनि ! यह वृक्ष शक्तिशाली है, इसकी शाखायें फलों से लदी हैं—इसीके सदृश तुम भी फलवती बनो।

२. सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः ।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसौ ॥

प्रजापति, गायत्री, सोम।

ओ नदियों ! चन्द्रमा हमारा स्वामी है और तुम स्वयं सोमरूपा हो, इसीलिए तुम्हारे अविमुक्त चक्र तट पर ये मानवी प्रजायें बसी हुई हैं—अतः तुम हमारी रक्षा करो।

षोडशीकण्डिका—जातकर्म

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति। एजतु दशमास्य इति प्राग्यस्यैत इति ॥ १ ॥ अथावरापतनम्। अवैतु पृश्निशेवलं शुने जराय्वत्तवे। नैवमाᳬंसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायत (न) मव जरायुपद्यतामिति ॥ २ ॥ जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति ॥ ३ ॥ अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधु घृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥४॥ अथास्यायुष्यं करोति ॥ ५ ॥ नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे जपति अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ब्रह्मायुष्मत्तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमीति ॥ ६ ॥ त्रिस्त्रिस्त्र्यायुषमिति च ॥ ७ ॥ स यदि कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत् ॥ ८ ॥ दिवस्परीत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचं परिशिनष्टि ॥ ९ ॥ प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणानवस्थाप्य ब्रूयादिम-

मनुप्राणितेति ॥ १० ॥ पूर्वो ब्रूयात्प्राणेति ॥ ११ ॥ व्यानेति दक्षिणः ॥ १२ ॥ अपानेत्यपरः ॥ १३ ॥ उदानेत्युत्तरः ॥ १४ ॥ समानेति पञ्चम उपरिष्टादवेक्षमाणो ब्रूयात् ॥ १५ ॥ स्वयं वा कुर्यादनुपरिक्राममविद्यमानेषु ॥ १६ ॥ स यस्मिन्देशे जातो भवति तमभिमन्त्रयते वेद ते भूमिहृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतमिति ॥ १७ ॥ अथैनमभिमृशत्यश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्रुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामाऽसि सजीव शरदः शतमिति ॥ १८ ॥ अथास्य मातरमभिमन्त्रयत इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरदिति ॥ १९ ॥ अथास्यै दक्षिण ँ स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छतीम ँ स्तनमिति ॥ २० ॥ यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम् ॥२१॥ उदपात्रं शिरस्तो निदधात्यापो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ ॥ एवमस्या ँ सूतिकाया ँ स पूत्रिकायां जाग्रथेति ॥ २२ ॥ द्वारदेशे सूतिकाग्निमुपसमाधायोत्थानात्संधिवेलयोः फलीकरणमिश्रान्सर्षपानग्नावपति शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा। अलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहेति ॥ २३ ॥ यदि कुमार उपद्रवेज्जालेन प्रच्छाद्योत्तरीयेण वा पिताऽङ्क आधाय जपति कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः। चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम्। यत्ते देवा वरमददुः स त्वं कुमारमेव वा वृणीथाः। चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वर तत्सत्यम्। यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबलौ भ्रातरौ चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरो लपेतापह्वरेति ॥ २४ ॥ अभिमृशति न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसीति ॥ २५–१६ ॥

हरिहरभाष्यम्

(सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षत्येजतु दशमास्या इति प्रागयस्यैत इति) सोष्यंत प्रसवशूलवतीं स्त्रियं भर्त्ता अद्भिर्जलेन अभ्युक्षति-प्रसिंचति एजतु दशमास्य इत्येतया प्रागयस्यैत इति प्राक्पठितया ऋचा त्र्यवसानया विराट्जगत्या (अथावरावपतनम्) अथाभ्युक्षणानंतरमवरावपतनम् अवरमुल्वं जरायुवेष्टितं गर्भवेष्टनम्। वाचीनमधः पतत्यनेन जप्तेनेत्यवरावपतनो मन्त्रः तं स्त्रीसमीपे उपविश्य भर्त्ता जपति यथा अवैतु पृश्निशेवलमित्यादि अवरा जरायु पद्यतामित्यंतं (जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति) ततः जातस्य उत्पन्नस्य कुमारस्य अच्छिन्नायां नाड्यामखण्डिते नाले सति मेधाजननायुष्ये मेधाजननं च आयुष्यं च मेधाजननायुष्ये ते करोति पिता। मेधाजननं तावदाह (अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा भूस्त्वयि

दधामि भुवस्त्वयि दधामि स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति) अनामिकयांगुल्या सुवर्णेनाच्छादितया मधु च घृतंच मधु=घृते द्वन्द्वसमाससामर्थ्यादिकीकृते घृतं वा केवलं कुमारं सकृत् प्राशयति कुमारस्य जिह्वायां निर्माष्टि भूस्त्वयीत्यादि सर्वं त्वयि दधामीत्यंतेन मंत्रवाक्यसमुदायेन 'न त्वर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति' जैमिनिसूत्रात् 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता' इत्यमरसिंहोत्केश्चैकार्थमेकं वाक्यम्। एकस्य वाक्यस्य च तेषां वाक्यं निराकांक्षं मिथः संबद्धमिति कात्यायनवचनेनैकमंत्रत्व-मितिप्रतिपादनात् कथं मंत्रवाक्यसमुदायस्यैकमंत्रत्वम्। अत्रोच्यते सत्यं यदि इतिकारा-दिकं मंत्रावसानज्ञापकं किंचिन्न स्यात् तदैतच्छक्यम्। अत्र पुनरितिकारो मंत्रावसानज्ञा-पकी जागर्ति तेन नायं दोषः यथा सर्वैः भूर्भुर्व इत्येतावतैव गार्हपत्यमादधाति तैः सर्वैः पंचभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवःस्वरिति च श्रुतौ वाक्यसमुदायस्य। इतिकारेण मंत्रावसानं ज्ञायते कातीयसूत्रेऽपि दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति आहवनीयमाद-धाति भूर्भुवःस्वरिति। अत्र यद्यपि एकैकस्याव्याहृतेर्मंत्रत्वं युक्तं समस्तानां व्याहृतीनां च तथापि इतिकारेण द्वयोरपि व्याहृत्योर्मंत्रत्वं व्यवस्थाप्यते। एवमन्यत्रापि बहुना मंत्रवाक्यानामितिकारादिविनियोजकेन मंत्रैक्यं तत्र तत्रायमेव न्यायोनुसर्त्तव्यः (अथा-स्यायुष्यं करोति नाभ्यां दक्षिणे वा कर्णे जपति) अथ मेधाजननानंतरमस्य कुमारस्या-युष्ये हितं जीवनवर्द्धनं कर्म करोति। तद्यथा। नाभिदेशे दक्षिणे वा श्रवणे नाभ्यां दक्षिणकर्णे वा इति नियमाधिकरणे सप्तमी गंगायां घोष इतिवत् नाभिसमीपे दक्षिण-कर्णसमीपे वा जपत्यग्निरायुष्मानित्यादिकान्मंत्रान् त्रिर्जपति त्रीन् वारान् उपांशु पठित अग्निसोम्मब्रह्मदेवऋषिपितृयज्ञसमुद्र-इत्यंतान् (त्र्यायुषमिति च) ततः त्र्यायुषं जमदग्नेरित्यादि तन्नो अस्तु त्र्यायुषमित्यंतं च मंत्रं तथैव त्रिर्जपति। इदं चायुष्यकरणं कालातिक्रमेऽपि क्रियते। मेधाजननं मुख्यकालातिक्रमान्निवर्त्तते तस्मात्कुमारं जातं घृतं चैवाग्रे प्रतिलेहयंति स्तनं वानुधापयंतीति जातमात्रस्य कुमारस्य श्रुत्या मेधाजननोप-देशात् (स यदि कामयेत सर्वमायुरित्यादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्) सः पिता यदि ईप्सेत् अयं कुमारः सर्वं संपूर्णमायुर्जीवितमियात् प्राप्नुयात् इत्येवं तदा वात्सप्रेण वत्सारप्रिणा भालंदनेन दृष्टेनानुवाक्येन एनं कुमारमभिसमंततः सर्वं शरीरमालभेत तत्र विशेषमाह (दिवस्परीत्येतस्यानुवाकस्योत्तमामृचं परिशिनष्टि) दिवस्परीत्यादिको द्वादशर्चोनुवाको वात्सप्रएनस्य उत्तमामंत्यां द्वादशीमस्ताव्यग्निरित्येतामंचं परिशिनष्टि व्युदस्यति तां परित्यज्य एकादशभिर्ऋग्भिरभिमृशेदित्यर्थः (प्रतिदिशं पंच ब्राह्मणानव-स्थाप्य ब्रूयादिममनुप्राणितेति पूर्वो ब्रूयात्प्राणेति व्यानेति दक्षिणोऽपानेत्यपर उदाने-त्युत्तरतः समानेति पंच उपरिष्टाहवेक्षमाणो ब्रूयात् स्वयं वा कुर्यादनुपरिक्राममविद्य-मानेषु इत्यंतं सूत्रं) कुमारस्य प्रतिदिशं दिशं प्रति चतसृषु दिक्षु प्राच्यादिषु मध्ये च यथाक्रमं पंच ब्राह्मणान् संनिवेश्य कुमाराभिमुखात् तान् प्रतिब्रूयात्। किम्। इममनु-प्राणितेति इमं कुमारमनुप्राणित अनुलक्षीकृत्य प्राणेत्यादि ब्रूत इति प्रैषः। ततः प्रेषिता ब्राह्मणाः पूर्वादिक्रमेण प्राण इति कुमारं लक्षीकृत्य पूर्वो ब्रूयात् व्यानेति दक्षिणो ब्राह्मणः

अपानेति पश्चिमः उदानेत्युत्तरः समानेति पंचमः उपरिष्टादूर्ध्वमवेक्षमाणः अविद्यमानेषु स्वयं वा स्वयमेव अनुप्राणनं कुर्यात् कथमनुपरिक्रामं परिक्रम्य परिक्रम्य पूर्वादिकां दिशं प्राणेत्यादि अनुपरिक्रामेण णमुलतमस्मिन्पक्षे प्रैषाभावः (स यस्मिन्देशे जातो भवति तमभिमंत्रयते) सः कुमारः यस्मिन्देशे भूभागे उत्पन्नः पतति तं देशम् अभिमंत्रयते हस्तेन स्पृशति वेद ते भूमिः इत्यादि शरदः शतमित्यन्तेन मन्त्रेण (अथैनमभिमृशत्य-श्माभवेति) अथ जन्मदेशाभिमंत्रणानंतरमेनं कुमारं पिताभिमृशति समंततः सर्वशरीरे स्पृशति अश्मा भवेत्यादिना सजीव शरदः शतमित्येतेन मंत्रेण वात्सप्राभिमर्शनादि एतदभिमर्शनांतं कालव्यतिक्रमेऽपि क्रियते संस्कारकर्मकत्वात् । अथास्य मातरमभि-मंत्रयते इडासीति । अथ कुमाराभिमर्शनानंतरमस्य कुमारस्य जननीमभिमंत्रयते अभिलक्षीकृत्य इडासीत्यादिना वीरवतोऽकरदित्यंतेन अथास्यै दक्षिणꣳस्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छतीमꣳस्तनमिति यस्ते स्तन इत्युत्तरमेताभ्याम् । अथाभिमंत्रणं कृत्वा अस्यै अस्याः मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य धावयित्वा कुमाराय ददाति इमꣳस्तनमित्येतयर्चा तत उत्तरं वामं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति यस्ते स्तन इमꣳस्तनमित्येताभ्यामृग्भ्याम् (उदपात्रꣳशिरस्तो निदधात्यापोदेवेषु जाग्रथेति) उदपात्रं जलपूर्णपात्रं शिरस्तः शिरः-प्रदेशे कुमारस्य निदधाति स्थापयति आपोदेवेष्वित्यादिना जाग्रथेत्यंतेन मंत्रेण (द्वारदेशे सूतिकाग्निमुपसमाधायोत्थानात्संधिवेलयोः फलीकरणमिश्रान् सर्षपानग्नावावपति शंडामर्का इत्यादि) ततः पंचभूसंस्कारपूर्वकं द्वारदेशे सूतिकागृहस्य सूतिकाग्निं स्थाप-यित्वा उत्थानात् उत्थानं यावत् संधिवेलयोः सायं प्रातः फलीकरणमिश्रान् फलीकरणैः मिश्रान् युक्तान् सर्षपान् तस्मिन्नग्नौ आवपति जुहोति द्वे आहुती शंडामर्का इति ॥ आलिखन्ननिमिष इति द्वाभ्यां मंत्राभ्यामावपनोपदेशात् होमेतिकर्त्तव्यता निवृत्तिः नैमित्तिकमाह यदि (कुमार उपद्रवेज्जालेन प्रच्छाद्योत्तरीयेण वा पितांक आधाय जपति कूर्कुर इत्यादि) यदि चेत्कुमारो बालग्रहः तं बालमुपद्रवेत् अभिभवेत् तदा तं बालं जालेन मत्स्यग्रहणसाधनेन तदलाभे उत्तरीयेण वाससा प्रच्छाद्य छादयित्वा अंके उत्संगे निधाय धृत्वा कूर्कुर इत्यादिकमपह्वरेत्यंतं मंत्रं जपति (अभिमृशति न नामयति) जपान्ते कुमारस्य सर्वांगमभिमृशति न नामयतीत्यादि यत्र चाभिमृशामसीत्यंतेन मंत्रेणेति सूत्रार्थः ॥ अथ प्रयोगः ॥ सोष्यंतीं स्त्रियमेजतु दशमास्य इत्यनयर्चा अस्त्रज्जरायुणा सहेत्यंतया अद्भिरभ्युक्षति पतिः ततः स्त्रीसमीपे अवैतु पृश्निशेवलꣳशुने जराय्वत्तवे नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिश्चनायतमवरा जरायु पद्यतामित्यंतमवरावपतनं मंत्रं जपति । तत्र यदि कुमार उत्पद्यते तदा मातृपूजाभ्युदयिके विधाय अच्छिन्ने नाले मेधाजननायुष्ये करोति तत्र मेधाजननं यथा अनामिकयांगुल्या सुवर्णेनांतर्हितया मधुघृते मेलयित्वा केवलं घृतं कुमार भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्व॰ द॰ स्वस्त्वयि दधामि भूर्भुवःस्वः सर्वं त्वयि दधामीत्यनेन मंत्रेण सकृत्प्राशयति । अथायुष्यं करोति तद्यथा कुमारस्य नाभिसमीपे दक्षिणकर्णसमीपे वा अग्निरायुष्मानित्यादिकान् समुद्र आयुष्मा-नित्यंतानष्टौ मंत्रान् त्रिर्जपति । अग्निरायुष्मान्त्सवनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषायुष्मंतं

करोमि सोम आयुष्मान्त्स औषधीभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि ब्रह्मायुष्मत्तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि देवा आयुष्मंतस्तेमृतेनायुष्मंतस्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि ऋषय आयुष्मंतस्ते व्रतैरायुष्मंतस्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि पितर आयुष्मंतस्ते स्वधाभिरायुष्मंतस्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि यज्ञ आयुष्मान्त्सदक्षिणाभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि समुद्र आयुष्मान्त्स्रवंतीभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषायुष्मंतं करोमि इति । ततस्त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषमिति मंत्रं त्रिर्जपति स पिता यदि कामयेत अयं कुमारः सर्वमायुरित्यादिति तदा तं कुमारं दिवस्परीत्यारभ्य उशिजोविवव्रुरित्यंतेन वात्ससंज्ञकेनानुवाकेनाभिमृशेत् अथ कुमारस्य पूर्वादिचतसृषु दिक्षु चतुरो ब्राह्मणान् एकं मध्ये च अवस्थाप्य इममनुप्राणितेति तान् यात् ततः पूर्वदिक्स्थितो ब्राह्मणः कुमारं लक्षीकृत्य प्राण इति दक्षिणो व्यान इति पश्चिमः अपान इति उत्तर उदान इति पंचमः समान इति उपरिष्टादवेक्षमाणः ब्रूयात् अविद्यमानेषु तु ब्राह्मणेषु स्वयमेव तस्यां तस्यां दिशि कुमाराभिमुखं स्थित्वा प्राणेत्यादि पूर्वोक्तं यात् अस्मिन् पक्षे न प्रैषः ततो यस्मिन् देशे कुमारो जातो भवति तं देशं वेद ते भूमिहृदयं दिवि चंद्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदः शतमित्यंतेन मंत्रेणाभिमंत्रयते अथैनं कुमारमश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमश्रुतं भव । आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरदः शतमित्यंतेन मन्त्रेणाभिमृशति अथास्य कुमारस्य मातरमभिमंत्रयते इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः सा त्वं वीरवती भव यास्मान्वीरवतीकरदित्यनेन मंत्रेण अथ कुमारस्य मातुर्दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति इमठंस्तनमित्यनयर्चा तत उत्तरं वामं प्रक्षाल्य प्रयच्छति यस्ते स्तन इमठंस्तनमित्येताभ्यामृग्भ्यां ततः कुमारस्य शिरःप्रदेशे उदपात्रं जलपूर्णं पात्रं निदधाति स्थापयति आपोदेवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ एवमस्याठंसूतिकायाठंसपुत्रिकायां जाग्रथेत्यनेन तदुदपात्रं प्रागुत्थानात्स्थापितमेव तिष्ठति ततः सूतिकागृहस्य द्वारदेशे पंचभूसंस्कारान् कृत्वा सूतिकाग्निं स्थापयित्वा सायंप्रातः संध्याद्वये फलीकरणमिश्रान् तंदुलकणयुतान्सर्षपांस्तस्मिन्नग्नौ हस्तेन जुहोति यावत्सूतिकोत्थानम् कथं शंडामर्का उपवीरशौंडिकेय उलूखलमलिम्लुचोद्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ इत्यनेन मंत्रेणैकामाहुतिमालिखन्ननिमिषः किवदंत उपश्रुतिः हर्यक्षः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनोनश्यतादितः स्वाहा इत्यनेन द्वितीयामिदमग्नय इत्युभयत्र त्यागः यदि कुमारग्रहो बालमुपद्रवेत्तदा तं बालं जालेन उत्तरीयेण वा वस्त्रेण प्रच्छाद्य अंके गृहीत्वा पिता जपति कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबंधनः चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरोलपेताह्वर तत्सत्यम् । यत्ते देवावरमददुः सत्त्वं कुमारमेव वाव्रीणीथाः चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरोलपेतापह्वर तत्सत्यं यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबली भ्रातरौ चेच्चेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरोलपेताह्वरेत्यंतं मंत्रम् । न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसीत्यनेन मंत्रेण पिता कुमारमभिमृशति ॥१६॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकाण्डे षोडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

सरला

१. प्रसवशूलवती स्त्री को (पति) जल से ('असृज्जरायुणा सह' तक) 'एजतुदशमास्ये....' मंत्र पढ़कर अभिषिञ्चित करे।

२. गर्भस्थ बालक के बाहर आने के लिए (पिता) 'अवैतु....' मंत्र जपे।

३. उत्पन्न हुए कुमार के नाल-छेदन से पूर्व ही पिता (उसके) मेधाजनन और आयुष्य कृत्य करे।

४ (पिता) स्वर्णाच्छिन्न अनामिका उँगली से बालक को (विषम मात्रा में), मधु-घृत को मिलाकर या (केवल) घी ही चटा दे, मंत्र पढ़े—'भूस्त्वयि....'।

५. तदनन्तर आयुष्य-कर्म करे।

३. (बालक की) नाभि या दाहिने कान के समीप (पिता) 'अग्निरा-युष्मान्....' प्रभृति मंत्रों को (तीन बार) जपे; (जप उपांशु होगा—होंठ तो हिलेंगे किन्तु मंत्र-ध्वनि नहीं सुनाई पड़नी चाहिए)।

७. 'त्र्यायुषं....तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' मंत्र भी (उसी प्रकार से तीन बार जपे)।

८–९. पिता यदि चाहे कि उत्पन्न बालक सम्पूर्ण आयु प्राप्त करे तो 'दिव-स्परि....' से 'उशिजोविवव्रुः....' तक वत्सप्रीभलिन्दन ऋषि के द्वारा दृष्ट ११ ऋचाओंवाले वात्सप्र अनुवाक् को पढ़कर उसका स्पर्श करे। (किन्तु) अनुवाक् की अन्तिम ऋचा 'अस्ताव्यग्निः....' छोड़ दी जाये।

१०. प्रत्येक दिशा में (एक यानी कुल) पाँच ब्राह्मणों को बिठाकर पिता उनसे आग्रह करे—आप इस बालक को प्राण-शक्ति से युक्त करें।

११–१५. पूर्व दिशा में स्थित ब्राह्मण 'प्राण' कहे, दक्षिण में स्थित 'व्यान', पश्चिमवर्ती 'अपान', उत्तरबर्ती 'उदान' और (मध्यगत) पांचवाँ ब्राह्मण ऊपर की ओर देखता हुआ 'समान' कहे।

१६. यदि इतने ब्राह्मण अप्राप्य हों तो स्वयं ही पाँचों दिशाओं में क्रमशः जाकर उपर्युक्त कृत्य सम्पन्न करे।

१७. कुमार की जन्म-भूमि का स्पर्श कर पिता 'वेद ते'....मंत्र पढ़े।

१८. (तदनन्तर) उस बालक का स्पर्श कर पिता 'अश्मा....' मंत्र पढ़े।

१९. 'इमं स्तनं....' मंत्र को पढ़ते हुए माँ के दाहिना स्तन धोकर बालक के (मुख में) दे।

२०. 'यस्ते स्तन....' और 'इमं स्तनम्....' मंत्रों को पढ़ते हुए वायें स्तन को भी धोकर दे।

२१. 'आपो देवेषु....' मंत्र पढ़ते हुए कुमार के सिरहाने जलपूर्ण पात्र रख दे।

२२. सूतिका-गृह के द्वार पर (पञ्चभू-संस्कारपूर्वक) अग्नि का आधान कर सूतक-काल की समाप्ति तक प्रातः-सायं तण्डुलकण मिले हुए सरसों की दो आहुतियाँ 'शण्डामर्का....' और 'आलिखन्ननिमिषः' मंत्रों को पढ़कर डाली जायें।

२३. शिशु को यदि बाल-ग्रह पीड़ित करे तो मछली पकड़ने के जाल से (और यदि वह अप्राप्य हो तो अपने) उत्तरीय से उसे ढककर गोद में लेकर 'कूर्कुरः'··· प्रभृति मंत्र जपे ।

२४. जपावसान में 'न नामयति·····' मंत्र पढ़ते हुए उसके सभी अंगों का स्पर्श करना (चाहिए) ।

मंत्रार्थ

१. अवैतु पृश्निशेवलं शुने जराय्वत्तये । नैव मांसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायत (न) मवजरायुपद्यताम् ॥

प्रजापति, बृहती, अग्नि ।

ओ प्रसवचूलवती नारी ! तुम्हारा जलार्द्रजरायु श्वान के भक्षण के लिए नीचे आ जाये । हे सुपुष्टगात्रि ! गर्भनाशक कारणों के रहते हुए भी तुम्हारा गर्भ सुरक्षित रहे ।

२. वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, भूमिदेवता ।

ओ वसुन्धरे ! यह शिशु तुम्हारे हृदय से परिचित है; द्युलोकस्थ और चन्द्रमा में आश्रित तुम्हारे हृदय का जैसे मुझे ज्ञान है, वैसे ही वह मुझे भी जाने ।

३. अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं भव । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतम् ॥

प्रजापति. अनुष्टुप्, पुत्र ।

ओ कुमार ! तुम स्पर्श मणि के सदृश दृढाङ्ग और प्रिय, परशु के तुल्य शत्रु-हन्ता तथा हिरण्य के समान तेजस्वी और स्पृहणीय बनो । पुत्र-रूप में तुम वस्तुतः हमारी आत्मा ही हो—तुम्हें सौ वर्ष की आयु प्राप्त हो ।

४. इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान्वीरवतोऽकरत् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, इडा ।

ओ वीर पुत्र की जननी ! तुम मित्रावरुण देवताओं के अंश से उत्पन्न बुद्धि-

स्वरूपा मानवी यज्ञपात्री हो; तुमने वीर पुत्र को जन्म देकर हमें उसका पिता कहलाने का अवसर दिया है अतः तुम भविष्य में भी वीर बेटे ही जनो ।

५. शण्डामर्क्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः । मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, जाया ।

नाशक, मारक, विघ्नकुशल, आश्रितघातक, अप्रतीकार्य, अत्यन्त मलिन बुद्धि, लम्बी नाक वाला और सभी इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण करनेवाला बालग्रह यहाँ से नष्ट हो जाए ।

६. आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः । कुम्भी शत्रुपात्र-पाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः ॥

वही ।

चतुर्दिक भक्षण करता हुआ अनिमेषद्रष्टा, अस्पष्ट ध्वनिकर्ता, समीप से अहित-कर, हरी-हरी आँखों वाला, स्तम्भक, शत्रु, हाथ में चीथड़े लिए हुए, नाश-कामी, हिंस्रमुख, सरसों के दानोंसा पीला-पीला और हमारी शक्ति क्षीण करनेवाला बालग्रह यहाँ से नष्ट हो जाए ।

७–९. कूर्कुरः·········सीसरो लपेतापह्वर ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, शुनक ।

यह बालग्रह भीषण ही नहीं, अति भीषण और कर्कश है । ओ जीभ फैलाये हुए बाल-ग्रह-गण के मुखिया शुनक ! तुम्हें नमस्कार । तुम गात्रापहारक हो तो सन्तुष्ट होकर छू-छू करते हुए इस शिशु को छोड़ दो । शुनक ! सच है कि तुम्हें देवों का वर मिला किन्तु (यह कहाँ तक ठीक है कि वर पाकर) तुमने इस शिशु को ही आक्रान्त कर लिया ? शुनक ! यह सच है कि (देवों की कुतिया) सरमा तुम्हारी माँ है और (देवताओं का कुत्ता) सीसर तुम्हारा पिता; श्याम और शबल तुम्हारे भाई हैं—अतः (तुम्हारी गरिमा इसी में है कि) तुम इस शिशु को छोड़ दो ।

१०. न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसि ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, वायु ।

कुमार के जिस अंग का स्पर्श कर हम मंत्र-जप करते हैं उसे न तो वह मोड़ता है, न रोता है, न हँसता है और नाही छटपटाता है ।

विशेष—प्रतीक रूप में आये मंत्रों का अर्थ परिशिष्ट में देखिए ।

सप्तदशकण्डिका—नामकरण

दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति ॥ १ ॥ द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यान्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ॥ २ ॥ अयुजाक्षरमाकारान्त ँ स्त्रियै तद्धितम् ॥ ३ ॥ शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य ॥ ४ ॥ चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका ॥ ५ ॥ सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ ६–१७ ॥

हरिहरभाष्यम्

(दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति) प्रसवदिनमारभ्य दशम्यां तिथौ सूतिकां सूतिकागृहादुत्थाप्य नामकरणागतया ब्राह्मणान् त्रीन् भोजयित्वा पिता अपत्यस्य नामधेयं करोति अत्र दशम्यामिति सूतकांतोपलक्षणं ततश्च यस्य यावंति दिनानि सूतकं तदन्तदिने सूतकोत्थापनमित्यर्थः । अपरदिने च नामकरणं तथा च गोभिलसूत्रं "दशरात्रे व्युष्टे नामकरणमिति" याज्ञवल्क्यवचनम् । अहन्येकादशे नामेति, नामकरोतीत्युक्तं तत्कीदृशमित्यपेक्षायामाह (द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यतरंतस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्नतद्धितमयुजाक्षरमाकारांत ँ स्त्रियै तद्धितम्) द्वे अक्षरे यस्य तद् द्व्यक्षरं चत्वार्यक्षराणि यस्य तच्चतुरक्षरमनयोर्विकल्पः किंच घोषवदादि घोषवदादि घोषवदक्षरमादौ यस्य नाम्नः तत् घोषवदादि घोषवंति चाक्षराणि गघङजझञडढणद-धनबभमह-इत्येतानि अंतरंतस्थमंतर्मध्ये अंतस्था यस्य तदन्तरंतस्थमन्तस्था यरलवाः दीर्घाभिनिष्ठानं दीर्घमह्रस्वमभिनिष्ठानमवसानं यस्य तत् दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कृत्प्रत्ययांतं कुमारस्य नामधेयं कुर्यात् पक्षांतरे कृतं पितामहादिनाम तत्कुर्यात् न तद्धितं तद्धितप्रत्ययांतं न कुर्यात् स्त्रिया नाम्नि विशेषमाह अयुजाक्षरमयुजानि विषमाणि त्र्या-दीन्यक्षराणि यस्मिन्नाम्नि तदयुजाक्षरमाकारांतमाकारः अन्ते यस्य तदाकारांतं तद्धितं तद्धितप्रत्ययांतं स्त्रियै स्त्रियानाम कुर्यादित्यनुषंगः । अपि च (शर्म ब्राह्मणस्य वर्म क्षत्रियस्य गुप्तेति वैश्यस्य) ब्राह्मणस्य विप्रस्य पूर्वोक्तलक्षणनामांते शर्मेति क्षत्रियस्य पूर्वोक्तलक्षणनामांते वर्मेति वैश्यस्य पूर्वोक्तलक्षणनामांते गुप्तेति पदं कुर्यात् अथवा ब्राह्मणस्य नाम शर्म मंगलप्रतिपादकं कुर्यात् क्षत्रियस्य वर्म शौर्यरक्षावत्ताप्रतिपादकं वैश्यस्य गुप्तेति धनवत्ताप्रतिपादकं शूद्रस्य प्रेष्यत्वप्रतिपादकमिति बोद्धव्यम् ॥ इति सूत्रार्थः ॥ अथ प्रयोगः ॥ सूतकांतद्वितीयदिने नामकरणनिमित्तकं मातृपूजापूर्वकमा-भ्युदयिकं श्राद्धं विधाय अन्यब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा पिता कुमारस्य द्व्यक्षरमित्यादि-नोक्तलक्षणं नाम करोति यथा शिष्टाचारं देवराजशर्मा इत्यादि (चतुर्थे मासि निष्क्र-मणिका कुमारस्य) गृहाद्वहिर्निष्क्रमणं करोति पिता (सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति) अथ तच्चक्षुर्देवहितमित्यादिना मूयश्च शरदः शतादित्यन्तेन मंत्रेण श्रीसूर्यं भगवन्तं रश्मिमालिनमुदीक्षयति कुमारं प्रदर्शयति पिता इति सूत्रार्थः ॥ अथ प्रयोगः ॥ जन्म-

दिने जन्मनक्षत्रे वा प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा अस्य कुमारस्य गृहान्निष्क्रमणं करिष्ये इति संकल्प्य तदंगत्वेन चतुर्थे मासि शुभे दिने मातृपूजाभ्युदयिके विधाय मात्रा अंके कृतं कुमारं गृहाद्बहिरानीय तच्चक्षुर्देवहितं मंत्रेण शिशोः सूर्यस्य उदीक्षणं पिता कारयति ॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकांडे सप्तदशीकण्डिका ॥ १७ ॥

सरला

१. (जन्म के) १०वें दिन (पिता शिशु को सूतिका–गृह से) उठाकार, (तीन) ब्राह्मणों को भोजन कराकर (बालक का) नामकरण करें।

२. (शिशु का नाम) दो या चार अक्षरों का हो, आदि वर्ण घोष (ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, य, व, र, ल, ह में से) हों, मध्य में अन्तःस्थ (य, र, ल, व में से) वर्ण हो, दीर्घान्त नाम हो, कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो। (कृत का दूसरा नाम—पहले रखा गया पितामहादि का नाम न हो)।

३. कन्या का नाम विषमवर्णी (जिसमें अक्षरों की संख्या ३, ५, या ७ हो), आकारान्त और तद्धितान्त हो।

४. ब्राह्मण के नामान्त में शर्मा, क्षत्रिय के वर्मा और वैश्य के 'गुप्त' लगाये। (शर्मा अर्थात् मंगलप्रतिपादक, वर्मा-शौर्य-व्यंजक, गुप्त—धनवत्ता का बोधक)।

५. (जन्म से) चौथे मास में (पिता) शिशु को (घर से) बाहर निकाले।

६. 'तच्चक्षुः'.... मंत्र पढ़ते हुए उसे सूर्य-दर्शन कराये।

टिप्पणी—१. गदाधर ने अपने पदार्थक्रम में खट्वारोहण, दुग्धपान, ताम्बूल भक्षण, चन्द्र-दर्शन और कर्णवेध आदि के सम्बन्ध में भी बहुत से नियम बताये हैं— वे वहीं द्रष्टव्य है।

२. मंत्रार्थ परिशिष्ट में।

अष्टादशकण्डिका

प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत् ॥ १ ॥ पुत्रं दृष्ट्वा जपति अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शतमिति ॥२॥ अथास्य मूर्धानमवजिघ्रति। प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतमिति ॥ ३ ॥ गवां त्वा हिंकारेणेति च। त्रिर्दक्षिणेऽस्य कर्णे जपति। अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्ररायोविश्ववारस्य भूरेः। अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मै वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्निति ॥ ४ ॥ इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नामिति सव्ये ॥ ५ ॥ स्त्रियै तु मूर्धानमेवावजिघ्रति तूष्णीम् ॥ ६–१८ ॥

हरिहरभाष्यम्

(प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत्) प्रोष्य प्रवासादेत्य गृहान् गृहस्थितान् भार्यापुत्रादीन् उपतिष्ठते प्रार्थयते कथं पूर्ववत् आहिताग्निप्रवासप्रकरणोक्तवत् तद्यथा गृहानाविभीतेत्यारभ्य उपहूतो गृहेषु न इत्येतैस्त्रिभिर्मंत्रैः गृहानुपस्थाय क्षेमाय व इत्यादिना शंयोरित्यंतेन मंत्रेण गृहं प्रविशेत् केचित्तु सूत्रकारेण गृहोपस्थानमात्रविधानात् मंत्रवत् प्रवेशं नेच्छंति (पुत्रं दृष्ट्वा जपत्यंगात्संभवसि हृदयादधिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरदः शतमिति) पुत्रमात्मजं दृष्ट्वा विलोक्य अंगादंगादित्यादिकं मंत्रं जपति (अथास्य मूर्द्धानमवजिघ्रति प्रजापतेष्ट्वेति) अथ जपानंतरमस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं शिरः अवजिघ्रति अवाचीनं जिघ्रति केन मंत्रेण (प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽमुकशर्मन् जीव शरदः शतमित्यंतेन मंत्रेण सकृत् मूर्द्धानमवघ्राय द्विस्तूष्णीमवजिघ्रति) पुनः गवां त्वा हिंकारेणेति च त्रिः पुनर्गवां त्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽमुकशर्मन् जीव शरदः शतमिति मंत्रेण सकृत् मूर्द्धानमवजिघ्राय द्विस्तूष्णीमवजिघ्रति (दक्षिणेऽस्य कर्णे जपति अस्मे प्रयंधीति) अस्य पुत्रस्य दक्षिणे कर्णे श्रवणे अस्मे प्रयन्धि मघवन्नजीषिन्निन्द्रायोविश्ववारस्य भूरेः अस्मे शतᳬशरदा जीवसेधा अस्मे व्वारांछभ्वत इन्द्रशिप्रिन्निति मंत्रं जपति । अथ सव्ये वामकर्णे इन्द्रश्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चत्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे पोषᳬरयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नामित्यंतं मंत्रं जपति (स्त्रियै तु मूर्द्धानमेवावजिघ्रति) तूष्णीं स्त्रियाः पुत्रिकायाः मूर्द्धानमेव अवजिघ्रति तूष्णीं विना मंत्रेण एवकारेण दर्शनजपकर्णयानिवृत्तिः ।। १८ ।।

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये प्रथमकांडेऽष्टादशकण्डिका ।। १८ ।।

सरला

१. प्रवास से लौटकर गृह में स्थित (भार्या और पुत्रादि के) समीप खड़े होकर पूर्ववत् (श्रौतोक्त विधि से) 'गृहामाबिभीत''''' प्रभृति तीन मंत्र पढ़े।

२. पुत्र की ओर देखकर 'अङ्गादङ्गा''''' मंत्र जपे।

३. तदनन्तर 'प्रजापते''''' मंत्र पढ़ते हुए एक बार उसके अवाचीन सिर को सूँघना (चाहिए)। (मंत्रों में आये 'असौ' के स्थान पर उसका नाम ग्राह्य है)।

४. (पुनः) 'गवां त्वा''''' मंत्र पढ़कर एक बार सिर सूँघने के अनन्तर दो बार विना मंत्र के ही सूँघे।

पुत्र के दाहिने कान के समीप 'अस्मै''''' मंत्र का जप करे।

५. उसके बायें कान के समीप 'इन्द्र श्रेष्ठानि''''' मंत्र जपना चाहिए।

६. कन्या का सिर पिता चुपचाप ही सूँघे। ('एव' पद दर्शन और कर्ण-जप का निषेध करता है)।

टिप्पणी—१. श्रौतोक्त का अभिप्राय है कात्यायन श्रौतसूत्र के आहिताग्नि-प्रवास-प्रकरण में बताई गई विधि। तदनुसार 'गृहामाबिभीत.....' प्रभृति तीन मंत्र पढ़ने के अनन्तर 'क्षेमाय व...शंय्यो' मंत्र पढ़कर गृह-प्रवेश करना चाहिए। कुछ आचार्यों को पारस्कर-विहित गृहोपस्थान मात्र से समन्त्र प्रवेश अभिमत है।

२. 'प्रयोगरत्न' से ज्ञात होता है कि पुरुष धनार्जन प्रभृति दृष्ट प्रयोजन से ही एकाकी प्रवास करेगा; तीर्थयात्रा आदि अदृष्ट प्रयोजनमूलक प्रवास तो पत्नीसहित ही होंगे।

मंत्रार्थ

१. अङ्गादङ्गात्संभवसि.........शरदः शतम् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, आयु।

बेटे ! तुम हमारे अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए हो; तुम हमारे लिये हृदय से भी बढ़कर प्रिय हो। पुत्र के रूप में तुम तो वस्तुतः हमारी आत्मा ही हो। तुम अन्यून सौ वर्ष तक जीवन का आनन्द लो।

२. प्रजापतेष्ट्वा हिंकारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषाऽसौ स जीव शरदः शतम् ॥

परमेष्ठी, उष्णिक्, प्रजापति।

बेटे ! ब्रह्मा के स्नेह-सने शब्दों अथवा सामवेद के सामों से मैं तुम्हारा सिर सूँघता हूँ। इसके प्रभाव से तुम १०० वर्ष की आयु प्राप्त करो।

३. अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य वारेः। अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मै वीराञ्छश्वत इन्द्रं शिप्रिन् ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, इन्द्र।

देवराज इन्द्र ! आप सुखद एवं स्निग्धचित्त के स्वामी हैं। इस बालक को आप ऐश्वर्य, धन, विश्व की समग्र श्रेष्ठ वस्तुयें, सौ वर्षों की पूर्णायु और पुत्र-पौत्र प्रदान करें।

४. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वात्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥

वही।

इन्द्रदेव ! इस बालक को आप अत्यन्त उत्तम कोटि की मंगलमयी धनराशि, चैतन्य, प्रज्ञा, ज्ञान, नीरोगता, प्रजापति दक्ष का-सा प्रभुत्व, धन-साध्य पुष्टि, वाणी का माधुर्य और सफल दिन प्रदान करें।

एकोनविंशकण्डिका—अन्नप्राशन

षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् ॥१॥ स्थालीपाकॐ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहेति ॥ २ ॥ वाजो नो अद्येति च द्वितीयाम् ॥ ३ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति प्राणेनान्नमशीय स्वाहाऽपानेन गन्धानशीय स्वाहा चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहेति ॥४॥ प्राशनान्ते सर्वान्सर्वमन्नमेकत उद्धृत्याथैनं प्राशयेत् ॥ ५ ॥ तूष्णीॐ हन्तेति वा हन्तकारं मनुष्या इति श्रुतेः ॥ ६ ॥ भारद्वाज्यामाॐसेन वाक्प्रसारकामस्य ॥७॥ कपिञ्जलमाॐसेनान्नाद्यकामस्य ॥८॥ मत्स्यैर्जवनकामस्य ॥९॥ कृकषाया आयुष्कामस्य ॥ १० ॥ आट्या ब्रह्मवर्चसकामस्य ॥ ११ ॥ सर्वैः सर्वकामस्य ॥ १२ ॥ अन्नपर्याय वा ततो ब्राह्मणभोजनमन्नपर्याय वा ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १३ ॥ ॥ १९ ॥

हरिहरभाष्यम्

(षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्) जन्मतः षष्ठे मासे कुमारस्य अन्नप्राशनं कर्म कुर्यात् स्थालीपाकठं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीः जुहोति अन्नप्राशनस्येतिकर्त्तव्यताविशेषमाह स्थालीपाकं चरुं यथाविधि श्रपयित्वा आधारावाज्यभागौ हुत्वा द्वे आहुती जुहोति ॥ (देवीं च वाचमित्यादि वाजोनो अद्येति च द्वितीयामित्यंतं सूत्रम्) आज्येन वाचमित्यादिकया ऋचा एकामाहुतिं जुहुयात् इदं वाचे इति त्यागं विधाय चकारात्पुनर्देवीं वाचमित्येतरस्यांते वाजो नः यथा देवीं वाचमिति वाजो नो अद्येति द्वाभ्यामृग्भ्यां द्वितीयामाज्याहुतिं हुत्वा इदं वाचे वाजायतेति त्यागं कुर्यात् (स्थालीपाकस्य जुहोति) स्थालीपाकस्य चरोः प्राणेनान्नमशीयेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मंत्रैश्चतस्रश्चाहुतीर्जुहोति ततः स्विष्टकृदादप्राशनांतं विधाय (सर्वान् रसान्सर्वमन्नमेकतोद्धृत्याथैन प्राशयेत्तूष्णीठंतेति वा हंतकारं मनुष्या इति श्रुतेः) सर्वान्मधुरादीन् रसान्सर्वमन्नं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्यादि एकतोद्धृत्य एकतोद्धृत्येत्यत्र विसर्जनीयलोपेपि पुनः संधिरार्षः एकतः एकस्मिन् पात्रे उद्धृत्य कृत्वा अथानंतरमेनं कुमारं प्राशयेत् तूष्णीं मंत्ररहितं हंतति वा मंत्रेण मंत्रं कुतः हंतकारं मनुष्या इति श्रुतेः हंतकारं मनुष्या उपजीवंति इति श्रवणात् (भारद्वाज्यामाठंसेन वाक्प्रसारकामस्य कपिंजलमाठंसेनान्नाद्यकामस्य मत्स्यैर्जवनकामस्य सर्वैः सर्वकामस्यान्नपर्याय वा) अत्र गुणफलमाह भारद्वाज्याः पक्षिण्याः मांसेन कुमारस्य प्राशनं कारयितव्यं भवति कस्य पितुः कथंभूतस्य वाक्प्रवारकामस्य वाचः प्रसारो बहुत्वं तत्कुमारस्य कामयते इति वाक् प्रसारकामः तस्य कर्त्तरि षष्ठी कृत्यप्रत्ययांतत्वात् एवमन्नाद्यकामस्य कपिंजलमांसेन एवमुत्तरत्रापि अयमर्थः यदि कुमारः अयं वाग्मी स्यादिति कामयेत् तदा भारद्वाज्या मांसं प्राशयेत् यदि कुमारोऽन्नादः स्यादिति कामयेत्तदा कपिंजलमांसं प्राशयेत् कपिंजलः कारडवो मैरिर्वा मयूरो वा केचित्तित्तिरो

वेति यदि कुमारोयं जवनः शीघ्रगामी स्यात्तदा यथासंभवं मत्स्यान् प्राशयेत् स यदि कुमारः दीर्घायुः स्यादिति, कामयेत् तदा कृकषाया मांसं प्राशयेत् यदि कुमारो ब्रह्मवर्चस्वी स्यादिति कामयेत् तदा आढ्या मांसं प्राशयेत् यदि वाक्प्रसारादीनि ब्रह्मवर्चसांतानि सर्वाणि कुमारस्य भवेत्विति कामयेत् तदा भारद्वाज्यादीनामाढ्यंतानां सर्वाणि मांसानि क्रमेण प्राशयेत् अन्नपर्यायि वा अन्नपरिपाढ्या वा अन्नवदेकीकृत्य प्राशयेदित्यर्थः। अन्नपर्यायेति अविभक्तिकमार्षं पदं ततो ब्राह्मणभोजनम्। ततः कर्मसमाप्तौ एकस्य ब्राह्मणस्य भोजनं कारयितव्यमत्र कांडपरिसमाप्तौ द्विरुक्तिः यथा कात्यायनसूत्रे अध्यायपरिसमाप्तौ उपस्पृशेदप इति सूत्रार्थः॥ अथ प्रयोगः॥ कुमारस्य षष्ठे मासे चंद्रतारानुकूले शुभे दिने मातृपूजापूर्वकं नांदीमुखश्राद्धं विधाय पंचभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निं स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागांतं विदध्यात् तत्र आज्येन देवीं वाचमजनयंत देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदंति सानामंद्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु स्वाहेति प्रथमामिदं वाचे इति त्यागं विधाय पुनर्देवीं वाचमित्येतस्यांते वाजो नो अद्य प्रसूवानिदानं वाजो देवा देवाऋतुभिः कल्पयाति वाजोहिमा सर्ववीरं जजान विश्वाआशाव्वाजपतिर्जयेय स्वाहेति द्वितीयम्। इदं वाचे वाजायेति चेति त्यागं कुर्यात् अथ स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति तद्यथा प्राणोनान्नमशीय स्वाहा इदं प्राणाय अपानेन गंधानशीय स्वाहा इदमपानाय चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा इदं चक्षुषे श्रोत्रेण यशोशीय स्वाहा इदं श्रोत्राय ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादि प्राजापत्यांतानवाहुतीराज्येन हुत्वा संस्रवप्राशनं दक्षिणादानांतं कृत्वा सर्वान्रसान् सर्वं चान्नमेकस्मिन् पात्रे समुद्धृत्य सकृदेव कुमारं तूष्णीं प्राशयेत् हंतेति वा मंत्रेण स यदि कुमारस्य वाग्मित्वमिच्छेत्तदा भारद्वाज्यामांसं प्राशयेत् यद्यन्नाद्यत्वं कामयेत तदा कपिंजलमांसं यदि जवनत्वं तदा मत्स्यमांसं यदि दीर्घायुषं तदा कृकषायाः मांसं यदि ब्रह्मवर्चसं तदा आढ्यामांसं यदि सर्वकामस्तदा सर्वमांसानि क्रमेण प्राशयेत् एकीकृत्य वा अस्य कर्मणः समृद्ध्यर्थं ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये इति संकल्प्य ब्राह्मणं भोजयेत्॥ इत्यन्नप्राशनम्। इत्येकोनविंशतितमा कंडिका॥ १९॥

इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ प्रथमकाण्डः समाप्तः॥

—❀—

सरला

१. (जन्म से) छठे मास में (शिशु का) अन्नप्राशन (संस्कार करना चाहिए)।

२–३. (यथाविधि) स्थालीपाक को पकाकर, अग्निसोम की आहुतियां डालकर 'देवीं वाचम्…' तथा 'वाजो नो अद्य…' मंत्र पढ़कर दो घृताहुतियाँ डाले।

४. 'प्राणेनान्नमशीय…' प्रभृति चार मंत्र पढ़कर चरु की आहुतियाँ डाले।

५. संस्रव-प्राशन के पश्चात् (मधुरादि) सभी रसों और (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य प्रभृति) सभी अन्नों को एक पात्र से उठाकर शिशु को चटाना चाहिए।

६. (यह प्राशन) चुपचाप (मंत्र-रहित) या केवल 'हन्त' कहकर होना चाहिए क्योंकि 'हन्तकारंमनुष्याः'—यह श्रुति-वाणी है।

७. (पिता यदि) चाहे (कि शिशु) वाग्मी हो तो भारद्वाजी पक्षिणी का मांस उसे चटाये।

८. (वह यदि शिशु को) अन्न-भक्षण के योग्य बनाना चाहे तो कपिञ्जल पक्षी का मांस चटाये।

९. (पिता यदि) चाहे (कि कुमार) वेगवान् हो तो मछली का रस चटाये।

१०. (बालक को) चिरायु करने की कामना से पिता उसे कँकड़े का मांस चटाये।

११. (यदि पिता की) कामना हो (कि शिशु) ब्रह्मतेज से समन्वित हो तो आटी पक्षी का मांस खिलाये।

१२. (यदि पिता शिशु में उपर्युक्त) सभी (गुण एकत्र देखना) चाहे तो सम्पूर्ण मांसों को (एक में मिलाकर उसे चटा दे)।

१३. अथवा इन सबके स्थान पर अन्न का ही रस चटा दे; तदनन्तर ब्राह्मण-भोजन कराये।

टिप्पणी—१. कपिञ्जल पक्षी की पहचान बड़ी विवादग्रस्त है। कुछ के अनुसार यह तित्तिर है। कुछ उसे कारण्डव, कुछ मैरि और अन्य लोक मोर मानते हैं।

२. नारद-स्मृति के अनुसार आठवें, नवें और दसवें मास में भी अन्नप्राशन हो सकता है।

३. १३वें सूत्र की द्विरुक्ति काण्ड-समाप्ति-सूचक है।

४. हरिहर के अनुसार एक ही ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए; गदाधर ने 'यथाशक्ति' शब्द का उल्लेख किया है किन्तु विश्वनाथ के मत से अन्यून १० ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।

५. विश्वनाथ ने संभवतः पिछली कण्डिका से प्रभावित होकर यहां भी कन्या का अन्न-प्राशन मन्त्र रहित ही बताया है जो विशेष उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि पारस्कर को यदि यह अभीष्ट होता तो वे स्वयं इसका उल्लेख करते।

मंत्रार्थ

१. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, वाणी ।

(सर्वप्रथम) ऐश्वर्यमयी और प्रदीप्त वाणी को देवताओं ने उत्पन्न किया: तत्पश्चात् उसका उच्चारण विभिन्न प्राणियों ने किया । वही सुखदा और गम्भीर वाणी हमें अन्न, रस और शक्ति प्रदान करती हुई हमारे स्तोत्रों से प्रसन्न होकर यहां वैसे ही पधारे जैसे बछड़े के रँभाने पर गाय दौड़ पड़ती है ।

प्रथम काण्ड समाप्त ।

अथ द्वितीयकाण्डम्

प्रथमकण्डिका—चूडाकरण

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम् ॥ १ ॥ तृतीयेवाऽप्रतिहते ॥ २ ॥ षोडश-वर्षस्य केशान्तः ॥ ३ ॥ यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥ ४ ॥ ब्राह्मणान्भोजयित्वा माता कुमारमादायाप्लाव्याहते वाससी परिधाप्याङ्क आधाय पश्चादग्नेरुप-विशति ॥५॥ अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते शीतास्वप्सूष्णा आसिञ्च-त्युष्णेन वाय उदकेनेह्यर्दिते केशान्वपेति ॥६॥ केशश्मश्रिव्रति च केशान्ते ॥७॥ अथात्र नवनीतपिण्डं घृतपिण्डं दध्नो वा प्रास्यति ॥ ८ ॥ तत आदाय दक्षिणं गोदानमुन्दति । सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चस इति ॥ ९ ॥ त्र्येण्या शलल्या विनीय त्रीणि कुशतरुणान्यन्तर्दधात्योषध इति ॥ १० ॥ शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय निवर्तयामीति प्रवपति, येनाव-पत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायु-ष्यञ्जरदष्टिर्यथासदिति ॥ ११ ॥ सकेशानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिण्डे प्रास्य-त्युत्तरतो ध्रियमाणे ॥ १२ ॥ एवं द्विरपरं तूष्णीम् ॥ १३ ॥ इतरयोश्चोन्दनादि ॥ १४ ॥ अथ पश्चात्त्र्यायुषमिति ॥ १५ ॥ अथोत्तरतो येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम् ॥ तेन ते ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तय इति ॥१६॥ त्रिः क्षुरेण शिरः प्रदक्षिणं परिहरति समुखं केशान्ते ॥१७॥ यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशला वप्त्वा वावपति केशाञ्छिन्धि शिरो माऽस्यायुः प्रमोषीः ॥ १८ ॥ मुखमिति च केशान्ते ॥ १९ ॥ ताभिरद्भिः शिरः समुद्य नापिताय क्षुरं प्रयच्छति । अक्षुण्वन्परिवपेति ॥ २० ॥ यथामङ्गलं केशशेष-करणम् ॥ २१ ॥ अनुगुप्तमेतंसकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठे पल्वल उदकान्ते वाऽऽचार्याय वरं ददाति ॥ २२ ॥ गां केशान्ते ॥२३॥ संवत्सरं ब्रह्मचर्यमवपनं च केशान्ते द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः ॥ २४ ॥

हरिहरभाष्यम्

(सांवत्सरिकस्य चूडाकरणं तृतीयं वाप्रतिहते) संवत्सरमब्दमतिक्रांतः सांव-त्सरिकः । तस्य कुमारस्य चूडाकरणं चूडाकर्म कुर्यात् तृतीये वा संवत्सरे अप्रतिहते अल्पावशिष्टे (यथामंगलं वा सर्वेषाम्) यद्वा यथामंगलं यथाकुलाचारम् । एतदुक्तं भवति यस्य कुले सांवत्सरिकस्य चूडाकर्म क्रियते तस्य सांवत्सरिकस्य यस्य तृतीयेऽब्दे तस्य तदा इति व्यवस्था यस्य कुले नास्ति नियमः तस्य यदृच्छया विकल्पः । अन्ये तु यथामंगलशब्देन धर्मशास्त्रांतरे विहितकालांतरोपलक्षणमाहुः । अतश्च सर्वेषां

तुल्यविकल्पः (षोडशवर्षस्य केशांतः) षोडशवर्षाण्यतीतानि । यस्य असौ षोडशवर्षः तस्य सप्तदशे वर्षे केशांतः केशांताख्यः संस्कारो भवति । अत्र यद्यपि सूत्रक्रमोऽन्यथा तथापि केशांतस्य कालविकल्पाभावात् चूडाकरण एव कालविकल्प इति हेतोः (यथामंगलं वा सर्वेषाम्) इति सूत्रं पूर्वं व्याख्यातं पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानीति न्यायात् (ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारमादायाप्लाव्याहते वाससी परिधाप्यांक आधाय पश्चादग्नेरुपविशति)। एवं कालमभिधाय कर्माभिधत्ते चूडाकरणांगतया त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता जननी कुमारं पुत्रं चूडाकरणार्हम् आदाय गृहीत्वा आप्लाव्य स्नापयित्वा अहते नवे सकृद्धौते वाससी द्वे वस्त्रे परिधाप्य परिहिते कारयित्वा अंतरीयोत्तरत्वेन अंके उत्संगे आधाय स्थापयित्वा पश्चादग्नेः पश्चिमतः उपविशति आस्ते (अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनांते शीतास्वप्सूष्णा आसिंचति) । ततः अन्वारब्धः ब्रह्मणा उपस्पृष्टः आज्याहुतीः आघारादिस्विष्टकृदंताश्चतुर्दश हुत्वा संस्रवप्राशनांते शीतासु अप्सु उष्णा अप आसिंचति प्रक्षिपति वक्ष्यमाणमंत्रेण अन्वारब्धग्रहणेन नित्याज्याहुतिहोमो नियम्यते । (उष्णेन वा य उदकेनेह्यदिते केशान्वपेति केशश्मश्रिव्रति च केशांते) केशांते पुनः उष्णेन वा य उदकेनेह्यदिते केशश्मश्रू वपतीति विशेषः । (अथात्र नवनीतपिंडं घृतपिंडं दध्नो वा प्रास्यति) अथ उष्णोदकसेकानंतरमत्र आस्वप्सु नवनीतपिंडं घृतपिंडं दध्नो वा पिंडं प्रास्यति असु क्षेपणे प्रक्षिपति (तत आदाय दक्षिणं गोदानमुंदति सवित्रा प्रसूता इति) । ततस्ताभ्योऽद्भ्यः चुलुकेनैकदेशमादाय दक्षिणं गोदानं शिरसो दक्षिणप्रदेशस्थं गोदानं केशसमूहमुंदति क्लेदयति । (आर्द्रं करोतीत्यर्थः) । केन मंत्रेण ? सवित्रा प्रसूतेत्यादिना दीर्घायुत्वाय वर्चस इत्यंतेन ॥ (त्र्येण्या शलल्या विनीय त्रीणि कुशतरुणान्यंतर्दधात्योषध इति) त्र्येण्या त्रिश्वेतया शलल्या शल्यकपक्षककंटकेन विनीय पृथक् पृथक्कृत्य पूर्वदिनाधिवासितां केशलतिकां तस्या अंतर्मध्ये अंतरा त्रीणि त्रिसंख्याकानि कुशतरुणानि दर्भपत्राणि दधाति धारयति ओषधे त्रायस्वेति मंत्रेण (शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय निवर्त्तयामीति प्रवपति) ततः शिवो नामेत्यनेन मंत्रेण लोहक्षुरं ताम्रपरिष्कृतमायसं क्षुरमादाय गृहीत्वा दक्षिणकरेण निवर्त्तयामीत्यनेन मंत्रेण प्रवपति तं क्षुरं कुशतरुणान्यभिनिदधाति 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इति न्यायात् धातूनामनेकार्थत्वाच्चेत्यत्र प्रपूर्वो वपतिरभिनिधानार्थः । छेदनार्थत्वे तु उत्तरसूत्रविहितप्रच्छेदनानर्थक्यं प्रसज्येत (येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथा सदिति ॥ सकेशानि प्रच्छिद्यानडुहे गोमयपिंडे प्रास्यत्युत्तरतो ध्रियमाणे) येनावपदिति मंत्रेण केशसहितानि कुशतरुणानि प्रच्छिद्य खंडयित्वाग्नेरुत्तरतो भूभागे ध्रियमाणे स्थाप्यमाने आनडुहे आर्षभे गोमयपिंडे गोशकृत्पिंडे प्रास्यति प्रक्षिपति (एवं द्विरपरं तूष्णीम्) । एवमुक्तेन प्रकारेण द्विः द्विर्वारमंदनादिगोमयपिंडनिधानांतं तूष्णीं मंत्ररहितं कुर्यात् इतरयोश्चोदनादि इतरयोः पश्चिमोत्तरयोः गोदानयोः उंदनादि क्लेदनप्रभृति कर्म चकारात्सकृन्मंत्रकं द्विरमंत्रकं भवति (अथ पश्चात् त्र्यायुष अथ दक्षिणगोदानस्य त्रिरुंदनादिप्रच्छेदनानंतरं पश्चाद्गोदाने विशेषमाह—त्र्यायुषमिति । त्र्यायुषं जम-

दग्नेरित्यादिना मंत्रेण सकेशानि कुशतरुणानि सकृत्प्रच्छिद्य तूष्णीं द्विः प्रच्छिद्य गोमयपिंडे प्रास्यति। (अथोत्तरतः अथानंतरमुत्तरतो गोदाने उंदनादि गोमयपिण्डनिधानान्तं विशेषमाह येन भूरिश्चेति स्वस्तय इत्यंतेन मंत्रेण)। सकृत्सकेशानां कुशतरुणानां प्रच्छेदनं (त्रिः क्षुरेण शिरः प्रदक्षिणं परिहरति समुखं केशांते) त्रिः त्रीन् वारान् क्षुरेण शिरः मूर्द्धानं प्रदक्षिणं यथा भवति तथा परिहरति, शिरसः समंतात्प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयतीत्यर्थः। तत्र मंत्रमाह (यत्क्षुरेणेत्यादि मास्यायुः प्रमोषीरित्यंतम्) केशांते च मुखमिति पदं प्रक्षिपेन्मंत्रे आवपेत् (ताभिरद्भिः शिरः समुद्य नापिताय क्षुरं प्रयच्छति) अक्षुण्वन्परिवपेति। ताभिरद्भिः शीतोष्णाभिरद्भिः कुमारस्य शिरा समुद्य आर्द्रं विधाय नापिताय क्षौरकर्त्रे जातिविशेषाय क्षुरम् अक्षुण्वन् परिवपेत्यनेन मंत्रेण प्रयच्छति। (यथामंगलं केशशेषकरणम्)। केशानां शेषकरणं शिखास्थापनं केशशेषकरणं यथामंगलं मंगलं कुलाचारव्यवस्थामनतिक्रम्य भवति, कुलाचाराश्च बहुधा-तद्यथा लौगाक्षिः 'तृतीयस्य वत्सरस्य भूयिष्ठे गते चूडां कारयेत्' दक्षिणतः कंबुजावसिष्ठानामुभयतोऽत्रिकश्यपानां मुंडा भृगवः पंचचूडा आंगिरसः वाजिमेके मंगलार्थं शिखिनोन्य इति (अनुगुप्तमेतं सकेशं गोमयपिंडं निधाय गोष्ठे पल्वल उदकांते वा) अनुगुप्तमावृतमेनं गोमयपिंडं सकेशं केशैः सहितं निधाय स्थापयित्वा गोष्ठे गवां व्रजे पल्वले अल्पोदके सरसि उदकांते वा (आचार्याय वरं ददाति) स्वकीयाय आचार्याय गां ददाति (संवत्सरं ब्रह्मचर्यम्) केशांतकर्मानंतरं संवत्सरं यावद् भवेद् द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमंततः) केशांतानंतरं यावज्जीवमवपनं च विहितवपनव्यतिरेकेणाविहितवपनं च "गंगायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरौ मृते। आधाने सोमपाने च वपनं सप्तसु स्मृतम्॥ तथा वपनं 'चानुभाविनां प्रेतकनीयसां वपनं तथा। मुंडनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः। वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रे विशालं विरजं गयाम्॥ नैमिषं पुष्करं गयामिति पाठांतरम्॥ प्रयागे वपनं कुर्याद् गयायां पिण्डपातनम्। दानं दद्यात्कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां तनू त्यजेत्" इत्यादिवचनानि च॥ यत्प्रतिपादितनिमित्तेषु अत्र गर्भाधानादिषु विवाहपर्यंतेषु संस्कारकर्मसु मुख्यत्वेन पितैव कर्त्ता तदभावे संनिहितोऽन्यः। तथा च स्मरणम् 'स्वपितृभ्यः पिता दद्यात्सुतसंस्कारकर्मसु। पिण्डानोद्वाहनात्तेषां तस्याभावेऽपि तत्क्रमात्"॥ एतान्युक्तानि नामकरणादीनि चूडाकरणांतानि मन्त्ररहितानि दुहितॄणामपि कुर्यात्। यथाह याज्ञवल्क्यः "तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समंत्रकः" इति तथा शूद्रस्य। यथाह यमः "शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मंत्रेण संस्कृतः। न केनचित्समसृजच्छंदसा तं प्रजापतिः" एवंविधः गर्भाधानादिचूडाकरणांतैः संस्कारैः बैजिकगार्भिकपापशून्यः विना मंत्रेण तूष्णीं यतस्तं शूद्रमेकतमेनापि छंदसा वेदेन समसृजत् समयोजयत्। तथा ब्रह्मपुराणे 'विवाहमात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा' मात्रशब्देन विहितेतरसंस्कारनिवृत्तिश्च यमब्रह्मपुराणवचनाभ्यां शूद्रस्य गर्भाधानपुंसवनसीमंतजातकर्मनामधेयनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडाकरणविवाहाः नव संस्कारा विहितास्ते च तूष्णीमितरेषां निवृत्तिप्रसंगादनुपनीतधर्मा लिख्यते। मनुः "नास्मिन् व्युत्तिष्ठते कर्म किंचिदामौजिबंधनात्। नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म

स्वधानि नयनादृते ॥ शूद्रेण हि समस्तावदयावद्वेदे न जायते'' । वृद्धशातातपः । प्राक् चूडाकरणाद्बाला प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः । कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबंधनम् ॥ शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम् । रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नातव्यं तु कुमारकैः'' गौतमः । ''प्रागुपनयनात्कामचारभक्षः नित्यं मद्यं ब्राह्मणोनुपनीतोपि वर्जयेत् उच्छिष्टादावप्रयता न स्युः महापातकवर्जम्'' । ब्राह्मे-मातापित्रोरथोच्छिष्टं बालो भुंजन् भवेत्सुखी' संस्कारयोजनं च स्मृत्यंतरोक्तं, यथाह याज्ञवल्क्यः 'एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्' । अंगिराः । ''चित्रं कर्म यथानेकैः प्रगैरुन्मील्यते शनैः । ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः' । मनुः । ''गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबंधनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥'' हारीतः ॥ ''गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति पुंसवनात्पुंसीकरोति फलस्नपनात्पितृजं पाप्मानमपोहति जातकर्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नानेन पंचमम् । एतैरष्टभिर्गर्भसंस्कारैर्गर्भोपघातात्पूतो भवति उपनयनाद्यैरत्र व्रतैश्चाष्टभिः स्वच्छन्दसम्मितो ब्राह्मणः परं पात्रं देवपितॄणां भवति छंदसायनम् ।'' सुमंतुः । 'तत्र ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां वृत्तिर्गर्भाधानपुंसवनसीमंतोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनचूडोपनयनं चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सधर्मचारिणीसंयोगः पंचानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मयज्ञानामेतेषां चाष्टकाः पार्वणश्राद्धं श्रावण्यग्रहायणी चैत्याश्वयुजीतिपाकयज्ञसंस्थाः अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासौ चातुर्मास्याग्रहायणेष्टिर्निरूढपशुबंधः सौत्रामणीतिसप्तहविर्यज्ञसंस्थाः अग्निष्टोमोत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशी वाजपेयोतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्तसोमसंस्थाः । एते चत्वारिंशत् संस्काराः' । हारीतः । द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च । गर्भाधानादिस्नानान्तो ब्राह्मः । पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैवः । ब्राह्मसंस्कारसंस्कृतऋषीणां समानतां सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छतीत्यलमतिप्रसंगेन इति सूत्रार्थः ॥ ॥ अथ प्रयोगः ॥ तत्र सांवत्सरिकस्य तृतीये वा वर्षे भूयिष्ठे गते कुमारस्य चूडाकरणाख्यं कर्म्म कुर्यात् कुलधर्मव्यवस्था वा दैवयोगाद्गृह्योक्तकालालाभे स्मृत्यंतरोक्तान्यतमकाले मातृपूजामाभ्युदयिकं च कृत्वा ब्राह्मणत्रयं भोजयित्वा बहिःशालायां परिसमूहनादिभिर्भुवं संस्कृत्य लौकिकाग्निं स्थापयेत् । अथ माता कुमारमादाय स्नापयित्वा वासोयुगं परिधाप्य उत्संगे निधाय अग्नेः पश्चिमतः उपविशति ततो ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागांते विशेषः । तंडुलवर्जमासादनमुपकल्पनीयानि च शीतोदकमुष्णोदकं नवनीतघृतदधिपिंडानामेकतमं त्र्येणी शलली त्रीणि त्रीणि कुशतरुणानि पृथक् बद्धानि नवताम्रपरिष्कृत आयस क्षुरः गोमयपिंडम् नापितश्चेति ततः पवित्रकरणादिपयुक्षणांते आघारादिस्विष्टकृदंतं चतुर्दशाहुतिहोमं विधाय संस्रवान्प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दद्यात् ततः शीतास्वप्सु उष्णा अप आसिच्य उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान्वपेत्यनेन मंत्रेण । अत्र उष्णोदकमिश्रितशीतोदके उपकल्पितं नवनीताद्यन्यतमं पिण्डं प्रक्षिपति । तदुदकमादाय सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उंदंतु ते तनुं दीर्घायुत्वा'य वर्चसे इत्यनेन मंत्रेण दक्षिणं गोदानमुंदति ततस्त्रेण्या शलल्या केशान्विनीय

ओषधे त्रायस्वेति मन्त्रेण कुशतरुणान्यंतर्द्धाय शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा माहिंसीरित्युपकल्पितं क्षुरमादाय कुशतरुणान्तर्हितेषु केशेषु निवर्त्तयाम्यायुषे-न्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायेत्यनेन मन्त्रेण क्षुरमभिनिदधाति येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् तेन ब्राह्मणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथासदित्यंतेन मन्त्रेण सकेशकुशतरुणानि प्रच्छिद्य आनडुहे गोमयपिंडे उत्तरतो ध्रियमाणे । प्रक्षिपति एवमेवापरं वारद्वयमुंदनकेशविनयकुशतरुणातर्द्धानक्षुराभिनिवान-सकेसकुशतरुणप्रच्छेदनगोमयपिण्डप्रासनानि तूष्णीं कुर्यात् तथा पश्चिमोत्तरयोर्गोदानयोः। एवमेव सकृत्समंत्रकं द्विस्तूष्णीं करोत्येतावान्विशेषः । पश्चिमगोदाने त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषमितिच्छेदनम् । उत्तरतो गोदाने येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्यामि सूर्यं तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये इत्यनेन मन्त्रेण छेदनम् । अन्यत्सर्वमुंदनादि गोमयपिण्डप्राशनांतं समानम् । ततो यत्क्षुरेण मज्जयिता सुपेशसा वप्ता वा वपति केशांश्छिन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीरित्यंतेन मन्त्रेण शिरसः समंतात्प्रदक्षिणं क्षुरं भ्रामयति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं ततस्तेनैवोदकेन समस्तं शिर आर्द्रमापाद्य अक्षुण्वन्परिवपेत्यन्तेन मन्त्रेण नापिताय क्षुरं समर्पयति स च नापितः सकेशवपनं कुर्वन् यथोक्तं केशशेशकरणं करोति ततः सकेशं गोमयपिंडमनुगुप्तं पल्वले गोष्ठे उदकांते वा निधाय चूडाकरणकर्ता स्वाचार्याय वरं ददाति केशांतेऽपि षोडशवर्षस्य सप्तदशे वर्षे इयमेव चूडाकरणोक्त इति कर्त्तव्यता । एतावांस्तु विशेषः उष्णोदकसेकमन्त्र उष्णेन वा य उदकेनेह्यदिते केशश्मश्रुवपनं तथा क्षुरपरिहरणे मुखसहितं शिरः परिहरति । तत्र परिहरणमन्त्रे यत्क्षुरेण मज्जतेत्यादि मास्यायुः प्रमोषीर्मुखं तथा यस्य यस्य केशांतः स स्वाचार्याय गां ददाति संवत्सरं वा द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रं वा ब्रह्मचर्यं करोति । शक्त्यपेक्षया विकल्पः तथा केशांतादूर्द्ध्वं शास्त्रीयवपनव्यतिरेकेण यावज्जीवमवपनं शास्त्रीयवपनं च ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे प्रथमकण्डिका ॥ १ ॥

सरला

१–२. (शिशु जब) एक वर्ष का हो जाये अथवा तीसरा वर्ष पूर्ण होने से पहले ही चूडाकरण (संस्कार कर देना चाहिए) ।

३. १६ वर्ष-वयस्क (किशोर का) केशान्त संस्कार (करना चाहिए) ।

४. अथवा सुविधानुसार सभी (संस्कार किए जा सकते हैं) ।

५. (चूडाकरण करते समय तीन) ब्राह्मणों को भोजन कराकर मां कुमार को स्नान कराये, एक बार धोया गया नवीन वस्त्र पहनाये, (अपनी गोद में) उसे लेकर (अग्नि से) पश्चिम ओर बैठ जाये ।

६. ब्रह्मा का वरण कर; १४ नित्य आहुतियाँ डालकर, संस्रव-प्राशन के अनन्तर शीतल जल में 'उष्णेन…' मंत्र पढ़कर गरम पानी डाल दे ।

७. केशान्त (संस्कार के समय) में (उक्त मंत्र में) 'केशश्मश्रु—' और (जोड़ दिया जाये)।

८. (उष्ण जल-प्रक्षेप के) अनन्तर उसी जल में नवनीत, घी या दही का पिण्ड भी डाल दे।

९. (फिर) उसमें से (चुल्लू में जल) लेकर (शिशु के सिर का) दाहिना भाग गीला करे, मंत्र पढ़े—'सवित्रा प्रसूता……'।

१०. साही के तीन स्थानों पर श्वेत काँटे से (केशराशि को) पृथक् कर 'ओषधे त्रायस्व…' मंत्र पढ़ते हुए उसमें तीन नये कुश लगा दे।

११–१२. शिवो नाम…' मंत्र पढ़कर लोहे का छुरा ले और 'निवर्तयामि…' मंत्र पढ़ते हुए (उसे दाहिने हाथ से) कुशों के मध्य में रखे।

'येनावपत्…' मंत्र पढ़कर सकेश कुशों को काटकर अग्नि के उत्तर रखे गये गोमयपिण्ड में डाल दे।

१३. इसी प्रकार से पुनः दो बार (यही कृत्य) मंत्र रहित (करना चाहिए)

१४. सिर के अन्य भागों में भी यही कर्म एक बार समन्त्र और दो बार मंत्र रहित किया जाये।

१५. पश्चिमभागगत केशों का वपन 'त्र्यायुषम्…' मंत्र पढ़कर करना चाहिए।

१६. 'येन भूरिश्चरा…' मंत्र उत्तरवर्ती केशों का वपन करते समय पठनीय है।

१७–१९. तीन बार सिर के चारों ओर (प्रदक्षिणाविधि से) 'यत्क्षुरेण…' मंत्र पढ़ते हुए (छुरे को, घुमाये)। केशान्त में (मंत्र में) 'समुखम्…' (पद) और (जोड़ दिया जाये)।

(यह कर्म भी तीन बार करना चाहिए—एक बार समन्त्र और दो बार मंत्ररहित)।

२०. उसी (शीतोष्ण) जल से केशराशि गीली कर 'अक्षुण्वन् परिवप…' मंत्र पढ़ते हुए नाई को छुरा दे दे।

२१. (शिखा रखी जाये या नहीं? रखी जाये तो कितनी?—इन प्रश्नों के संदर्भ में सूत्रकार का अभिमत है) सुविधा (या कुल-परम्परा) के अनुसार शिर पर केश शेष रखे जायें।

२२–२३. ढके हुए सकेश गोमयपिण्ड को गोशाला या छोटे जलाशय (तलैया) में डाल दे।

आचार्य को दक्षिणा दी जाये। केशान्त में गाय दक्षिणा के रूप दी जाये।

२४. केशान्त संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हुए वर्ष भर तक केश न काटे जायें; (यदि इतना संयम असंभव हो तो), १२ दिन, ६ दिन या अन्ततः तीन दिन तक ही (उक्त नियमों का पालन करना चाहिए)।

टिप्पणी—१. 'यथामंगलं' (सूत्र ४) पद का सामान्य अर्थ कुलपरम्परागत आचार है किन्तु कुछ आचार्यों ने इससे कर्मकाण्ड के अन्य ग्रन्थों में विहित कालों का ग्रहण भी किया है। केशान्त संस्कार के विषय में जयराम का कथन है कि यह विवाहित और अविवाहित दोनों का ही हो सकता है। गृह्यकारिका के अनुसार ब्राह्मण का केशान्त १६वें वर्ष, क्षत्रिय का २२वें वर्ष और वैश्य का इसके बाद होना चाहिए। सूत्रकार के 'यथामंगलं' की सार्थकता भी इसी सन्दर्भ में सिद्ध हो सकती है। गदाधर ने बहुत से स्मृतिगत मतान्तरों को भी उद्धृत किया है, जिन्हें वहीं देखना चाहिए।

२. शिखा का विषय भी विवादग्रस्त है। लौगाक्षिस्मृति के अनुसार वाजसनेयियों—प्रकृत गृह्यसूत्र के अनुयायियों को एक ही शिखा रखनी चाहिए—वाजसनेयिनामेकां मङ्गलार्थं।'

मंत्रार्थ

१. सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वस्य वर्चसे ॥

प्रजापति, गायत्री, जल।

ओ कुमार! सूर्य से उत्पन्न यह दिव्य जल तुम्हें दीर्घायु और तेजस्वी बनाने के लिये तुम्हारे सिर को आर्द्र करे।

२. येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥

लम्बायन, पंक्ति, सविता।

ओ ब्राह्मणों! सवितृदेव ने जिस छुरे से राजा सोम और वरुणदेव के केश मूँड़े थे—उसी से इस कुमार की केशराशि को आप काटें। इसके प्रभाव से यह दीर्घायु पुष्टाङ्ग हो।

३. येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्यञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥

वामदेव, यजुष्, छुरा।

हे कुमार! जिस मंत्र या तपस् के बल से चरणशील वायु चिरकाल तक द्युलोक और सूर्यलोक में बहती रहती है, उसी मंत्र से मैं तुम्हारी केशराशि का वपन करता हूँ। यह कृत्य तुम्हारी जीवनीशक्ति बढ़ाकर दीर्घायु बनाने और जीवन में मंगलमयता का सञ्चार करने के लिये है।

४. यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्वा वावपति केशाञ्छिन्धि शिरो माऽस्यायुः प्रमोषीः ॥

वामदेव, यजुष्, छुरा ।

हे क्षुराधिष्ठित देव ! नाई के हाथ में पकड़े गये इस छुरे से तुम कुमार के केशों को संस्कृत और अलंकृत करते हुए काटो—और हाँ, देखो, सिर को मत मूँड़ देना ।

५. अक्षण्वन् परिवप ।

वामदेव, यजुष्, क्षुराभिमानी देवता ।

ओ नाई, तुम इस कुमार के सिर को कटने से बचाते हुए आहिस्ते-आहिस्ते समस्त सिर के केश काट दो ।

(जयराम ने इस मंत्र का देवता छुरे को माना है किन्तु विश्वनाथ ने नापित (नाई) को) ।

द्वितीयकण्डिका—उपनयन

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे वा ॥ १ ॥ एकादशवर्षंराजन्यम् ॥ २ ॥ द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥ ३ ॥ यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥ ४ ॥ ब्राह्मणान्भोजयेत्तं च पर्युप्तशिरसमलंकृतमानयन्ति ॥ ५ ॥ पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति ब्रह्मचार्यसानीति च ॥ ६ ॥ अथैनं वासः परिधापयति येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥ ७ ॥ मेखलां बध्नीते । इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेय-मिति ॥ ८ ॥ युवासुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः ॥ तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त इति वा ॥ ९ ॥ तूष्णीं वा ॥१०॥ (यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः । यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञो-पवीतेनोपनह्यामीत्यथाजिनं प्रयच्छति मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धं अनाहनस्यं वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेऽहमिति) दण्डं प्रयच्छति ॥ ११ ॥ तं प्रतिगृह्णाति यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि-भूम्यां तमहं पुनराददं आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ १२ ॥ दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥ १३ ॥ अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति आपोहिष्ठेति तिसृभिः ॥ १४ ॥ अथैनं सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति ॥ १५ ॥ अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते । मम व्रते ते हृदयं दधामि । मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु

मह्यमिति ॥ १६ ॥ अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह को नामासीति ॥ १७ ॥ असावहं भो ३ इति प्रत्याह ॥ १८ ॥ अथैनमाह कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥ १९ ॥ भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति ॥ २० ॥ अथैनं भूतेभ्यः परिददाति देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥ २१ ॥ २ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा) अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ अष्टवर्षस्तं ब्राह्मणं द्विजोत्तममुपनयेत् उपनयनाख्येन संस्कारेण संस्कुर्यात् गर्भाष्टमेषु वा गर्भः अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु वा उपनयेत् ततश्च जन्मतो नवमेऽष्टमे वा उपनयेदित्यर्थः । (एकादशवर्षं राजन्यम्) एकादशवर्षाण्यतीतानि यस्य असौ एकादशवर्षस्तं जन्मतो द्वादशवर्ष इत्यर्थः । राजन्यं क्षत्रियमुपनयेदित्यनुषज्यते । (द्वादशवर्षं वैश्यम्) द्वादशवर्षाण्यतिक्रांतानि यस्य स तथा तं जन्मतस्त्रयोदशे वैश्यमुपनयेत् (यथामंगलं वा सर्वेषाम्)। पक्षांतरमाह—अथ वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां यथामंगलं यथामंगलधर्मं यद्वा यथामंगलशब्देन स्मृत्यंतरोक्तपंचवर्षादिकालसंग्रहः । यथाह मनुः "ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पंचमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे" ॥ आपस्तम्बोऽपि । अथ काम्यानि—सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामम् अष्टमे आयुष्कामं नवमे तेजस्कामं दशमे अन्नाद्यकामम् एकादशे इंद्रियकामं द्वादशे पशुकाममुपनयेत् तथा वसंते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं गर्भाष्टमे वर्षे वसंते ब्राह्मण आत्मानमुपनाययेत् एकादशे क्षत्रियो ग्रीष्मे द्वादशे वैश्यो वर्षासु वर्षाशब्देन शरदेवाभिधीयते "ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमंत" इति यास्कवचनाद् वर्षास्वंतर्भवति शरद एवमुपनयनकालमभिधायेदानीं कर्माह (ब्राह्मणान् भोजयेत्तं च) त्रीन् ब्राह्मणान् भोजयेत् आशयेत् ॥ तं च कुमारं वपनानन्तरमाशयेदिति चकारेणानुषज्यते (पर्युप्तशिरसमलंकृतमानयन्ति) परि सर्वतः उप्तं मुंडितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिरास्तमलंकृतं यथासंभवं रत्नसुवर्णनिर्मितैः कुंडलाद्यलंकारैः आनयंति आचार्यपुरुषाः आचार्यसमीपमाचार्यलक्षणं यमेनोक्तं "सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः । आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥ वेदाध्ययनसंपन्नो वृत्तिमान्विजितेन्द्रियः ॥ न याजयेद्वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम्" (पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति) तत आचार्यो माणवकमग्नेः पश्चिमतः आत्मनो दक्षिणतः अवस्थाप्य अवस्थितं कृत्वा ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीति प्रैषमुक्त्वा माणवकं ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति (ब्रह्मचार्यसानीति च) ब्रह्मचार्यसानीत्याचार्यो माणवकं प्रेषयति प्रेषितश्च माणवकः ब्रह्मचार्यसानीति वदेत् (अथैनं वासः परिधापयति येनेंद्राय बृहस्पतीत्यादि वर्चसेत्यंतम् । अथ वाचनानंतरमेनं कुमारमाचार्यः वक्ष्यमाणलक्षणं शाणादिवासः परिधापयति परिहितं कारयति येनेंद्रायेत्यादिमंत्रं पठित्वा (मेखलां

बध्नीते)। ततः मेखलां मौंज्यादिकां वक्ष्यमाणलक्षणां बध्नीते कटिप्रदेशे वृतं प्रवरसंख्यग्रंथियुतं प्रादक्षिण्येन परिवेष्टयति इमं दुरुक्तमित्यादिना मेखलेयमित्यंतेन मन्त्रेण माणवकपठितेन युवा सुवासा इत्यादि देवयंत इत्यंतेन वा मन्त्रेण तूष्णीं वा मेखलां बध्नीते। अत्र यद्यपि सूत्रकारेण यज्ञोपवीतधारणं न सूत्रितं तथाप्येकवस्त्राः प्राचीनावीतिन इति प्रेतोदकदाने प्राचीनावीतित्वविधानाद् 'दंडाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्' इति याज्ञवल्क्येन ब्रह्मचारिणः उपवीतधारणस्मरणात्। तथा "सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च। विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतमिति" छांदोगपरिशिष्टे "कात्यायनेन सामान्यतः सर्वाश्रमिणां सदा यज्ञोपवीतधारणस्मरणात् यज्ञोपवीतधारणं तावदुपनयनप्रभृति प्राप्तम्" तच्च कुत्र कर्त्तव्यमित्यवसरापेक्षायामौचित्यान्मेखलाबंधनानंतरं युज्यते। एतदेव कर्कोपाध्यायवासुदेवदीक्षितरेणुदीक्षितप्रभृतयः स्वस्वग्रंथे यज्ञोपवीतधारणमंत्रावसरे लिखितवंतः। तच्च सर्वकर्मांगत्वान्मंत्रवद्युज्यत इति मंत्रमपि शाखांतरीयं मंत्रमपि लिखितवंतः। ततोऽत्र 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुंच शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेज' इति माणवकपठितेन मंत्रेण उपवीतं परिधापयति आचामयति च। अथ तूष्णीमैणेयमजिनमुत्तरीयं करोति (दंडं प्रयच्छति तं प्रतिगृह्णाति) यो मे दंड इति आचार्यो माणवकाय वक्ष्यमाणलक्षणं दंडं प्रयच्छति तूष्णीं माणवकश्च तं दंडं यो मे दंड इत्यादिना ब्रह्मवर्चस इत्यंतेन मंत्रेण प्रतिगृह्णाति (दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात्)। एके आचार्या दीक्षावत् दीक्षायां यथा दंडप्रदानं सोमे तथेच्छन्ति तत्र उच्छ्रयस्व वनस्पत इत्यादिना यज्ञस्योदृच इत्यंतेन मंत्रेण यजमानो दंडमुच्छ्रयति तद्वदत्र ब्रह्मचारी केन हेतुना दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैतीत्यारभ्य ब्रह्मचर्यस्य दीर्घसत्रसंपत्प्रतिपादनात् (अथास्याद्भिरंजलिनांजलिं पूरयत्यापो हिष्ठेति तिसृभिः)। अथ दंडप्रदानानंतरम्। आचार्यं अस्य माणवकस्य अञ्जलिं स्वकीयाञ्जलिस्थाभिरद्भिः आपो हिष्ठेत्यादिकाभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः पूरयति। (अथैनं सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति) अथानंतरम् एनं माणवकं सूर्यमुदीक्षस्वेत्येवं प्रेष्य सूर्यमादित्यमुदीक्षयति अवलोकनं कारयति स च प्रेषितः तच्चक्षुरित्यादिना सूयश्च शरदः शतादित्यंतेन मन्त्रेण सूर्यमुदीक्षते॥ (अथास्य दक्षिणांसमधिहृदयमालभते मम व्रते त इति)। अथ सूर्यदर्शनानंतरम् आचार्योऽस्य माणवकस्य दक्षिणांसमधि दक्षिणस्कंधस्योपरि स्वं दक्षिणहस्तं नीत्वा हृदयं वक्षः मम व्रते त इत्यादिना बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमित्यंतेन मन्त्रेण आलभते स्पृशति। (अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽह को नामासीति। अथ हृदयालंभनानंतरमाचार्यः अस्य माणवकस्य स्वकीयेन दक्षिणहस्तेन दक्षिणं हस्तं गृहीत्वा धृत्वा को नामासि इति आह ब्रवीति असावहं भो इति प्रत्याह। एवं पृष्टो माणवकः असौ अमुकशर्मा अहं भो इति प्रत्याह प्रतिवचनं दद्यात् (अथैनमाह कस्य ब्रह्मचार्यसीति। भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवासाविति। अथ प्रति-

वचनानंतरमाचार्य एनं माणवकं कस्य ब्रह्मचार्यसीत्याह पृच्छति। भवत इति माणवकेनोच्यमाने इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असुकशर्मन्निति पठति (अथैनं भूतेभ्यः परिददाति)। अथानंतरम् एनं कुमारमाचार्यः भूतेभ्यः प्रजापतिप्रभृतिभ्यः परिरक्षितुं ददाति प्रयच्छति तत्र मंत्रः प्रजापतये त्वेत्यादिभ्यः अरिष्टचा इत्यन्तः ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे द्वितीयकण्डिका ॥ २ ॥

सरला

१–४. ब्राह्मण (बालक) का उपनयन (संस्कार) जन्म के आठवें वर्ष या गर्भ के आठवें वर्ष, क्षत्रिय-कुमार का ११ वें और वैश्य-बालक का १२ वें वर्ष (करना चाहिए) । अथवा सभी का सुविधा (या कुल-परम्परा) के अनुसार (किया जा सकता है) ।

५. (तीन) ब्राह्मणों को भोजन कराकर, बालक सिर मूंड़कर (आचार्य के अपने आदमी) उसे साजसँवारकर (आचार्य के समीप) ले आयें ।

६. (अग्नि से) पश्चिम ओर खड़ा कर (आचार्य) उससे दुहराने के लिए कहे —'ब्रह्मचर्यमागाम् ।' (प्रेषित माणवक इसे दुहरा दे) ।

आचार्य माणवक से कहे कि तुम 'ब्रह्मचार्यसानि' कहो । (प्रेषित माणवक कहे—'ब्रह्मचार्यसानि ।'

७. (वाचन के अनन्तर) 'येनेन्द्राय…' मंत्र पढ़कर (आचार्य) कुमार को वस्त्र पहनाये ।

८. (तदनन्तर आचार्य कुमार को मूंज आदि की) मेखला 'इयं दुरुक्तं…' मंत्र पढ़ते हुवे पहनाये ।

९-१० अथवा [उपर्युक्त मंत्र के स्थान पर] 'युवा सुवासा…' मंत्र पढ़े या विना मंत्र-पाठ के ही बांध दे ।

११. यद्यपि सूत्रकार ने यज्ञोपवीत धारण करने के विषय में यहां कुछ नहीं कहा है, तथापि स्मृति-वचन—'सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च । विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तस्य तत्'—के अनुसार परम्परागत आचारवश यज्ञोपवीत धारण ही किया जाता है । इसीलिए भाष्यकारों का कथन है—'अस्मिन्नवसरे प्रसिद्धया यज्ञोपवीतमेवेच्छन्ति' (कर्क); 'अत्रावसरे यज्ञोपवीताजिने भवत आचारात्' (जयराम); 'कात्यायनेन सामान्यतः सर्वाश्रमिणां सदा यज्ञोपवीतधारणस्मरणात् यज्ञोपवीतधारणं औचित्यान्मेखलाबन्धनानन्तरं युज्यते—' (हरिहर) ।' वासुदेव दीक्षित, रेणुदीक्षित, गदाधर और विश्वनाथ सभी इससे सहमत हैं । 'यज्ञोपवीत-धारण करने के समय पठनीय मंत्र शाखान्तरीय होने पर भी स्वविरुद्ध न होने के कारण दिया जा रहा है) ।

('यज्ञोपवीतं....' मंत्र माणवक के द्वारा पढ़ने पर आचार्य उसे यज्ञोपवीत पहनाये और आचमन भी कराये। तदनन्तर बिना मंत्र-पाठ के ही उसे मृगचर्म प्रदान किया जाये (हरिहर ने अजिन-विधि का उल्लेख नहीं किया है, अपने समर्थन में कर्क का मत उन्होंने अवश्य उद्धृत किया है : 'तूष्णीमैणेयमजिनमुत्तरीयं करोति मित्रस्य चक्षुरिति मन्त्रेणेत्यन्ते कर्काचार्यैरजिनधारणमेव नोक्तम्।' गदाधर और विश्वनाथ ने अजिन-धारण के विषय में अपनी सहमति ही व्यक्त की है) ।

('मित्रस्य चक्षुः....' मंत्र पढ़कर) माणवक को (आचार्य) दण्ड प्रदान करे।

१२. 'यो मे दण्डः....' मंत्र पढ़कर (ब्रह्मचारी) उसे ले ले।

१३. कुछ (आचार्यों का मत है कि सोमयाग की) दीक्षा (के अवसर) पर जैसे (मंत्रवर्जित दण्डग्रहण होता है, तदनन्तर 'उच्छ्रयस्व वनस्पते......' मंत्र पढ़कर उसे ऊपर उठाया जाता है) वैसे ही (यहाँ भी होना चाहिए क्योंकि ब्रह्मचर्य को भी दीर्घसत्र संपदा के सदृश) बतलाया गया है—'दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।'

१४. तदनन्तर 'आपोहिष्ठा....' प्रभृति तीन ऋचायें पढ़कर [आचार्य] अपनी अञ्जलि में स्थित जल को माणवक की अञ्जलि में भर दे।

१५. 'तच्चक्षुः....' मंत्र पढ़कर (आचार्य माणवक को) सूर्य दिखलाये।

१६. तदनन्तर (आचार्य) माणवक के दाहिने कंधे के ऊपर से (अपना दाहिना हाथ ले जाकर) 'मम व्रते....' मंत्र पढ़ते हुए उसके वक्षःस्थल का स्पर्श करे।

१७. (आचार्य अपने हाथ में) माणवक के दाहिने हाथ को लेकर पूछे—'तुम्हारा क्या नाम है ? (को नामासि ?)'

१८. (इस पर माणवक कहे—) 'यह (अपना नाम) मैं हूँ—(असौ अहं भो !)'

१९. तदनन्तर (आचार्य) पूछे—'तुम किसके ब्रह्मचारी हो ? (कस्य ब्रह्मचार्यसि ?)'

२०. (माणवक कहे–) 'आपका' (भवतः)। (तब आचार्य उससे कहे–) 'तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि आचार्य हैं, यह मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।'

२१. तदनन्तर (आचार्य) माणवक को 'प्रजापतये त्वा....' मंत्र पढ़कर प्रजापति प्रभृति को रक्षा के निमित्त अर्पित कर दे।

टिप्पणी—१. उपनयन-काल। 'मनुस्मृति–' ब्रह्मवर्चस् की कामना से ब्राह्मण का पांचवें वर्ष, बलकामी क्षत्रिय का छठे वर्ष और सांसारिक अभ्युदय के इच्छुक वैश्य का उपनयन आठवें वर्ष में होना उचित है। आपस्तम्ब ने यही बात दूसरे रूप में कही है। तदनुसार ब्रह्मवर्चसकामी का सातवें वर्ष, दीर्घायुकामी का आठवें वर्ष, तेजोकामी का १०वें वर्ष, अन्नाद्यकामी का ११वें वर्ष और इन्द्रिय तथा पशु-समृद्धि की अभिलाषा करनेवाले का उपनयन १२वें वर्ष में होना चाहिए।

ब्राह्मण-बालक का उपनयन वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य-कुमार का शरद् ऋतु में करना चाहिए। इस सन्दर्भ में विस्तृत विवरण गदाधर-भाष्य में देखा जा सकता है।

२. यम-स्मृति के अनुसार सत्यभाषी, धैर्यशाली, चतुर, करुणामय, आस्तिक, स्वाध्यायशील और पवित्र व्यक्ति ही आचार्य पद का अधिकारी है—

'सत्यवाक् धृतिमान्दक्षः सर्वभूतदयापरः।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते॥
वेदाध्ययनसम्पन्नो वृत्तिमान्विजितेन्द्रियः।
न याजयेद्वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम्॥'

३. मेखला—बन्धन। यह कटि में तीन बार लपेटी जायेगी। तीसरी लपेट में तीन, पाँच या सात गांठें डाली जायें।

४. 'स्मृत्यर्थसार' में यज्ञोपवीत के विषय में कहा गया है:—

'कार्पासक्षौमगोबालशाणवल्कतृणादिकम्।
यथासंभवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥
शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके।
आवेष्ट्य षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥
अब्लिङ्गकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं तु तत्।
अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥
अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नव सूत्रकम्।
त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमेत्॥

५. दण्ड। ब्राह्मण पलाश—दण्ड, क्षत्रिय बिल्व—दण्ड और वेणु—दण्ड का अधिकारी है।

मंत्रार्थ

१. येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥

अङ्गिरा, बृहती, बृहस्पति।

ओ कुमार! बृहस्पति ने जिस तरह और जो वस्त्र पहनाकर इन्द्र का संस्कार किया था, वही अमर और अक्षय वस्त्र मैं तुम्हें दीर्घायु, बली और ब्रह्म-वर्चस्वी बनाने के लिए पहनाता हूँ।

२. इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥

वामदेव, त्रिष्टुप्, मेखला।

वह्नि की भांति हितकारिणी, दीप्तिदात्री और सौभाग्यप्रदा यह मेखला मेरे पाप और अपावित्र्य को नष्ट कर, वर्ण को शुद्ध करती हुई प्राण और अपान की सुस्थापना से मुझे शक्ति समन्वित करने वाली है।

३. युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः ॥ तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥

अङ्गिरा, बृहती, बृहस्पति।

—जो युवक सुन्दर वस्त्र धारण कर [सभा के मध्य] आता है, वह उदीयमान पुरुषों के मध्य श्रेय का भाजन बनता है। धैर्यशाली, क्रान्तदर्शी और उन्नत चित्तवृत्तिवाले पुरुष उसे वेदार्थ का ज्ञान कराते हुए प्रगति–पथ पर अग्रसर करते हैं।

४. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, यज्ञोपवीत।

हे आचार्यदेव ! इस यज्ञोपवीत को मैं बाँध लूँ ? ब्रह्मा से सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण यह स्वभावतः अत्यन्त पवित्र और आयुष्कर है। यह हमें सतेज और बलशाली बनाये।

५. मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धं अनाहनस्यं वसनं जरिष्णुः परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम् ॥

मैं उस मृग-चर्म को धारण कर रहा हूँ जो सूर्य का नेत्र है; बल, तेज, यश प्रदान करने वाला है; प्राचीन, दीप्तिमान्, संयम-शक्ति बढ़ाने वाला और वृद्धावस्था का नाशक है—यह मृगचर्म मुझे अन्न-समृद्ध बनाये।

६. यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्यां तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥

प्रजापति, यजुष्, दण्ड।

हे आचार्यदेव ! जो दण्ड मेरे सम्मुख आकाश और पृथिवी तक व्याप्त है उसे मैं पुनः चिरायु, वेदज्ञान और ब्रह्मवर्चस् की कामना से ग्रहण कर रहा हूँ।

७. मम व्रते⋯⋯।

(विवाह—प्रकरण में व्याख्यात)।

८. प्रजापतये⋯⋯⋯⋯ परिददाम्यरिष्ट्यै।

प्रजापति, यजुष्, लिङ्गोक्तदेवता।

भो कुमार ! मैं तुम्हारी रक्षा का भार प्रजापति, सविता, जल, औषधि, द्यावापृथिवी तथा अन्य सभी देवताओं पर सौंपता हूँ।

तृतीयकण्डिका

प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥ १ ॥ अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनं संशास्ति ब्रह्मचार्यस्यपोशान कर्म कुरु मा दिवा सुषुप्था वाचं यच्छ समिधमाधेह्यपोशानेति ॥ २ ॥ अथाऽस्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥ ३ ॥ दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥४॥ पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥५॥ संवत्सरे षण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा ॥ ५-६ ॥ सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥ ७ ॥ त्रिष्टुभं राजन्यस्य ॥ ८ ॥ जगतीं वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥ १० ॥ ३ ॥

हरिहरभाष्यम्

(प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति)। एवं वस्त्रदानादिभिराचार्येण संस्कृतो माणवकः अग्निं प्रदक्षिणं यथा भवति तथा परीत्य परिक्रम्य पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरतः उपविशति आस्ते (अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा) प्राशनांते ।। ततः ब्रह्मणान्वारब्ध आचार्यं आघारादिस्विष्टकृदंताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनांते अत्र पुनरन्वारंभानुवादः चतुर्दशाहुतिहोमव्यतिरिक्तहोमप्रतिषेधार्थः (अथैनं संशास्ति ब्रह्मचार्यस्यपोऽशान कर्म कुरु मा दिवा सुषुप्था वाचं यच्छ समिधमाधेह्यपोशानेति)। अथानंतरमाचार्यः एनं माणवकं संशास्ति शिक्षयति कथं ब्रह्मचारी असि। असानीति माणवकेन प्रत्युक्तः अप अशान पिब इति। अशानीति प्रत्युक्तः कर्म स्नानादिकं स्ववर्णाश्रमविहितं कुरु विधेहि। करवाणीति प्रत्युक्तः मा दिवा सुषुप्थाः स्वाप्सीरिति। न स्वपामीति प्रत्युक्तः वाचं गिरं यच्छ नियमय। यच्छानीति प्रत्युक्तः समिधं वक्ष्यमाणप्रकारेण आधेहि अग्नौ प्रक्षिपेति। अपोऽशानेति पूर्ववत् (अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैकपच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वाञ्च तृतीयेन सहानुवर्त्तयन्)। अथ शासनानंतरम् अस्मै ब्रह्मचारिणे सावित्रीं सवितृदेवत्यां गायत्रीछंदस्कां विश्वामित्रदृष्टाम् ऋचम् अन्वाह उपदिशति कथंभूताय प्रत्यङ्मुखाय पश्चिमाभिमुखाय पुनः कथंभूताय उपविष्टाय क्व अग्नेरुत्तरस्यां दिशि तथा उपसन्नाय पादोपसंग्रहणादिना भजमानाय तथा समीक्षमाणाय सम्यक् आचार्यमवलोकयते तथा आचार्येण सम्यगवलोकिताय। पक्षांतरमाह दक्षिणतः अग्नेर्दक्षिणस्यां दिशि तिष्ठते ऊर्द्धाय ऊर्द्धीभूताय वा आसीनाय उपविष्टाय इत्येके आचार्याः सावित्रीप्रदानं मन्यंते कथयन्वाह पच्छ पादं पादम् अर्द्धर्चशः तदनु अर्द्धर्चमर्द्धर्चम्, तदनु च सर्वां तृतीयेन वारेण सह मिलित्वा आवर्त्तयन् (संवत्सरे षण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा। सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः। त्रिष्टुभं राजन्यस्य जगतीं वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम्) सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानाह संवत्सरे उपनयनमारभ्य पूर्णे वर्षे षण्मास्ये षडेव मासाः षण्मास्यं स्वार्थे

तद्धितश्छांदसो वृद्धिलोपः "छंदोवत्सूत्राणि भवन्तीति वचनात्" तस्मिन् षण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे चतुर्विंशत्या अहोभिरुपलक्षितः कालः चतुर्विंशत्यहः तस्मिन् द्वादशाहे द्वादशभिरहोभिरुपलक्षितः कालो द्वादशाहस्तस्मिन् षडहे षड्भिरहोभिरुपलक्षितः कालः षडहः तस्मिन् त्र्यहे त्रिभिरहोभिरुपलक्षितः कालस्त्र्यहस्तस्मिन्। वाशब्दः सर्वेषु संवत्सरादिषु संबध्यते एते कालविकल्पाः आचार्यस्य शुश्रूषाऽऽदिशिष्यगुणतारतम्यापेक्षाः । एवं सामान्येन सावित्रीप्रदानस्य कालविकल्पानभिधायाधुना ब्राह्मणस्य विशेषमाह—तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ ब्राह्मणस्य नैते कालविकल्पाः किंतु क्षत्रियवैश्ययोः ब्राह्मणस्य सद्य एव गायत्रीम् अनुब्रूयात् कुतः 'आग्नेयो वै ब्राह्मण' इति श्रुतेः। आग्नेयो अग्निदेवत्यः ब्राह्मण इति वेदवचनात् त्रिष्टुभं राजन्यस्य जगतीं वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीं राजन्यस्य क्षत्रियस्य त्रिष्टुप्छंदो यस्याः सा त्रिष्टुप् तां त्रिष्टुभं जगतीछंदो यस्याः ऋचः सा जगती तां जगतीं वैश्यस्य सावित्रीमनुब्रूयादित्यनुषज्यते सर्वेषां वा गायत्रीं सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्रीमेव गायत्रछंदस्कामेव सावित्रीं सवितृदेवताकां तत्सवितुरिति सकलवेदशाखाम्नाताम् ऋचमनुब्रूयात् ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे तृतीयकंडिका ॥ ६ ॥

सरला

१. (वस्त्रादि-विभूषित माणवक) अग्नि की प्रदक्षिणा कर (उसके) पश्चिम (और आचार्य के उत्तर) बैठ जाये।

२. ब्रह्मा का वरण कर, (१४ नित्य) आज्याहुतियों का होम कर, संस्रव-प्राशन के अनन्तर (आचार्य) माणवक को उपदेश दे—

(आचार्य—) 'जल पियो' (अपोशान)।

'वर्णाश्रम-विहित कर्म करो, दिन में मत सोओ, वाणी पर नियन्त्रण रखो, समिदाधान करो, (पूर्ववत्) जल पियो।' (माणवक प्रथम उपदेश की भाँति प्रति-वचन अवश्य बोले)।

३. (उपदेश के) अनन्तर अग्नि के उत्तर और (आचार्य के) पैर पकड़कर बैठे हुए, (आचार्य को) देखते और देखे जाते हुए माणवक को सावित्री मंत्र सिखाया जाये।

४. कुछ (आचार्यों का मत है कि) दक्षिण और खड़े या बैठे हुए माणवक को (आचार्य सावित्री मंत्र सिखलाये)।

५. (सावित्री मंत्र सिखलाने की विधि) पहले एक-एक पाद (स्वयं कहकर फिर उससे कहलाये, फिर) आधी-आधी ऋचा (कहलाये); तीसरी बार में पूरी ऋचा आचार्य के साथ दुहराते हुए (माणवक कहे)।

६. (शिष्य की योग्यतानुसार आचार्य उसे) वर्ष भर में, छठे मास, (उपनयन के) २४वें, १२वें, छठे या तीसरे दिन (सावित्री मंत्र सिखलाया जा सकता है)।

७. (आचार्य) ब्राह्मण (माणवक) को (उपनयन संस्कार के) तत्काल (बाद) ही गायत्री (छन्द में निबद्ध सावित्री) मंत्र सिखला दे, क्योंकि श्रुति-वचन है—'आग्नेयो वै ब्राह्मणः'—ब्राह्मण में अग्निदेवता का अंश विशेष रूप से होता है।

८–९. क्षत्रिय और वैश्य-(कुमार) को (क्रमशः) त्रिष्टुप् (और) जगती (छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र सिखलाये जायें)।

१०. अथवा सभी को गायत्री (छन्दःस्क सावित्री मंत्र सिखलाया जा सकता है)।

टिप्पणी—१. गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र क्रमशः ये हैं—

गायत्री—'तत्सवितुर्वरेण्यं···' (ऋषि विश्वामित्र) त्रिष्टुप्—'देवसवितः···' (बृहस्पति ऋषि) जगती—'विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चत···' (प्रजापति ऋषि) इन तीनों के पहले 'भूः, भुवः, स्वः' प्रभृति तीन महाव्याहुतियां भी जुड़ेंगी।

२. अब से नित्य संध्या-वन्दन होगा। गदाधर ने अपने भाष्य में तथा विश्वनाथ ने पद्धति में विभिन्न स्मृतियों और पुराणों के वचनों को उद्धृत करते हुए इसकी विस्तृत मीमांसा की है।

३. प्रथम सूत्र तनिक विवादास्पद है। जयराम और हरिहर का भाष्य है। 'पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरत उपविशति', भर्तृयज्ञ और गृह्यकारिकाकार का मतः 'पश्चादग्नेरुपवेशनम्'; 'गर्गपद्धति' में किन्तु आचार्य के दाहिने बैठने का विधान किया गया है।

चतुर्थकण्डिका

अथ समिदाधानम् ॥ १ ॥ पाणिनाऽग्निं परिसमूहति 'अग्नेसुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं मा ॐ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥ २ ॥ प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति अग्नये समिधमहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहामायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाम्यहमसान्यनिराकारिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयास ॐ स्वाहेति ॥ ३ ॥ एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥ ४ ॥ एषात इति वा समुच्चयो वा ॥ ५ ॥ पूर्ववत्परिसमूहनपर्युक्षणे ॥ ६ ॥ पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मेदेहि व्वर्चोदा अग्नेऽसि व्वर्चो मेदेहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥ ७ ॥ मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्कर-

स्रजाविति ॥ ८ ॥ ४ ॥ (अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रंयशोबलमिति त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे ॐसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम्) ॥ ४ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अत्र समिदाधानम्) अत्र सावित्रीप्रदानोत्तरकाले समिधाम् आधानं प्रक्षेपः ब्रह्मचारिणो भवति अत्राग्नाविति भाष्यकारः। अत्रावसरस्य पाठादेव सिद्धे अत्र (पाणिनाग्निं परिसमूहति) पाणिना दक्षिणहस्तेन अग्निं प्रकृतहोमाधिकरणं परिसमूहति संधुक्षयति इंधनप्रक्षेपेण वक्ष्यमाणैः पंचभिर्मंत्रैः यथा अग्ने सुश्रवः सुश्रवसम्मा कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि एवं मा सुश्रवः सौश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्। केचित्परिसमूहने त्रीन्मंत्रान्मन्यंते तद्यथा अग्ने सुश्रव इत्यारभ्य सुश्रवसं मा कुरु इत्येकं यथा त्वमग्ने इत्यारभ्य सौश्रवसं कुरु इत्येवं द्वितीयं यथा त्वमग्ने देवानामित्यादि भूयासमित्यंतं तृतीयमिति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्थाय समिधमादधात्यग्नये समिधमिति ततः प्रदक्षिणं यथा भवति तथा पर्युक्ष्य दक्षिणहस्तगृहीतेनोदकेन परिषिच्य उत्थाय ऊर्ध्वीभूय प्राङ्मुखस्तिष्ठन् समिध्यते दीप्यते अग्निरनयेति समित् तां समिधम् आदधाति प्रक्षिपति समिल्लक्षणं छंदोगपरिशिष्टे "नांगुष्ठादधिका कार्या समित्स्थूलतया क्वचित्। न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता॥ प्रादेशान्नाधिका न्यूना न तथा स्याद्विशाखिका। न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु न विजानता" ब्रह्मपुराणे "पालाशाश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षवैकंकतोद्भवाः॥ अश्वत्थोदुंबरो बिल्वश्चंदनः सरलस्तथा॥ शालश्च देवदारुश्च खदिरश्चेति याज्ञिकाः" मरीचिः "विशीला विदला ह्रस्वा वक्राः ससुषिराः कृशाः॥ दीर्घाः स्थूला घुणैर्जुष्टाः कर्मसिद्धिविनाशिकाः" अस्य पूर्वश्लोकः प्रागग्राः समिधो देयास्ताश्च काम्येष्वपाटिताः॥ काम्येषु च सवल्कार्द्रा विपरीता जिघांसत इति केन मंत्रेण? अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिद्धयस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिधे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यैभिनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादोभूयासं स्वाहेत्यनेन मंत्रेण एवं द्वितीयां तथा तृतीयामेषा त इति वा समुच्चयो वा। एवमनेनैव मंत्रेण द्वितीयां समिधमादधाति तथा तेनैव मन्त्रेण तृतीयाम्। मंत्रविकल्पमाह एषा ते अग्ने समिदित्यादि आचम्यासिषीमहीत्यनेन वा मंत्रेण अथवा अग्नये समिधमित्येषा त इति द्वयोर्मंत्रयोः समिदाधाने समुच्चयः ऐक्यं ततश्च मंत्रद्वयांते समित्प्रक्षेपः इति त्रयो मंत्रविकल्पाः। (पूर्ववत्परिसमूहनपर्युक्षणे) पूर्ववत् अग्ने सुश्रव इत्यादिभिः पंचभिर्मंत्रैः परिसमूहनं पर्युक्षणमपि पूर्ववत्कुर्यात्। पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे तनूपा अग्नेसि तन्वम्मे पाह्यायुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि वर्चो दा अग्नेसि वर्चो मे देहि अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृणेति मेधाम्मे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति पाणी हस्तौ प्रतप्य अग्नौ तापयित्वा तनूपा

अग्नेसीत्यादिभिः सप्तभिर्मंत्रैः प्रतिमंत्रं पाणिभ्यां मुखं विमृष्टे ललाटादि चिबुकांतं प्रोञ्छति तत्र मेधां मे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती अवयोरादधात्वित्यध्याहारः। अत्र शिष्टाचारप्राप्ताः केचित्पदार्था लिख्यंते। अंगानि च म आप्यायंतां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति अङ्गानि च म इत्यनेन मंत्रेण शिरःप्रभृतीनि पादांतानि अंगान्यालभेत एवं वाक् इत्यनेन मुखं प्राण इत्यनेन नासिके चक्षुरित्यनेन चक्षुषी श्रोत्रमित्यनेन श्रवणे यशो बलमित्यस्य पाठमात्रं त्र्यायुषाणि कुरुते भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंसे हृदि च त्र्यायुषमिति प्रतिमंत्रं त्र्यायुषमित्येतैश्चतुर्भिर्मंत्रपादैः अनामिकागृहीतेन भस्मना ललाटग्रीवादक्षिणांसहृदयेषु प्रतिपादं त्र्यायुषाणि कुरुते अत्र। त्र्यायुषकरणं सूत्रकारानुक्तमपि प्रसिद्धत्वात् शिष्टपरंपराचरितत्वात् क्रियते। ततो ब्रह्मचारी संध्यामुपास्याग्निकार्यं कृत्वा गुरुषूपसंग्रहणं वृद्धतरेष्वभिवादनं वृद्धेषु नमस्कारं कुर्यात्पर्यायः।

अत्र स्मृत्यन्तरोक्तमभिवादनं लिख्यते "ततोभिवादयेद्वृद्धानसावयमिति ब्रुवन्" इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रणीतस्याभिवादनप्रयोगो यथा उपसंग्रहणं नाम अमुकगोत्रोऽमुकेत्येतावत्प्रवरः अमुकशर्म्माहं भो ३ श्रीहरिहरशर्मन् त्वामभिवादये इत्युक्त्वा कर्णौ स्पृष्ट्वा दक्षिणोत्तरपाणिभ्यां दक्षिणपाणिना गुरोर्दक्षिणं पादं सव्येन सव्यं गृहीत्वा शिरोवनमनम् अभिवादने पादग्रहणं नास्ति पादस्पर्शनं कार्यं न वा आयुष्मान् भव सौम्यामुक इति प्लुतान्तमुक्त्वा अमुकशर्मन् इति प्रत्यभिवादः कार्यः आयुष्मान् भव सौम्येति प्रत्यभिवादः। अत्र गुरवो माता स्तन्यदात्री च पितापितामहयोः मातामहश्चान्नदाता भयत्राताऽचार्यश्चोपनेता च मंत्रविद्योपदेष्टा तेषां पत्न्यश्चोपसंग्राह्याः। समावृत्तेन बाले समवयस्के वाऽध्यापके गुरुवच्चरेत्। मातुलाश्च पितृव्याश्च श्वशुराश्च यवीयसोपि प्रत्युत्थायाभिवाद्याः। उपाध्याया ऋत्विजो ज्येष्ठभ्रातरश्च सर्वेषां पत्न्यश्चैवं मातृष्वसा सवर्णा भ्रातृभार्या च नित्यमभिवाद्याः 'विप्रोष्य तूपसंग्राह्या जातिसंबंधियोषितः। विप्रोष्य विप्रं कुशलं पृच्छेन्नृपमनामयम्॥ वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ न वाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि सर्वथा॥ पूज्यैस्तमभिभाषेत भो भवन् कर्मनामभिः। परपत्नीमसंबंधां भगिनीं चेति भाषयेत्॥ त्रिवर्षपूर्वं श्रोत्रियोभिवाद्यः अत्रिवर्षाः सम्बन्धिनः स्वल्पेनापि स्वयोनिजः। अन्ये च ज्ञानवृद्धाः सदाचाराश्चाभिवाद्याः "उदक्यां सूतिकां नारीं भर्तृघ्नीं गर्भपातिनीम्। पाषंडं पतितं व्रात्यं महापातकिनं शवम्। नास्तिकं कितवं स्तेनं कृतघ्नं नाभिवादयेत्। मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं धावंतमशुचिं नरम्॥ वमंतं जृम्भमाणं च कुर्वंतं दंतधावनम्। अभ्यक्तं शिरसि स्नानं कुर्वन्तं नाभिवादयेत्" इति शातातपः। बृहस्पतिस्तु "जपयज्ञजलस्थं च समित्पुष्पकुशाग्नितलान्। उदपात्राघ्र्यभैक्षान्नं वहंतं नाभिवादयेत्॥ अभिवाद्य द्विजश्चैतानहोरात्रेण शुध्यति"॥ क्षत्रवैश्याभिवादने विप्रस्यैवं शूद्राभिवादने त्रिरात्रं कार्यं तु रजकादिषु "चांडालादिषु चांद्रं स्यादिति संग्रहकृत्स्मृतम्"। जमदग्निः देवताप्रतिमां दृष्ट्वा यतिं चैवं त्रिदंडिनम्। नमस्कारं न कुर्याच्चेदुपवासेन शुध्यति॥ सर्वे चापि नमस्कार्याः

सर्वावस्थासु सर्वदा। अभिवादो नमस्कारस्तथा प्रत्यभिवादनम्। आशीर्वाच्या नमस्कार्यैर्वयस्यस्तु पुनर्नमेत्॥ स्त्रियो नमस्या वृद्धाश्च वयसा पत्युरेव ताः" ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

सरला

१. (सावित्री-प्रदान के अनन्तर ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है कि वह नित्य समिदाधान करे) इसलिए अब समिदाधान कर्म (की विधि बताई जा रही है)।

२. 'अग्ने सुश्रव.....' प्रभृति पाँच मन्त्र पढ़कर माणवक (दाहिने) हाथ से (इन्धन डालकर) अग्नि को प्रज्वलित करे।

(हरिहर—कुछ आचार्यों के मत से निम्नाङ्कित तीन मंत्रों से ही अग्नि प्रज्वलित की जाये—(१) अग्ने सुश्रव...सौश्रवसं कुरु (२) त्वमग्ने....सौश्रवसं कुरु (३) त्वमग्ने...... भूयासम्)।

३. (दाहिने हाथ में लिए हुए जल से) प्रदक्षिणा विधि से अग्नि का पर्युक्षण कर, खड़े होकर समिदाधान करे : 'अग्नये....' मंत्र पढ़कर एक समित् रखे।

४. इसी प्रकार से दूसरी और तीसरी समित् भी रखे।

५. अथवा (उपर्युक्त 'अग्नये.....' मंत्र न पढ़कर) 'एषा ते अग्ने समित्... आचप्याशिषी मही' या दोनों ही (मंत्र पढ़कर समिदाधान करे)।

६. पहले की भाँति (अग्नि के) परिसमूहन और पर्युक्षण कर्म करे।

७–८. (चुपचाप) दोनों हथेलियों को अग्नि में तपाकर 'तनूपा अग्ने...' प्रभृति सात मंत्र पढ़कर मुख का स्पर्श करे (ललाट से चिबुक तक पोंछे)।

('अङ्गानि च मे....' मंत्र जपते हुए अपने अङ्गों का स्पर्श करे। 'त्र्यायुषम्....' प्रभृति चार मंत्र पढ़ते हुए अनामिका उँगली से भस्म लेकर ललाट, दाहिने कंधे, वक्षःस्थल और ग्रीवा में तिलक लगाये) (यद्यपि तिलक लगाने का विधान पारस्कर ने नहीं किया है, तथापि शिष्ट-परम्परा द्वारा आचरित होने के कारण यह कर्म भी करणीय है—कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर, विश्वनाथ)।

टिप्पणी—१. समिदाधान कर्म के अन्त में हरिहर, गदाधर और विश्वनाथ ने गुरुजनों को अभिवादन करने का विधान भी किया है। गदाधर ने इस विषय में मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, वशिष्ठ और ब्रह्मपुराण के वचनों को भी उद्धृत किया है—वे वहीं द्रष्टव्य हैं।

२. विश्वनाथ ने तिलक के स्थान पर 'शिवो नामासि.....' मंत्र जपकर त्रिपुण्ड्र लगाने का विकल्प भी रखा है।

३. 'ब्रह्मपुराण' में समित् के लक्षण यों दिए गए हैं—पलाश (ढाक), पीपल, वटवृक्ष, गूलर, वेल, चन्दन, चीड़, शाल देवदारु और खादिर की समिधायें बनाई जा सकती हैं।

मरीचि के मत से विशीर्ण, विदल, बहुत छोटी,-टेढ़ी मेढ़ी, सड़ी हुई, बहुत पतली, लम्बी, बहुत मोटी, और घूनी हुई समिधाओं का प्रयोग करने से प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती।

मंत्रार्थ

१-५. अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ॥

प्रजापति, यजुष्, अग्नि।

ओ अग्नि! आप कीर्तिधर हैं—हमें भी यशस्वी बनाइये। जिस गुण के कारण आपको ख्याति मिली है, वही आप मुझमें उत्पन्न कीजिए; मेरे आचार्य को भी आप मेरे साथ ही यशस्वी कीजिए। अग्निदेव! जैसे आप इन्द्र प्रभृति देवों की निधि के संरक्षक हैं, वैसे ही मैं मानवों की (सर्वोत्तम) निधि वेदवाणी की रक्षा करूँ।

६. अग्नये समिधमहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकारिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासम् ॥

प्रजापति, आकृति, समित् (या तद्गत अग्नि)

हे देववृन्द! यह समिधा मैं परिपूर्ण और जातवेदस् अग्नि के निमित्त उन्हें दीप्त करने के लिए लाया हूँ। अग्निदेव! जैसे तुम समिधाओं से दीप्त हो उठते हो, वैसे ही मैं आयु, मेधा, तेज, सन्तान, पशु-धन और ब्रह्मवर्चस् से दीप्तिमान हो उठूँ; मेरे पुत्र की सन्तति-परम्परा अविच्छिन्न हो। (आपकी कृपा से) मैं मेधावी; अविस्मरणशील, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी और अन्न-भक्षण के योग्य बन सकूँ।

७. तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥

प्रजापति, यजुष्, अग्नि।

हे अग्निदेव! तुम देह-रक्षक हो, मेरे शरीर को सदैव स्वस्थ और निरोग रखो; तुम आयुवर्धक हो, मुझे दीर्घायु बनाओ; तुम वर्चमान हो, मुझे वर्चस्वी बनाओ। मेरी समग्र न्यूनताओं की तुम पूर्ति कर दो।

८. मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधामश्विनौ देवावधत्तां पुष्करस्रजौ ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, लिङ्गोक्त देवता ।

सवितृदेव, दीप्तिमयी देवी सरस्वती तथा नीलकमलों की माला धारण करने वाले अश्विनीकुमार मुझे मेधावी बनायें ।

पञ्चमकण्डिका—भिक्षाचरण

अत्र भिक्षाचर्यचरणम् ॥ १ ॥ भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥ २ ॥ भवन्मध्या ँ राजन्यः ॥ ३ ॥ भवदन्त्यां वैश्यः ॥ ४ ॥ तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥ ५ ॥ षड्द्वादशापरिमिता वा ॥ ६ ॥ मातरं प्रथमामेके ॥ ७ ॥ आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहः शेषं तिष्ठेदित्येके ॥ ८ ॥ अहिंसन्नरण्यात्समिध आहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते ॥ ९ ॥ अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥ १० ॥ दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥ मधुमा ँ समज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥ १२ ॥ अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ १३ ॥ द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥ १४ ॥ यावद्ग्रहणं वा ॥ १५ ॥ वासा ँ सि शाणक्षौमाविकानि ॥ १६ ॥ ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥ १७ ॥ रौरवं राजन्यस्य ॥ १८ ॥ आज्यं गव्यं वा वैश्यस्य ॥ १९ ॥ सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥ २० ॥ मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥ २१ ॥ धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥ २२ ॥ मौर्वी वैश्यस्य ॥ २३ ॥ मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥ २४ ॥ पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥ वैल्वो राजन्यस्य ॥ २६ ॥ औदुम्बरो वैश्यस्य ॥ २७ ॥ (केशसंमितो ब्राह्मणस्य, ललाटसंमितः क्षत्रियस्य, घ्राणसंमितो वैश्यस्य) सर्वे वा सर्वेषाम् ॥ २८ ॥ आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥ २९ ॥ शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठँस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥ ३० ॥ स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति स्नातकस्य कीर्तिर्भवति ॥ ३१ ॥ त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥ ३२ ॥ समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥ ३३ ॥ समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः ॥ ३४ ॥ उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥ ३५ ॥ आ षोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्य नातीतः कालो भवति ॥ ३६ ॥ आ द्वाविंशाद्राजन्यस्य ॥ ३७ ॥ आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य ॥ ३८ ॥ अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ३९ ॥ नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ॥ ४० ॥ कालातिक्रमो

नियतवत् ॥ ४१ ॥ त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च ॥ ४२ ॥ तेषा ँ संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥ ४३ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अत्र भिक्षाचर्यंचरणम्) अत्रावसरे भिक्षाचर्यानुष्ठानं तद्यथा (भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत भवन्मध्यां राजन्यो भवदंत्यां वैश्यः) भवच्छब्दः पूर्वो यस्याः सा भवत्पूर्वा तां भिक्षां ब्राह्मणः द्विजोत्तमः भिक्षेत याचेत तथैव भवच्छब्दो मध्ये यस्याः सा भवन्मध्या तां राजन्यः क्षत्रियो भिक्षेतेत्यनुषंगः । भवच्छब्दो अंत्ये यस्याः सा भवदंत्या तां वैश्यः तृतीयो वर्णः भिक्षां भिक्षेतेत्यनुवर्तते (तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः षड् द्वादशपरिमिता वा मातरं प्रथमामेके) भिक्षेर्धातोर्द्विकर्मकत्वात् द्वितीयं कर्माह तिस्रः स्त्रियो भिक्षां भिक्षेत कथंभूताः प्रत्याख्यातं निराकर्त्तुं शीलं यासां ताः प्रत्याख्यायिन्यः न प्रत्याख्यायिन्यः अप्रत्याख्यायिन्यः । अत्र द्वितीयार्थे प्रथमा भिक्षेतेति कर्तृप्रत्ययांतस्याख्यातस्य कर्मकारणकापेक्षितत्वात् षट् वा स्त्रियः द्वादश वा अपरिमिता वा असंख्याता भिक्षेतेति सर्वत्रानुषंगः । एते भिक्षा-विकल्पा आहारपर्याप्त्यपेक्षया एक आचार्याः मातरं जननीं प्रथमां भिक्षेतेत्याहुः । अयं च प्रथमो धर्मं इति भाष्यकारः (आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके) आचार्याय गुरवे भैक्षं लब्ध्वा भिक्षां निवेदयित्वा इयं भिक्षा मया लब्धेति वाग्यतो मौनी अहःशेषं भिक्षानिवेदनोत्तरतो यावदस्तमयं तिष्ठेन्नोपविशेन्न च शयीत रागत इत्येके सूत्रकाराः वर्णयंति । वयं तु अनियमं मन्यामहे । ततश्च विकल्पः (अहिंसन्नरण्यात्समिध आहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते) अहिंसन् अच्छिदन् स्वयं भग्ना अरण्यान्न ग्रामात् समिध पूर्वोक्तलक्षणाः आहृत्य आनीय तस्मिन्नग्नौ यत्र उपनयनांगहोमः कृतस्तस्मिन् पूर्ववत्परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणांतं यावत् आधाय हुत्वा वाचं विसृजते मौनं त्यजति वाग्यमपक्षे (अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्याद्दंडधारणमग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषाभिक्षाचर्यामधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादारानि वर्जयेत्) । अत ऊर्ध्वं ब्रह्मचारिणो यमनियमानाह । अधः शयितुं शीलमस्य असावधःशायी स्यात् तथा अक्षारम् अलवणं चाश्नातीत्येवंशीलः अक्षारालवणाशी भवेत् दंडधारणं दंडस्य स्ववर्णविहितस्य धारणं कुर्यात् । दंडाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेदित्येतदुपलक्षणत्वात्सदाचिह्नरूपं कुर्यात् । अग्नेः परिचरणं सायं प्रातः परिसमूहनपूर्वं त्र्यायुषकरणांतं न समिदाधानं गुरुशुश्रूषा गुरोः शुश्रूषा परिचर्या तां कुर्यात् भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या भैक्षचरणमिति यावत् । मधु क्षौद्रं मांसं पललं प्लवनं स्नानम् उद्धृतोदकेन उपरि खट्वादौ आसनम् उपवेशनम् आसनस्योपरि मसूरिकाद्यासनं वा स्त्रीगमनं स्त्रीणां मध्ये अवस्थानम् अभिगमनस्योपरि वक्ष्यमाणत्वात् अनृतम् । असत्यवदनम् । अदत्तानां परद्रव्याणाम् आदानं ग्रहणं स्तेयमित्यर्थः । एतानि मध्वादीनि वर्जयेत् (अष्टाचत्वारिं-

शतं वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्) अष्टाभिरधिकानि चत्वारिंशतम् अष्टाचत्वारिंशत् तानि अष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणि अब्दानि वेदब्रह्मचर्यं वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यमुक्तलक्षणं चरेत् अनुतिष्ठेत् । अस्मिन् पक्षे चतुर्णामपि वेदानामेक एव व्रतादेशः सर्ववेदाहुतिहोमश्च (द्वादश वा प्रतिवेदं यावद्ग्रहणं वा) अनुकल्पमाह वा तदशक्तौ द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं वेदे ब्रह्मचर्यं चरेदित्यनुवर्त्तते । तत्राप्यशक्तौ यावद्ग्रहणं यावद्वेदस्य वेदयोः वेदानां ग्रहणम् आचार्यात्पाठतोऽर्थतश्च स्वीकरणं तावद्वा ब्रह्मचर्यं चरेत् । वर्णव्यवस्थया वासः प्रभृतिव्यवस्थितान्याह (वासांसि शाणक्षौमाविकानि ब्राह्मणक्षत्रियविशां) ब्रह्मचारिणां यथासंख्यं शाणक्षौमाविकानि वस्त्राणि परिधेयानि भवंति तत्र शणमयं शाणं क्षौमं क्षुमा अतसी तद्विकारमयं क्षौमम् आविकम् अवेर्मेषस्य विकारः आविकम् ऊर्णामयमित्यर्थः (ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणः) एणी हरिणी तस्य इदम् ऐणेयम् अजिनं कृत्तिः उत्तरीयं भवति ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः (रौरवं राजन्यस्य) रुरुर्मृगविशेषः चित्रमृगप्रसिद्धः तस्येदमजिनं रौरवं राजन्यस्य क्षत्रियस्योत्तरीयं भवति (आजं गव्यं वा वैश्यस्य) अजस्य वस्तस्य इदम् अजिनं कृत्तिः वैश्यस्य उत्तरीयम् अथ वा गव्यं गोः इदं गव्यम् अजिनं वा वैश्यस्य उत्तरीयं भवति (सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात्) पक्षांतरमाह-सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गव्यमजिनं वा उत्तरीयं भवति कदा असति मुख्ये अविद्यमाने कुतः प्रधानत्वाद् गव्यं हि अजिनानाम् ऐणेयाद्यजिनप्रभृतीनां प्रधानम् एणादीनां गौः प्राधान्यं यत् यद्वा गव्यस्य चर्मणः पुरुषसंबंधित्वेन प्रधानत्वात् । तथा च श्रुतिः 'तेऽवस्थाय पुरुषं गव्ये तां त्वचमादधुरिति' (मौंजी रशना ब्राह्मणस्य धनुर्ज्या राजन्यस्य मौर्वी वैश्यस्य मुंजाभावे कुशाश्मंतकबल्वजानां) मौंजी मुजः तृणविशेषस्तन्मयी मौंजी रशना मेखला ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो भवति धनुर्ज्या चापस्य ज्याः गुणः रशना राजन्यस्य ब्रह्मचारिणः मौर्वीति तृणविशेषस्तन्मयी रशना वैश्यस्य भवति मुंजस्याभावे अलाभे ब्राह्मणस्य कुशानां कुशमयी रशना भवति धनुर्ज्याया अभावे क्षत्रियस्य अश्मंतकमयी भवति मौर्व्यभावे वाल्वजी वैश्यस्य । मुंजाभावशब्दोत्र धनुर्ज्यामौर्व्यभावोपलक्षणार्थः (पालाशो ब्राह्मणस्य दंडः बैल्वो राजन्यस्य औदुंबरो वैश्यस्य) पालाशः पलाशवृक्षोद्भवः ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणो दंडो भवति स च केशसंमितः पादादिकेशमूलावधिप्रमाणकः बैल्वः बिल्ववृक्षोद्भवः क्षत्रियस्य ललाटसंमितः ललाटावधिपरिमाणः भ्रूमध्यावधिरित्यर्थः औदुंबरवृक्षोद्भवः वैश्यस्य ब्रह्मचारिणो मुखसंमित ओष्ठपुटावधिदंडः सर्वे वा सर्वेषां) यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां सर्वे पालाशबैल्वोदुंबरा अनियमेन दंडा भवन्ति नियमो वा नास्ति मुख्याभावे यथायथालाभमुपादेयम् (आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात्), आचार्येण गुरुणाहूत आकारितः ऊर्ध्वो भूत्वा प्रतिशृणुयात् प्रतिवचनं दद्यात् ब्रह्मचारी (शयानं चेदासीनः) चेद्यदि शयानं स्वपंतं ब्रह्मचारिणं गुरुराह्वयति तदा आसीनः उपविष्टः सन् प्रतिवचनं दद्यात् (आसीनं चेत्तिष्ठन्) आसीनम् उपविष्टं चेदाह्वयति तदा तिष्ठन्नुत्थितः (तिष्ठंतं चेदभिक्रामन्) यदि तिष्ठंतमुत्थितमाह्वयति तदा अभिक्रामन् गुरुमभिमुखं

गच्छन् प्रतिशृणुयात् अभिक्रामंतं चेदभिधावन् अभिमुखं धावन् संप्रतिशृणुयात् स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसति स ब्रह्मचारी एवमुक्तेन मार्गेण ब्रह्मचर्ये वर्तमानस्तिष्ठन् अमुत्र स्वर्गे अद्य इहैव स्थितः सन् वसति तिष्ठति द्विरुक्तिः स्तुत्यर्था तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति तस्य ब्रह्मचारिणः स्नातकस्य समावृतस्य कीर्तिर्यशो भवति यथोक्त-धर्मानुष्ठातुर्ब्रह्मचारिणः फलकथनं (त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातकः विद्याव्रतस्नातक इति) त्रयः त्रिप्रकाराः स्नातका भवन्ति कथम् एको विद्यास्नातकः अपरो व्रतस्नातकः अन्यो विद्याव्रतस्नातकः। एतेषां लक्षणमाह (समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः। समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य यः समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातक इति) समाप्य समाप्तिं पाठतोऽर्थतश्च अवसानं नीत्वा वेदवेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिकाम् एकां शाखां व्रतं च ब्रह्मचर्यं समाप्य यः समावर्त्तते स्नाति स ब्रह्मचारी विद्यास्नातको भवति। एवं समाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकादिकं ब्रह्मचर्यम् असमाप्यं असंपूर्णमधीत्य वेदम् एकां शाखां यो ब्रह्मचारी समावर्त्तते स्नानं करोति स व्रतस्नातको भवति. उभयं वेदं ब्रह्मचर्यं च समाप्य अन्तं नीत्वा यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातको भवति आषोड-शाद्वर्षाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति। आद्वाविंशाद्राजन्यस्य। आचतुर्विंशाद् वैश्यस्य) उपनयनकालस्य परमावधिमाह-आषोडशाद्वर्षात्प्राक्ब्राह्मणस्य विप्रस्य अनतीतः उपनयनस्य कालः समयो भवति। आद्वाविंशात् द्वाविंशाद्वर्षात्पूर्वं क्षत्रियस्य आच-तुर्विंशाद्वर्षादर्वाक् वैश्यस्य उपनयनस्य कालः अनतीतो भवति। भवतीति सर्वत्र संबध्यते (अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवंति) अतः पञ्चदशात् एकविंशात्त्रयो-विंशाद्वर्षादूर्ध्वम् अनुपनीता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः यथासंख्यं पतितसावित्रीकाः पतिता स्खलिता अधिकाराभावात् निवृत्ता सावित्री गायत्री येभ्यः ते पतितसावित्रीका भवन्ति संपद्यन्ते (नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः) एतान् पतितसावित्रीकान् न उपनयेयुः उपनयनसंस्कारेण न संस्कुर्युः शिष्टाः केचित् अतिक्रांत-निषेधैरुपनीतानपि न अध्यापयेयुः न वेदं पाठयेयुः तथा न याजयेयुः केचन अतिक्रांत-निषेधैर्वेदमध्यापितानपि न याजयेयुः न यज्ञं कारयेयुः। एभिः पतितसावित्रीकैरनुपनी-तैर्वा सह न व्यवहरेयुः न व्यवहरेत् स्नानासनशयनभोजनविवाहादिभिः कर्मभिर्न व्यवहारं कुर्युः (कालातिक्रमे नियतवत्) गर्भाधानादीनि उपनयनांतानि कर्माणि नियत-कालान्यभिहितानि। यदि दैववशात्पुरुषापराधाद्वा दोषाद्वा तेषां नियतस्य कालस्य अति-क्रमो भवति तदा किं कर्त्तव्यमिति संदेहे निर्णयमाह ॥ कालातिक्रमे यस्य संस्कारकर्मणः शास्त्रे नियमितो यः कालः तस्य अतिक्रमे लंघने नियतवत् नित्यवत् नित्ये श्रौतकल्पे नित्येषु यद्विहितं प्रायश्चित्तं भवति ततः कृतप्रायश्चित्तस्य अतिक्रांतकाले संस्कारकर्मण्यधिकारः संपद्यते अनादिष्टप्रायश्चित्तेतिकर्त्तव्यता च प्रयोगे वक्ष्यते। अत्र कालातिक्रम इत्युपल-क्षणम्। अतः अन्येषामपि कर्मणां नाशे इदमनादिष्टमेव सर्वं प्रायश्चित्तं गृह्यकारेण प्रायश्चित्तान्तरस्य अनुपदिष्टत्वात् किं तु श्रौतानामतिदेश्ये प्राप्ते अविज्ञाते प्रतिमहाव्या-

हृतिभिः सर्वाभिश्चतुर्थं सर्वप्रायश्चित्तं ये नित्यस्यैव कालातिक्रमे नियतवदित्यनेनातिदेशः कृतो न तूपदेशः कृतो गृह्यकारेण तत्र । विज्ञातमप्रत्यक्षश्रुतिमूलं किमिदमार्ग्वेदिकं सामवेदिकं वेत्यनिश्चितं स्मार्तं कर्म तस्य भ्रेषे श्रौतकल्पे व्याहृतिचतुष्टयं पञ्चवारुणहोमं प्रायश्चित्तम् उद्दिष्टमत्र गृह्यसूत्रे गृह्योक्तकर्मणामपि स्मार्त्तत्वाद्भ्रेषे तस्यैवातिदेशो युक्तो न पुनः प्रत्यक्षवेदमूलकर्मभ्रेषोपदिष्टानाम् । इदानीं पतितसावित्रीकविषये संस्कारप्रतिप्रसवमाह (त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च) तेषां त्रिपुरुषं त्रीन्पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपुत्रपौत्राः तेषाम् अपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति निषिद्धस्य पुनरनुज्ञापनं प्रतिप्रसव इति (तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात्) तेषां पतितसावित्रीकाणां मध्ये यः संस्कारयितुकामः स व्रात्यस्तोमेन यज्ञविशेषेण इष्ट्वा व्रात्यस्तोमं यज्ञं कृत्वा व्यवहार्यो भवति उपनयनादिसंस्कारयोग्यो भवति तस्मात्कामिच्छया व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा अधीयीरन् वेदं पठेयुः व्यवहार्याः लोके शिष्टानाम् अध्यापनादिषु कर्मसु योग्या भवन्ति इति वचनात् । श्रुतेः असंस्कार्यप्रसंगात् स्मृत्यंतरोक्ता अपि असंस्कार्या लिख्यन्ते "षंढांधवधिरस्तब्धजडगद्गदपंगुषु ॥ कुब्जवामनरोगार्त्तशुष्कांगिविकलांगिषु ॥ मत्तोन्मत्तेषु मूकेषु शयनस्थे निरिन्द्रिये । ध्वस्तपुंस्त्वेऽपि चैतेषु संस्काराः स्युर्यथोचिताः" मूकोन्मत्तौ न संस्कार्यावित्येके कर्मस्वनधिकारात्पातित्यं नास्ति तदपत्यं संस्कार्यं ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनोत्पन्नो ब्राह्मण एवेति स्मृतेः । अन्ये तु तावपि संस्कार्यावित्याहुः—द्वे मातावदाचार्यः करोति उपनयनं वा अग्निसमीपनयनं वा सावित्रीवाचनं वा अन्यदंगं यथाशक्ति कार्यं विवाहश्च कन्यास्वीकारोऽन्यदंगमिति "औरसक्षेत्रजाश्चैव संस्कार्या भागहारिणः । औरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजो गूढजस्तथा ॥ कानीनश्च पुनर्भूजो दत्तः क्रीतश्च कृत्रिमः । दत्तात्मा च सहोढश्च त्वपविद्धः सुतस्ततः । पिंडदौषहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः । एते द्वादशपुत्राश्च संस्कार्याः स्युर्द्विजा यतः । केचिदाहुर्द्विजैर्जातौ संस्कार्यौ कुंडगोलकौ । अमृते च मृते पत्यौ जारजौ कुंडगोलकौ ।" शंखलिखितौ "नोन्मत्तमूकान्संस्कुर्यात्" विष्णुः । 'नापरीक्षितं याजयेत्, नाध्यापयेन्नोपनयेत्' आपस्तंबः । शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् । एतच्च रथकारविषयं तस्य तु मातामहीद्वारकं शूद्रत्वमदुष्टकर्मणां मद्यपानरहितानामिति कल्पतरुकारः इति सूत्रार्थः ॥ अथ प्रयोगः । तत्र ब्राह्मणस्याष्टवार्षिकस्य गर्भाष्टवार्षिकस्य वा क्षत्रियस्यैकादशवार्षिकस्य वैश्यस्य द्वादशवार्षिकस्य उपनयनं कुर्यात् । यथामंगलं सर्वेषामुपनयनमथोदगयने शुक्लपक्षे पुण्येहरिमातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कुर्यात् । कुमारस्य वपनं कारयित्वा ब्राह्मणत्रयस्य भोजनं दत्वा कुमारं च भोजयित्वा बहिःशालायां पंचभूसंस्कारान् विधाय लौकिकाग्नि स्थापयित्वा पर्युप्तशिरसमलंकृतं कुमारमाचार्यपुरुषा आचार्यसमीपमानयंति । तत आचार्य आनीतं कुमारं पश्चादग्नेः स्वस्य दक्षिणतोऽवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहीति कुमारं प्रतिवदति ब्रह्मचर्यमागामिति कुमारः प्रतिब्रूयात् । ब्रह्मचार्यसीति

ब्रूहीत्याचार्येणोक्ते ब्रह्मचार्यसानीति माणवको ब्रूयात्। अथाचार्यो माणवकं येनेंद्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इत्यनेन मंत्रेण यथोक्तं वासः परिधापयति। तत आचार्यो माणवकस्य कटिप्रदेशे मेखलां बध्नाति। इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति मन्त्रं पठितवतः 'युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयंति स्वाध्यो मनसा देवयंतः" इति वा मंत्रः। तूष्णीं मंत्रवर्जं वा ततः 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुंच शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः' इति मंत्रं पठितवतो माणवकस्य दक्षिणबाहुमुद्धृत्य वामस्कन्धे यज्ञोपवीतं निवेशयति। यज्ञोपवीतलक्षणं तु छंदोगपरिशिष्टे "त्रिवृदूर्ध्वं वृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्। त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रंथिरिष्यते" वामावर्तं त्रिगुणं कृत्वा प्रदक्षिणवर्तं नवगुणं विधाय तदेव त्रिसरं कृत्वा ग्रंथिमेकं विदध्यात् तथा "पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्। तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलंबं न चोच्छ्रितम्" वामस्कंधे कृतं नाभिहृत्पृष्ठवंशयोर्धृतम्। तथा कटिपर्यंतं प्राप्नोति तावत्परिमाणं कर्त्तव्यमित्यर्थः "कार्पासक्षौमगोवालशणवल्कतृणादिकम्। सदा संभवतो धार्यमुपवीतं द्विजादिभिः॥ १॥ शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संगतांगुलिमूलके। आवेष्ट्य षण्णवत्या तत्त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥ २॥ अब्लिंगकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं च तत्। अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥ ३॥ अधःप्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम्। त्रिरावेष्ट्य दृढं बद्ध्वा हरिब्रह्मेश्वरान्नमन्॥ ४॥ यज्ञोपवीतं परममितिमंत्रेण धारयेत्। सूत्रं सलोमकं चेत्स्यात्ततः कृत्वा विलोमकम्॥५॥ सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मंत्रिताभिस्तदुक्षयेत्। विच्छिन्नं वाप्यधो यातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत्॥ ६॥ स्तनादूर्ध्वमधोनाभेर्न धार्यं तत्कथंचन। ब्रह्मचारिण एकं स्यात्स्नातस्य द्वे बहूनि वा॥७॥ तृतीयमुत्तरीयं वा वस्त्राभावे तदिष्यते। ब्रह्मसूत्रेऽपसव्येंसे स्थिते यज्ञोपवीतिता॥ ८॥ प्राचीनावीतिता सव्ये कंठस्थे तु निवीतिता। वस्त्रं यज्ञोपवीतार्थे त्रिवृत्सूत्रं च कर्मसु। कुशमुंजबल्वजं तु रज्ज्वा वा सर्वजातिषु॥ ९॥" ततस्तथैव तूष्णीं माणवकस्य यथोक्तमजिनमुत्तरीयं कारयति तथाचार्यो माणवकाय दंडं ददाति माणवकश्च यो मे दंडः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्यां तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेत्यनेन मंत्रेण तं प्रतिगृह्यात्युच्छ्रयति च, यथाचार्यः स्वकीयमंजलिं जलेन पूरयित्वा तेन जलेनांजलिस्थेन माणवकस्यांजलिं पूरयति आपो हि ष्ठेत्यर्चेन। ततो गुरुर्माणवकं प्रेषयति सूर्यमुदीक्षस्वेति माणवकश्च प्रेषितस्तच्चक्षुरिति मंत्रेण सूर्यमुदीक्षते। अथाचार्यो माणवकस्य दक्षिणांसस्योपरि स्वं दक्षिणं हस्तं नीत्वा हृदयमालभते "मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु, मम वाचमेकमनाजुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्" इति मंत्रेण। अथाचार्योऽस्य माणवकस्य दक्षिणं हस्तं सांगुष्ठं गृहीत्वा को नामासीत्याह। एवं पृष्टः कुमारः अमुकशर्माहं भो३ इति प्रत्याह पुनराचार्यो माणवकं पृच्छति कस्य ब्रह्मचार्यसीति भवत इति माणवकेनोच्यमाने इंद्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवा-

हमाचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवामुकशर्मन्नित्याचार्यः पठेत् । अथैनं कुमारं भूतेभ्यः परिददात्याचार्यः 'प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सावित्रे परिददामि अद्भ्यस्त्वौषधिभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टचा' इत्यनेन मंत्रेण । अथ कुमारः अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य आचार्यस्योत्तरत उपविशति आचार्यश्च ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणांतं कृत्वा आघारादाद्याः स्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाज्याहुतीर्हुत्वा हुतशेषं प्राश्य पूर्णपात्रं वरं वा ब्रह्म वा दद्यात् । अथानंतरमेनं ब्रह्मचारिणं संशास्ति कथं ब्रह्मचार्यसीत्याचार्यो वदति असानीति ब्रह्मचारी अपोशानेत्याचार्यः अश्नानीति ब्रह्मचारी कर्म कुर्वित्याचार्यः करवाणीति ब्रह्मचारी मा दिवा सुषुप्था इत्याचार्यः न स्वपानीति ब्रह्मचारी वाच यच्छेत्याचार्यः यच्छानीति ब्रह्मचारी समिधमाधेहीत्याचार्यः आदधानीति ब्रह्मचारी अपोशानेत्याचार्यः अश्नानीति ब्रह्मचारी अथास्मै एवं शासिताय ब्रह्मचारिणे आचार्यः सावित्रीमन्वाह । कीदृशाय उत्तरतोग्नेः प्रत्यङ्मुखाय उपविष्टाय पादोपसंग्रहपूर्वकमुपसन्नाय आचार्यं समीक्षमाणाय स्वयमप्याचार्येण समीक्षिताय कथमन्वाह ॐकारव्याहृतिपूर्वकं प्रथमं पदं एकैकपादं तथा द्वितीयमर्द्धर्चशः तथैव तृतीयं सर्वां स्वयं च ब्रह्मचारिणा सह पठन् केषांचित्पक्षं दक्षिणतोग्नेस्तिष्ठते आसीनाय वा आचार्य उक्तप्रकारेण सावित्रीमन्वाह संवत्सरे वा षण्मासे वा चतुर्विंशत्यहे वा द्वादशाहे वा षडहे वा त्र्यहे वा काले क्षत्रियवैश्ययोर्ब्रह्मचारिणोः आचार्यः सावित्रीं ब्रूयात् । ब्राह्मणाय तु सद्य एव गायत्रीं गायत्रीछंदस्कां सावित्रीं सवितृदेवत्यामृचं विश्वामित्रदृष्टां सायमग्निहोत्रहोमानंतरमाहवनीयाग्न्युपस्थापने विनियुक्तां तत्सवितुरिति सर्ववेदशाखाम्नातां ब्रह्मदृष्टगायत्रीछंदस्कां परमात्मदैवतवेदारम्भादिविनियुक्तां सप्रणवां प्रजापतिदृष्टाग्निवायुसूर्यदैवतगायत्र्युष्णिगनुष्टुप्छदस्काग्न्याधानविनियुक्तभूर्भुवः स्वरिति महाव्याहृतिपूर्विकां ब्राह्मणाय ब्रह्मचारिणे आचार्योऽनुब्रूयात् क्षत्रियाय त्रिष्टुप्छंदस्कां बृहस्पतिदृष्टां सवितृदेवत्यां देव सवितरित्यादिकां वाजपेयआज्यहोमविनियुक्तां तथा वैश्याय प्रजापतिदृष्टां जगतीछंदस्कां सवितृदेवत्यां रुक्मपाशप्रतिमोचने उखासंभरणे विनियुक्तां विश्वा रूपाणि प्रतिमुंच इत्येतामृचं ब्रूयात् । सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां गायत्रीमेव वा गायत्रछंदस्कां सावित्रीमुक्तलक्षणां ब्रूयात् । अत्रावसरे ब्रह्मचारी समिदाधानं करोति तत्र पूर्वं दक्षिणहस्तेन सुश्रवः सुश्रवसं मां कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि मां सुश्रवः सुश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमित्येतैः पञ्चभिर्मंत्रैः प्रतिमंत्रम् इंधनप्रक्षेपेणाग्निं संधुक्षयति हस्ताभ्यां संधुक्षणप्रसिद्धिरस्ति ततोग्निप्रदक्षिणहस्तेन अद्भिः पर्युक्ष्य उत्थाय तिष्ठन् 'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे । यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिधे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयास स्वाहेत्यनेन मन्त्रेणोक्तलक्षणामेकां समिधमग्नावाधायानेनैव द्वितीयां

तृतीयां वा धत्ते एषा ते अग्ने समिदित्यादिना वा मंत्रेण अग्नये समिधमाहार्षमिति एषा ते अग्ने समिदित्येताभ्यां समुचिताभ्यां मंत्राभ्यां वा एकैकशस्तिस्रः समिध आदधाति। तत उपविश्य पूर्ववदग्ने चेत्सुश्रव इत्यादिभिरग्निं संधुक्ष्य तूष्णीं पाणि प्रतप्य तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाहि आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेसि वर्चो मे देहि अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति सप्तभिर्मंत्रैः प्रतिमन्त्रं मुखं विमार्ष्टि। अत्र शिष्टाचारपरिप्राप्ताः केचन पदार्थाः लिख्यन्ते ततः अंगानि च म आप्यायंतामित्यनेन शिरःप्रभृति पादांतं सर्वांगान्यालभते वाक्च म आप्यायतामिति मुखं प्राणश्च म आप्यायतामिति नासारंध्रे युगपत् चक्षुश्च म आप्यायतामिति चक्षुषी युगपत् श्रोत्रं च म आप्यायतामिति दक्षिणं श्रोत्रम्। ततोऽनेनैव मन्त्रेण वामं यशोबलं च म आप्यायतामिति मंत्रं पठेत्। ततोऽनामिकया अग्नेर्भस्म गृहीत्वा ललाटे ग्रीवायां दक्षिणांसे हृदि चतुर्षु स्थानेषु त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषमिति चतुर्भिर्मंत्रैस्त्र्यायुषाणि कुरुते। अत्र स्मृत्यंतरोक्तमभिवादनं लिख्यते "ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन्" इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रणीतं तस्याभिवादनस्य प्रयोगो यथा वत्ससगोत्रोभार्गवच्यवनाप्लवानौर्वजामदग्न्येति पञ्चप्रवरः श्रीधरशर्माहं भो ३ श्रीहरिहरशर्मन् त्वामभिवादये इत्युक्त्वाभिवाद्य गुर्वादिकं ब्रह्मचारी अभिवादयेत्। अभिवाद्यश्च गुर्वादिः आयुष्मान् भव श्रीधरशर्मन् भो ३ इति प्रत्यभिवदेत्। अयमभिवादनप्रयोगो गृहस्थस्यापि। अत्र वृद्धानितिवचनात् कनिष्ठाभिवादनेनाधिकारः। वृद्धाश्च त्रिविधाः विद्यातपोवयोभिः। अत्र समये ब्रह्मचारी भैक्षं चरति तद्यथा भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मणः भिक्षां भवति देहीति राजन्यः, भिक्षां देहि भवतीति वैश्यश्च। भिक्षां भिक्षेत अत्र भिक्षायाचनवाक्ये भवतीति स्त्रीसंबोधनपदात् स्त्रियो भिक्षेतेति प्राप्तम्। ताश्च कीदृशीः कति च इत्यपेक्षायामुच्यते याः प्रत्याख्यानं न कुर्वंति ता भिक्षेत। कति तिस्रः षड् वा द्वादश वा द्वादशभ्योऽधिका वा मातरं वा प्रथमां भिक्षेतेत्यन्वयः। एवं भिक्षां भिक्षित्वा ब्रह्मचारी भैक्षं गुरवे निवेद्य अहःशेषं वाग्यतस्तिष्ठेत् वा आसीत वेत्यनियमः। ततः उपास्तमयं संध्यावंदनपूर्वकं स्वयं प्रशीर्णाः पूर्वोक्तलक्षणाः समिधः पूर्ववत् उक्तप्रकारेण तस्मिन्नेवाग्नौ आधाय वाचं विसृजते इति तद्दिनकृत्यम्। अथ तद्दिनमारभ्यासमावर्त्तनात्कर्त्तव्यमुच्यते भूमौ शयनम् अक्षारलवणाशनं दंडधारणम् अग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या सायंप्रातर्भोजनार्थं भोजनसंनिधाने वारद्वयं वा भैक्षचरणमनिंद्यब्राह्मणगृहे गुर्वाज्ञया याचित्वा भोजनविधिना भुंजानः मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत्। स्मृत्यंतरे तु "मधुमांसांजनोच्छिष्टं शूद्रस्त्रीप्राणिहिंसनम्। भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत्" आदिशब्देन पर्युंषिततांबूलदंतधावनावसथिकादिवास्वापच्छत्रपादुकागंधमाल्योद्वर्त्तनानुलेपनजलक्रीडाद्यूतनृत्यगीतवाद्यालापादीन्यन्यान्यपि वर्जनीयानि स्मृतानि तथा "कार्या भिक्षा सदा धार्यं कौपीनं कटिसूत्रकम्।

कौपीनसहितं धार्यं खंडं वा वस्त्रपार्श्वयुक् ।। यज्ञोपवीतमजिनं मौञ्जीं दंडं च धारयेत् । नष्टे भ्रष्टे नवं मंत्राद्धृत्वा भ्रष्टं जले क्षिपेत्" अष्टाचत्वारिंशतं वर्षाणीत्यादिव्यवहार्या भवंतीतिवचनादित्यंतमुक्तार्थम् । कालातिक्रमे नियतवदित्यस्यार्थं उक्त इतिकर्त्तव्यतात्र लिख्यते । पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य अनादिष्टप्रायश्चित्तहोमं कुर्यात् पूर्णाहुतीर्यथा कात्यायनसूत्रे पूर्णाहुतिं जुहोति निरूप्याज्यं गार्हपत्येधिश्रित्य स्रुक्स्रुवं च संमृज्योद्वास्योत्पूयावेक्ष्य गृहीत्वारब्ध एवं सर्वत्र । अत्रैवं प्रयोगः—यदावसथिकस्य अनादिष्टं प्राप्नोति तदाग्निः संभृत एव यदि निरग्नेः तदा शुद्धायां भूमौ पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकमग्निं स्थापयित्वा स्थाल्यामाज्यं तूष्णीं निरूप्याग्नावधिश्रित्य स्रुवं दर्भैः संमृज्याज्यमुद्वास्य कुशतरुणाभ्यामुत्पूयावेक्ष्य स्रुवेणादायोपरिसनिधं निधायोत्थाय स्रुवं सव्ये कृत्वा दक्षिणेनाग्नौ तिष्ठन् समिधयाधायोपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य ॐभूः स्वाहेति स्रुवस्थिताज्यानेकामाहुतिं हुत्वा भुवः स्वाहा स्वः स्वाहा भूर्भुवः स्वः स्वाहेति चतस्रः । त्वन्नो अग्न इत्यादिभिः पंच स्रुवेणावदायाज्याहुतीर्जुहोति इदं नवाहुतिहोमात्मकं कर्म यत्र यत्र प्रायश्चित्तानादेशः कर्मणा नियतकालातिक्रमे वा तत्र तत्रादिष्टसंज्ञकं प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । यदा तु कस्मिंश्चित्स्थालीपाकादिकर्मप्रयोगे वर्त्तमाने अनादिष्टप्रायश्चित्तमापद्यते तदा-तत्कर्मांगभूत एवाग्नौ तत्कृत्वा अनादिष्टं हुत्वा उपरितनं प्रयोगं कुर्यात् । यदा तु बहूनि निमित्तानि भवंति तदा प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्त्तत इति न्यायात् यावंति निमित्तानि तावत्कृत्वः प्रायश्चित्तमावर्तत यथोक्तमित्युपनयनपद्धतिः । अत्र वेदब्रह्मचर्यं चरेदित्यनेन वेदाध्ययनांगतया ब्रह्मचर्याचरणमुक्तं वेदाध्ययनारम्भस्य कालः इतिकर्त्तव्यता च नोक्ता । केवलं समावर्त्तनकर्म सूत्रकारेणारब्धं वेदं समाप्य स्नायादिति तत्र वेदस्य आरंभं विना समाप्तिः कर्त्तुमशक्येति उपनयनानंतरमेव वेदारंभस्य समय इत्यवगम्यते । इतिकर्त्तव्यता च पुनः एतदेव व्रतादेशनविसर्गेष्विति उपाकर्महोमातिदेशाद् व्रतादेशने वेदारंभे प्राप्नोति । अतश्च "उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् । वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्" इति गुरोः उपनयनानंतरं वेदाध्यापनविधानाच्च उपनयनोत्तरकालं पुण्येहनि मातृपूजापूर्वकं वेदारंभनिमित्तमाभ्युदयिकं श्राद्धमाचार्यो विधाय पंचभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयित्वा ब्रह्मचारिणमाहूय अग्नेः पश्चात् स्वस्योत्तरत उपवेश्य ब्रह्मोपवेशनाद्याज्यभागान्तं कृत्वा यदि ऋग्वेदमारभते तदा पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा शेषं समापयेत् । यदि यजुर्वेदं तदाज्यभागानंतरम् अंतरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहेति विशेषः । यदा सामवेदं तदाज्यभागानंतरं दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहेति विशेषः । यदाऽथर्ववेदं तदाज्यभागान्ते दिग्भ्यः स्वाहा चंद्रमसे स्वाहेति विशेषः । यद्येकदा सर्ववेदारंभस्तदाज्यभागानंतरक्रमेण प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्याहुतिद्वयं च हुत्वा प्रजापतय इत्याद्याः सप्तमंत्रेण जुहुयात् । अनंतरं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदंता दशाहुतीर्हुत्वा प्राशनं विधाय पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दत्त्वा ब्रह्मचारिणे यथाविधि वेदमध्यापयितुमारभते इति व्रतादेशप्रयोगः ॥ इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे पञ्चमी कण्डिका ॥५॥

सरला

१. (यथावसर अब) यहां (माणवक की) भिक्षाचर्या (का विधान किया जा रहा है) ।

२. ब्राह्मण-बटु भिक्षा मांगते समय 'भवत्' (शब्द का विनिवेश वाक्य में) पहले करे ।

३-४. क्षत्रिय-कुमार (भिक्षा-वाक्य में 'भवत्' का विन्यास) मध्य में (और) वैश्य-बालक अन्त में (करे) । (तीनों वाक्य इस प्रकार से होंगे—(१) भवति भिक्षां देहि; (२) भिक्षां भवति देहि; (३) भिक्षां देहि भवति) ।

५. उन तीन स्त्रियों से भिक्षा मांगे, जो निषेध न कर सकें ।

६. छह, बारह या असंख्य स्त्रियों से मांग ले ।

७. कुछ (आचार्यों के मत से माणवक) पहली भिक्षा मां से मांगे ।

८. कुछ (आचार्यों का मत है कि) भिक्षा में प्राप्त द्रव्य आचार्य को सौंपकर शेष दिनभर मौन खड़ा रहे (न तो बैठे और न ही सोये) ।

९. (वृक्ष को) कष्ट पहुंचाये बिना ही (स्वयं टूटी हुई) समिधायें वन से लाकर उसी अग्नि में पूर्ववत् समिदाधान कर मौन-त्याग करे ।

१०. (ब्रह्मचारी के नियम)—वह भूमि पर सोये, क्षार और लवणयुक्त आहार न ग्रहण करे ।

११. दण्ड (अजिन, यज्ञोपवीत और मेखला भी) सदैव धारण करे; (सायं-प्रातः) अग्नि की परिचर्या करे; गुरु-सेवा और भिक्षाचरण भी (नित्य करे) ।

१२. मधु, मांस, (नदी में) स्नान, खाट पर शयन, स्त्रियों के मध्य आना-जाना, मिथ्या-भाषण और परद्रव्य-ग्रहण छोड़ दे ।

१३. ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदाध्ययन करे;

१४-१५. (उक्त नियम पर न चल सके तो) १२ वर्ष का समय एक वेद (के लिए नियत है; इनमें से) जितने वेद वह पढ़ना चाहे, उतने वर्षों तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे । (तात्पर्य यह कि एक वेदाध्यायी १२ वर्ष, द्विवेदी २४ वर्ष और त्रिवेदी ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे) ।

१६. (ब्राह्मण-बटु) पटसन (से बना) वस्त्र (पहने; क्षत्रिय-कुमार) रेशमी (और वैश्य-बालक) मेष-चर्म (निर्मित वस्त्र धारण करे) ।

१७-२०. ब्राह्मण-बटु एणी हरिणी के चर्म का, क्षत्रिय रुरुमृग के चर्म का और वैश्य बकरे या बैल के चर्म का उत्तरीय (धारण करे) । अथवा सभी बैल के चर्म का (उत्तरीय पहनें) क्योंकि अभाव में यही सुलभ होता है ।

२१-२४. ब्राह्मण की मूंज से बनी मेखला, क्षत्रिय की धनुष-प्रत्यंचामयी और वैश्य की मुरू नामक तृण विशेष की (होनी चाहिए); मूंज न मिलने पर ब्राह्मण-बटु कुश की, क्षत्रिय-कुमार अश्मन्तक की और वैश्य बाल्वजी मेखला (पहन सकता है) ।

२५–२८. ब्राह्मण-बटु पलाश-दण्ड, क्षत्रियविल्व-दण्ड, और वैश्य गूलर का दण्ड धारण करे; (ब्राह्मण का दण्ड केश तक, क्षत्रिय का माथे तक और वैश्य का नाक तक लम्बा होना चाहिए) अथवा सभी दण्ड सभी के उपयोग में आ सकते हैं।

२९. आचार्य यदि (कार्यवश) पुकारे तो (माणवक) खड़े होकर प्रत्युत्तर दे।

३०. (पुकारते समय यदि ब्रह्मचारी) सो रहा हो, तो बैठकर, बैठा हुआ हो तो उठकर, उठ रहा हो तो आगे बढ़कर और यदि (गुरुदेव) सामने आ रहे हों तो दौड़कर प्रत्युत्तर दें।

३१. इस प्रकार से जो ब्रह्मचारी आचरण करता है, वह मानो स्वर्ग में ही रहता है; वह ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर कीर्तिमान् स्थापित करता है।

३२–३५. स्नातक तीन (प्रकार के) होते हैं–विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। (इनमें) जो वेदाध्ययन तो कर लेते हैं किन्तु (पूरी तरह) व्रत-निर्वाह नहीं कर पाते वे विद्यास्नातक, व्रत-पालन करने पर भी जो वेद का पार नहीं पाते वे व्रतस्नातक, और जो (पूर्ण निष्ठापूर्वक) वेदाध्ययन करते हुए व्रत-निर्वाह में भी (सम्यक् रीति से) सफल सिद्ध होते हैं, वे विद्याव्रतस्नातक कहलाते हैं।

३६–३८. ब्राह्मण-बालक के (उपनयन-संस्कार की) अवधि १६ वर्ष, क्षत्रिय की २२ वर्ष और वैश्यकुमार की २४ वर्ष है।

३९–४०. इसके बाद सभी पतित-सावित्रीक हो जाते हैं। न तो (फिर) उनका उपनयन करना चाहिए, न उनसे यज्ञ कराना चाहिए, न पढ़ाना चाहिए और न ही उनसे अन्य किसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।

४१–४३. (गर्भाधान से उपनयन तक सभी संस्कारों का समय निश्चित है) उसका (किसी कारणवश) उल्लंघन हो जाने पर (श्रौत सूत्र में नियत विधि से प्रायश्चित करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने के अनन्तर वे व्यवहार करने योग्य हो जाते हैं)। तीन पीढ़ियों तक पतितसावित्रीक पुरुष अव्यवहार्य रहते हैं–उनका संस्कार और अध्यापन नहीं हो सकता। यदि उनमें से कोई प्रायश्चित्त करना चाहे तो वह व्रात्यस्तोम यज्ञ करके शुद्ध हो सकता है–फिर उसके संस्कार होंगे; अध्ययन का अधिकारी और व्यवहार का पात्र भी वह बन सकेगा।

टिप्पणी—१. नियतवत्। श्रौतसूत्रों में प्रायश्चित्त का विधान न होने पर स्मृति-प्रोक्त विधि अपनाई जानी चाहिए।

२. १२वें सूत्र में केवल नदी में स्नान करने का निषेध है, स्नानमात्र का नहीं। माणवक अभी अल्पायु है अतः नदी और जलाशय आदि में उसके डूबने का भय है—अतः उसे लाये गये जल से स्नान करना चाहिए–'स्नानं तूदधृतोदकेन–' हरिहर।

३. आपस्तम्ब ने निर्दोष कर्म करनेवाले शूद्रों के उपनयन का विधान भी किया है—'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्।' 'कल्पतरु' कार के मत से इस श्रेणी में वे लोग आ जायेंगे जो मद्य नहीं पीते–'अदुष्टकर्मणाम् = मद्यपानरहितानाम्।'

षष्ठकण्डिका—समावर्तन

वेदं समाप्य स्नायात् ॥ १ ॥ ब्रह्मचर्यं वाऽष्टाचत्वारिंशकम् ॥ २ ॥ द्वादशकेऽप्येके ॥ ३ ॥ गुरुणाऽनुज्ञातः ॥ ४ ॥ विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः ॥ ५ ॥ षडङ्गमेके ॥ ६ ॥ न कल्पमात्रे ॥ ७ ॥ कामं तु याज्ञिकस्य ॥ ८ ॥ उपसंगृह्य गुरुं समिधोऽभ्याधाय परिश्रितस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु पुरस्तात्स्थित्वाऽष्टानामुदकुम्भानाम् ॥ ९ ॥ ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहातान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्येकस्मादपो गृहीत्वा ॥ १० ॥ तेनाभिषिञ्चते । तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ ११ ॥ येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳ सुराम् । येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वा तदश्विना यश इति ॥ १२ ॥ आपोहिष्ठेति च प्रत्यृचम् ॥ १३ ॥ त्रीभिस्तूष्णीमितरैः ॥ १४ ॥ उदुत्तममिति मेखलामुन्मुच्य दण्डं निधाय वासोऽन्यत्परिधायादित्यमुपतिष्ठते ॥ १५ ॥ उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रोमरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय । उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायंयावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन्मागमयेति ॥ १६ ॥ दधितिलान्वा प्राश्य जटालोमनखानि संहृत्यौदुम्बरेण दन्तान्धावेत । अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन चेति ॥ १७ ॥ उत्साद्य पुनः स्नात्वाऽनुलेपनं नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पयेति ॥ १८ ॥ पितरः शुन्धध्वमिति पाण्योरवनेजन दक्षिणानिषिच्यानुलिप्य जपेत् ॥ सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन । सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति ॥ १९ ॥ अहतं वासो धौतं वाऽमौत्रेणाच्छादयीत । परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्य इति ॥ २० ॥ अथोत्तरीयम् ॥ यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यतामिति ॥ २१ ॥ एकश्चेत्पूर्वस्योत्तरवर्गेण प्रच्छादयीत ॥ २२ ॥ सुमनसः प्रतिगृह्णाति । या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन चेति ॥ २३ ॥ अथावबध्नीते यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशोमयीति ॥ २४ ॥ उष्णीषेण शिरो वेष्टयते युवा सुवासा इति ॥ २५ ॥ अलंकरणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयादिति कर्णवेष्टकौ ॥ २६ ॥ वृत्रस्येत्यङ्क्तेऽक्षिणी ॥ २७ ॥ रोचिष्णुरसीत्यात्मानमादर्शे प्रेक्षते ॥ २८ ॥ छत्रं प्रतिगृह्णाति । बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मा मान्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहीति ॥ २९ ॥ प्रतिष्ठेस्थो

विश्वतो मा पातमित्युपानहौ प्रतिमुञ्चते ॥ ३० ॥ विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परि-पाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते ॥ ३१ ॥ दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणि चेन्मंत्रः ॥ ३२ ॥

हरिहरभाष्यम्

(वेदं समाप्य स्नायाद् ब्रह्मचर्यं वाष्टचत्वारिंशकम्) मंत्रब्राह्मणात्मकं समाप्य सम्यक् पाठतोऽर्थतश्च अंतं नीत्वा स्नायाद्वक्ष्यमाणेन विधिना स्नानं कुर्यात् अथवा ब्रह्मचर्यं व्रतमष्टाचत्वारिंशकमष्टाचत्वारिंशद्वर्षं निवर्त्यं समाप्य अवसानं प्राप्य गुरुणानुमतः स्नायादिति संबंधः । (द्वादशकेप्येके) एके सूत्रकाराः द्वादशकेऽपि द्वादशवर्षं समाप्येति व्रते चरिते स्नायादिति मन्यंते तत्रापि (गुरुणाऽनुज्ञातः) अत्रासूत्रितमपि उभयं वेदं व्रतं च समाप्य वा स्नायादित्यनुषज्यते । यतः पूर्वस्नातकस्य त्रैविध्यमुक्तम् (विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः), वेदं समाप्येत्युक्तं तत्र कियान् वेद इत्यपेक्षायामाह विधिं विधीयते इति विधिः अग्निमादधीत इति अग्निहोत्रं जुहुयात् ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादि विधायकं ब्राह्मणवाक्यं विधेयः विधीयते ब्राह्मणवाक्येन कर्मांगत्वेनेति विधेयो विधिर्विधेयोविधेयस्तर्कश्च वेद यदत्रैतस्मिन्दर्शने सति समस्तवैदिकसंहारात्मिका मीमांसापि वेदशब्दवाच्या भवतीत्यादिना तर्कपदं मीमांसापरमंगीकृत्य वार्तिककारिताया मीमांसाया अपि वेदत्वमुक्तं तद्विध्यादित्रयस्य वेदत्वप्रतिपादनार्थेयं स्मृतिरिति षडंगवेदत्वस्मृतितुल्यन्यायतया पूर्वपक्षसंयताभ्युपगमेनैव तद्दृष्टांतेन कल्पसूत्राणां छन्दस्त्वाभावमुपपादयितुं नत्वेवमेव स्मृतिव्याख्यानं संमतम्, अध्येतॄणां मीमांसायां वेदशब्दाप्रसिद्धेः । नचाध्येतृप्रसिद्धा निरपेक्षैवेयं स्मृतिर्विध्यादित्रयस्य वेदत्वं प्रतिपादयतीति वाच्यं, तथा सति तन्नैरपेक्ष्येण स्मृतिमात्रपर्यालोचने तत्स्वारस्येन विध्युद्देशमात्रस्यैव वेदत्वापत्तावर्थवादादीनामवेदत्वापत्तेः । विधेयत्वमग्निहोत्रन्यायविस्तरयोरपि वेदत्वापत्तेश्च । अथाध्येतृप्रसिद्ध्यनुरोधेन विधिविधेयशब्दयोर्ब्राह्मणमंत्रपरत्वान्नाव्याप्त्यतिव्याप्ती तर्हि स्मृतिरध्येतृप्रसिद्धिसापेक्षत्वापत्तौ कथं तर्कतदप्रसिद्धवेदत्वप्रतिपादनपरता । न च तदंशे स्वातंत्र्यम्, अपेक्षानपेक्षाविध्यनुवादकृतवैरूप्यापत्तेः न्यायविस्तरातिप्रसंगातिवृत्तेः न्यायविस्तरातिप्रसंगानिवृत्तेश्च व्यवहारानुप्रविष्टपदार्थनिर्णये तद्विरोधेन शास्त्रस्यासामर्थ्याच्च तस्मादध्येतृप्रसिद्धस्यैव मंत्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य कश्चिद्विधिनांगविधायकः कश्चिन्मंत्रात्मको विधेयः कश्चित्स एष नेति नेति त्रैयंबकाः पुरोडाशा इत्यादिवत् त्रैविध्यमतयैवोच्यत इति तात्त्विकोऽर्थः । अतः षडंगा एव वेदस्मृतिरपि परमतोपन्यासात् पूर्वपक्षस्मृतिरेवेत्यलम् । मंत्रः इषेत्वादिः तर्कोऽर्थवाद इति कर्कोपाध्यायः । यथा अक्ताः शर्करा उपदधाति इति विधिः श्रूयते तत्रांजनसाधनं घृतं तैलं वसा च । तन्मध्ये केनाक्ता इति संशये तेजो वै घृतमिति अर्थवादात् घृतेनाक्ता इति निर्णीयते अतस्तर्कोऽर्थवादः तर्को मीमांसेति कल्पतरुकारः । चकारान्नामधेयभागसंग्रहः यतो वेदो विध्यर्थवादमंत्रनामधेयैश्चतुर्धा मीमांसकैर्विचार्यते यथा अग्निहोत्रा-

धारी यागभेदौ उद्भिद्वलभिदिति नामधेयानि (षडंगमेके) एके सूत्रकाराः षडंगं वेदं समाप्य स्नायादित्याहुः। षट् शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तज्योतिश्छंदांसि अंगानि यस्य वेदस्य षडंगः तं षडंगं (न कल्पमात्रे) कल्पमात्रे ग्रन्थमात्रे मंत्रे वा ब्राह्मणे वा अधीते न स्नानमिच्छन्ति कल्पमात्राध्ययनस्य अनुष्ठानायोग्यत्वात् यतः अथातोधिकारः अथातो धर्मजिज्ञासा अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिभिरधिकारसूत्रैः अधीतसकलवेदस्याग्निहोत्रादिकर्मस्वधिकारः इत्याचार्यैर्वर्ण्यते (कामं तु याज्ञिकस्य) तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ काममिच्छतः याज्ञिकस्य आध्वर्यवादियज्ञविद्याकर्मकुशलस्य स्नानमिच्छन्ति। अयमर्थः। मंत्रब्राह्मणात्मकं वेदमधीत्य अवबुध्य च स्नायादित्येकः पक्षः। सांगं वेदमधीत्यावबुध्य च स्नायादित्यर्थः। ग्रन्थमात्रमप्यधीत्य यज्ञविद्यां वाभ्यस्य स्नायादिति तृतीयः। यज्ञविद्याविरहेण ग्रन्थमात्रे अधीते च स्नायादिति निषेधः यतो वेदाध्यापनं वेदविहिताग्निहोत्रादिकर्माद्यनुष्ठानप्रयोजनम् (उपसंगृह्य गुरुं समिधोऽभ्याधाय परिश्रितस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु परस्तात्स्थित्वाष्टानामुदकुम्भानां ये अप्स्वंतरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहास्खलाविरुजनस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अति तान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्येकस्मादपो गृहीत्वा तेनाभिषिञ्चते) स्नायादित्युक्तं तत्र कथं स्नायादित्यपेक्षिते आह उपसंगृह्य उपसंग्रहणविधिना प्रणम्य कं गुरुमाचार्यं समिधः पूर्वोक्तलक्षणास्तिस्रः परिसमूहनादिपर्युक्षणांतेन विधिना आचार्यान्निर्वर्त्तितसमावर्त्तनांगहोमेऽग्नौ आधाय प्रक्षिप्य अत्र समिधोऽभ्याधायेत्युक्तं तत्समिदाधानं किं वेदाहुत्यादिसमावर्त्तनहोमात्पूर्वमुत पश्चात् वेदाहुतिहोमः कुतः प्राप्त इति चेत् एतदेव व्रतादेशनविसर्गेष्वित्यतिदेशात् पूर्वं भवतु उपसंगृह्य गुरुं समिधोभ्याधायेति पाठात् समिदाधानानंतरं वेदाहुतीनामवसर इति गम्यते नैतदेवं श्रुत्या हि वेदाहुतीनामवसरः समिदाधानात्पूर्वं समिदाधानं च स्नानात्पूर्वमिति क्रमस्य ज्ञापितत्वात् कथं स यामुपयन् समिधमादधाति सा प्रायणीया यांस्तान्स्यंत्सोदयनीयेतिश्रुतेः। तस्मात्समावर्त्तनहोमापत्तेः उपसंग्रहणादिपरिश्रितस्य परिवेष्टितस्य सर्वतः प्रच्छादितस्य समावर्तनाङ्गहोमसाधनाग्निस्थापनप्रवेशस्य उत्तरतः उत्तरस्मिन् भागे कुशेषु प्राक्कूलेषु प्रागग्रेषु आस्तीर्णेषु क्व पुरस्तात्प्राच्यां दिशि केषामष्टानामुदकुंभानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टसंख्याकानाममलजलपूर्णानामाम्रादिशुभपल्लवमुखानां स्थित्वा स्थितिं कृत्वा ऊर्ध्वीभूयेत्यर्थः। ये अप्स्वंतरग्नय इत्यादिना मंत्रेण इह गृह्णामीत्यनेन एकस्मात्प्रथमातिक्रमे कारणाभावादितिन्यायेन प्रथमात् प्राच्युदंचिविवाहकर्माणीत्यनेन न्यायेन दक्षिणस्य प्रथमेत्यमपः जलं दक्षिणहस्तेन गृहीत्वा तेन जलेन अभिषिंचते अभ्युक्षति आत्मानं शिरस्तः स्नानकर्त्तात्मानं तत्र मन्त्रः (तेन मामभिषिंचामि इत्यादिब्रह्मवर्चसायेत्यंतः येन श्रियमकृण्वतां येनावमृशतां सुरां येनाक्षावभ्यषिंचतां यद्वा तदश्विना यश इत्यापो हिष्ठेति च प्रत्यृचं त्रिभिस्तूष्णीमितरैः) एवमेकोदकुंभजलसाध्यं स्नानमभिधाय इतरसप्तकुंभजलं ये अप्स्वंतरग्न इत्ययमेव सर्वोदकुंभजलग्रहणे साधारणो मन्त्र इति

प्रतीयते । ततः सर्वेभ्यो द्वितीयादिकुंभेभ्यः प्रत्येकं ये अप्स्वंतरिति मन्त्रेण जलमादाय वक्ष्यमाणैर्मंत्रैर्यथाक्रममभिषिंचते तद्यथा येन श्रियमिति द्वितीयम् आपो हि ष्ठेति तृतीयं यो वः शिव इति चतुर्थं तस्मा अरमिति पंचमं तूष्णीमितराणि त्रीणि स्नानानि (उदुत्तममिति मेखलामुन्मुच्य निधाय वासोन्यत्परिधायादित्यमुपतिष्ठते उद्यन्भ्राजभृष्णुरित्यादि) उदुत्तममिति मन्त्रेण मेखलां रशनामुन्मुच्य उच्छन्दसामर्थ्यात् शिरोमार्गेण निःसार्य निधाय तां च भूमौ निक्षिप्य अन्यद्वस्त्रं परिधाय आदित्यं सूर्यम् उद्यद्भ्राजभृष्णुरित्यादिभिर्मंत्रैः उपतिष्ठेतेति स्तौति (दधितिलान्वा प्राश्य जटालोमनखानि संहृत्यौदंबरेण दन्तान्धावयेत् अन्नाद्याय व्यूहध्वमिति) ततो दधितिलानामन्यतरं प्राश्य अशित्वा जटाश्च लोमानि च नखानि तानि संवृत्य संहार्यं वापयित्वेत्यर्थः । अत्र संहृत्येति णिचो लोपश्छांदसः, स्वयं संहर्तुमशक्यत्वात् औदुंबरेण द्वादशांगुलसंमितेन कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलेन उदुंबरकाष्ठेन अन्नाद्याय व्यूहध्वमिति मन्त्रेण दन्तान् धावयेत् प्रक्षालयेद् ब्राह्मणः द्वादशांगुलेन राजन्यः अष्टांगुलेन वैश्य इति विशेषः। अत्र जटालोमनखवपननिमित्तादुत्तरत्र पुनः स्नात्वेति पुनः शब्दसामर्थ्याच्च स्नानमाप्यते । अतो वपनानंतरं स्नानाचमने विधाय दन्तान्प्रक्षालयेदिति सिद्धम् । उत्साद्य पुनः स्नात्वानुलेपनं नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते प्राणापानौ म इति उत्साद्य सुगंधिद्रव्येण शरीरमुद्वर्त्य पुनः भूयः स्नात्वा शिरःप्रभृतीन्यंगानि प्रक्षाल्य अनुलेपनचन्दनादि मुखनासिकयोः उपगृह्णीते मुखं च नासिके च अनुलिंपति प्राणापानौ मे तर्पयेत्यादिना श्रोत्रं मे तर्पयेत्यंतेन मन्त्रेण पितरा शुन्धध्वमिति पाण्योरवनेजनं दक्षिणा निषिच्यानुलिप्य जपेत् सुचक्षा अहमिति, ततः पाण्योरवनेजनं हस्तयोः प्रक्षालनमुदकं पितरः शुंधध्वमित्यनेन मन्त्रेण प्राचीनावीती दक्षिणामुखो भूत्वा दक्षिणस्यां दिशि निषिच्य प्रक्षिप्य यज्ञोपवीती भूत्वा पितृकर्मकरणनिमित्तकम् उदकस्पर्शं विधाय चंदनादिना सुगन्धिद्रव्येण गात्राण्यनुलिप्य सुचक्षा अहमित्यादि भूयासमित्यंतं मन्त्रं जपेत् । अहतं वासो धौतं वा मन्त्रेणाच्छादयीत परिधास्य इति ततः अहतं नवं सदशं पवित्रं वासः वसनमाच्छादयीत परिदध्यात् तदलाभे अमंत्रेण अरजकेन धौतं क्षालितं परिधास्या इत्यादिना अभिसंव्ययिष्य इत्यनेन मन्त्रेण अथोत्तरीयं यशसामेति अथोत्तरीयपरिधानानंतरं तादृशमेवोत्तरीयं वासो यशसामित्यादिना यशो मा प्रतिपद्यतामित्यंतेन मंत्रेण आच्छादयीतेति गतेनाख्यातेन संबंधः । एकं चेत्पूर्वस्योत्तरवर्गेण प्रच्छादयीत वेद्यादिरेक एव वासो भवति तदा पूर्वस्यैव परिधानीयस्य वास उत्तरवर्गेण उत्तरभागेन प्रच्छादयीत यशसामेति मंत्रेणोत्तरीयं कुर्यादित्यर्थः । सुमनसा प्रतिगृह्णाति या आहरदिति सुमनसा पुष्पाणि अन्येन दत्तान्यादते या आहरदित्यादिना यद्यशसा च भगेन चेत्यंतेन मंत्रेण अथाऽवबध्नीते यद्यशसा इति ॥ अथ ताः प्रतिगृह्य अवबध्नीते शिरसि बध्नाति यद्यशोप्सरसा इत्यादिना यशोमयीत्यंतेन मंत्रेण (उष्णीषेण शिरो वेष्टयते युवा सुवासा इति) उष्णीषेण पूर्वोक्तलक्षणेन तृतीयेन वाससा शिरो मूर्द्धानं वेष्टते युवा सुवासा इत्यादिकया देवयंत इत्येतयर्चा (अलंकरणमसि भूयोलंकरणं भूयादिति कर्णवेष्टकौ) अलंकरणमसीति-

मंत्रेण दक्षिणोत्तरयोः कर्णयोर्वेष्टकौ भूषणं प्रतिमंत्रं प्रतिमुंचते परिधत्ते (वृत्रस्येत्यंक्तेञ्चिणी) वृत्रस्येत्यादिना चक्षुर्मे देहीत्यंतेन यथाक्रमं दक्षिणवामे मंत्रावृत्त्या अंक्ते सौवीराद्यमनेन संस्करोति (रोचिष्णुरित्यात्मानमादर्शे प्रेक्षते) रोचिष्णुरसीत्यनेन मंत्रेण आत्मानं मुखप्रभृति शरीरमादर्शे दर्पणे प्रेक्षते पश्यति (छत्रं प्रतिगृह्णाति बृहस्पते छदिरसि पाप्मनो मामंतर्धेहि तेजसो यशसो मामंतर्धेहीति) छत्रमातपत्रं बृहस्पते छदिरसीत्यादिना यशसो मामंतर्धेहीत्यंतेन मंत्रेण प्रतिगृह्णाति प्रतिग्रहशब्दसामर्थ्यात् अन्यत आदत्ते (प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातमित्युपानहौ प्रतिमुंचते) उपानहौ पादत्राणे प्रतिमुंचते परिधत्ते प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातमित्यन्तेन मंत्रेण मंत्रस्य द्विवचनांतत्वात्परिधातुं शक्यत्वाच्च प्रतिष्ठे इति द्विवचनं स्व इति च युगपत्पादयोः परिधत्ते (विश्वाभ्यो मा नष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते) विश्वाभ्यो मेत्यादिना मंत्रेण वैणवं वंशमयदंडं यष्टिमादत्ते गृह्णाति तत्रोक्तन्यायेन पूर्वदंडं त्यक्त्वैव इदमभिषेकप्रभृति दंडग्रहणांतं कर्मजातं स्नानकर्त्ता करोति नाचार्यः (दंतप्रक्षालनादीनि नित्यमपि वासश्छत्रोपानहश्चापूर्वाणि चेन्मंत्रः) दंतप्रक्षालनमादौ येषां पुष्पादीनां तानि दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यमपि सर्वदा मंत्रवंति स्नातकस्य भवन्ति वाससी च छत्रं च उपानहौ च वासश्छत्रोपानहं चकाराद्दंडोपि । एतानि चेद्यदि अपूर्वाणि नूतनानि ध्रियंते तदा मंत्रो भवति तद्ग्रहणे ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे षष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

सरला

१. (मंत्रब्राह्मणात्मक) वेद को (भलीभांति पाठतः और अर्थतः) समाप्त कर (ब्रह्मचारी) स्नान करे ।

२. अथवा ४८ वर्षीय ब्रह्मचर्य-काल (की अवधि समाप्त कर स्नान करे) ।

३. कुछ (आचार्यों का मत है कि) १२ वर्ष में (एक वेद का पूर्ण अध्ययन करके भी स्नान किया जा सकता है) ।

४. (अथवा) गुरु से आज्ञा लेकर (कभी भी स्नान किया जा सकता है) ।

५. विधि, मंत्र और तर्क (अर्थवाद—कर्क; मीमांसा कृत्यकल्पतरु) सहित वेद (का अध्ययन विहित है) ।

६. कुछ (आचार्यों का मत है कि) छहों वेदाङ्गों (सहित वेद का अध्ययन करके स्नान करना चाहिये) ।

७. केवल (मंत्र या ब्राह्मण का) ग्रन्थात्मक अध्ययन अविहित है (क्यों कि उससे प्रयोगपरम्परा का कोई ज्ञान नहीं होता) ।

८. (अथवा) यज्ञविद्या का अध्ययन कर (अपनी इच्छा से स्नान किया जा सकता है) ।

९–११. उपसंग्रह (विधि से) गुरु को, (प्रणाम) कर, अग्नि में समिधाधान कर, सर्वतः परिवेष्टित अग्नि के उत्तर रखे आठ जल कलशों के पूर्व बिछे हुए कुशों पर खड़े होकर (ब्रह्मचारी) 'येऽप्स्वन्तरग्नय····' मंत्र पढ़ते हुए पहले घड़े से जल लेकर, 'ते मामभिषिञ्चामि····' मंत्र पढ़कर अपने ऊपर डाले।

१२. (आठों कलशों से जल-ग्रहण एक ही मंत्र पढ़कर किया जाये; अभिषेक के मंत्र पृथक्-पृथक् हैं) 'येन श्रियम्····' मंत्र पढ़कर (दूसरे घड़े के जल से स्नान करे)।

१३–१४. 'आपो हिष्ठा····' मंत्र पढ़कर तीसरे घड़े के जल से, 'यो वः शिवतमः····' मंत्र पढ़कर चौथे घड़े के जल से, 'तस्मा अरङ्गम्····' मंत्र पढ़कर पांचवें घड़े के जल से स्नान कर तत्पश्चात् अन्य तीन घड़ों के जल से मंत्ररहित ही (स्नान करना चाहिए)।

१५–१६. 'उदुत्तमम्····' मंत्र पढ़ते हुए मेखला खोलकर दण्ड रख दे; अन्य (नवीन) वस्त्र पहनकर 'उद्यन्भ्राजभृष्णु····' प्रभृति मंत्रों से सूर्य की स्तुति करे।

१७. (तदनन्तर) दही या तिल खाकर, जटायें, रोम और नाखून कटवाकर, 'अन्नाद्याय ····' मंत्र पढ़ते हुए गूलर की दातुन से दांत स्वच्छ करे।

१८. (सुगन्धित द्रव्यों के उबटन से मैल) छुड़ाकर, पुनः स्नान कर, 'प्राणापानौ····' मंत्र पढ़ते हुए नासिका और मुख के समीप चन्दनादि का लेप करे।

१९. 'पितरः शुन्धध्वम्····' मंत्र पढ़कर हाथों में लिए प्रक्षालन-जल को दक्षिणाभिमुख फेंक देना चाहिए; अंगों में सुगन्धित द्रव्य मलकर 'सुचक्षा····' मंत्र का जप करे।

२०. 'परिधास्यै····' मंत्र पढ़कर सकृत्प्रक्षालित नूतन वस्त्र पहन ले; (वह यदि न मिले तो) धोबी के द्वारा न धोये गये (किसी भी) स्वच्छ वस्त्र को पहन ले।

२१. 'यशसा मा द्यावापृथिवी····' मंत्र पढ़कर उत्तरीय भी धारण कर ले।

२२. यदि (दोनों न हों) केवल एक ही हो तो उसी के आधे अंश से ऊपर के अंग ढक ले।

२३. 'या आहरज्जमदग्निः····' मंत्र पढ़कर पुष्प ग्रहण करे।

२४. 'यद्यशोऽप्सरसः····' मंत्र पढ़ते हुए उन्हें सिर में लगा ले।

२५. 'युवा सुवासा····' मंत्र पढ़कर सिर में पगड़ी लपेटे।

२६. 'अलङ्करणमसि····' मंत्र पढ़ते हुए कानों में कुण्डल पहने।

२७. 'वृत्रस्य····' मंत्र पढ़कर आंखों में काजल लगाये।

२८. 'रोचिष्णु····' मंत्र पढ़ते हुए दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखे।

२९. 'बृहस्पते····' मंत्र पढ़कर छाता ले।

३०. 'प्रतिष्ठेस्थो····' मंत्र पढ़कर जूते पहने।

३१. 'विश्वाभ्यो....' मंत्र पढ़ते हुए हाथ में बांस की लाठी ले।

३२. दन्त-प्रक्षालनादि कर्म स्नातक समन्त्र ही करे; जूता-छाता आदि जब नये पहने तो मंत्र पढ़े।

टिप्पणी—१. उपसंग्रह। उपनयन की भांति शिष्य अपने हाथों से गुरु के पैर पकड़कर प्रणाम करे—बायें हाथ से बायां पैर और दाहिने से दाहिना।

२. विधि = विधायक ब्राह्मण; विधेय = मंत्र।

३. विधि, विधेय और तर्क के साथ प्रयुक्त चकार हरिहर के मत से नामधेय का संकेत करता है क्योंकि वेद के चार प्रकार हैं—विधि, अर्थवाद, मंत्र और नामधेय।

मंत्रार्थ

१. 'ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदूषुरिन्द्रियहातान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि ॥

प्रजापति,अग्नि-गायत्री, जलदेवता।

इस जल में स्थित गोह्य, उपगोह्य और मयूष प्रभृति मानसिक उत्साह नष्ट करनेवाली, अप्रतीकार्य, तथा विविध रोगों से पीड़ित कर इन्द्रियघात करनेवाली आठ अग्नियों को दूर हटाकर मैं मेध्य, मंगलमयी और प्रीतिकारिणी रोचनशील अग्नि को ग्रहण कर रहा हूँ।

(गोह्य=जल में छिपी रहनेवाली; उपगोह्य = अङ्गतापक; मयूष=जन्तुहिंसक)

२. तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ।

प्रजापति, यजुष्, जल।

लक्ष्मी, यश, वेद-ज्ञान और ब्रह्मतेज की कामना से मैं इस जल से अपने को अभिषिक्त करता हूँ।

३. येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳ सुराम्। येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः ॥

वही।

हे अश्विनदेवयुग्म! आपने जिस जल से (अभिषेक कर) देवताओं को श्री-सम्पन्न किया है; जिससे (उपमन्यु के नेत्रों को रोगमुक्त कर) आप यशस्वी बने हैं, उसी जल में स्नान कर मैं भी यश की प्राप्ति करूँ।

४–७ उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातयावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय। उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन्मागमय।

उद्यन्भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं वा कुर्वाविदन्मागमय ॥

प्रजापति, शक्वरी सविता ।

अपनी प्रभा से अन्य तेजों को अभिभूत करनेवाले उदीयमान सूर्य देव ! आप शुभाशुभ के ज्ञाता तथा प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल अपने उपासकों को दश-संख्यक दान देनेवाले हैं। अपने भक्तों के मध्य आप उसी प्रकार से ठहरते हैं, जैसे इन्द्र मरुतों के मध्य । आप हममें भी दसगुना, सौगुना और हजारगुना दान देने की क्षमता उत्पन्न करें ।

८. अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजाऽयमागमत् । स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥

अथर्वा, अनुष्टुप्, वनस्पति ।

ऐ दांतों, अन्नभक्षण हेतु आत्मशुद्धयर्थं तुम पंक्तिबद्ध हो जाओ क्योंकि इस दातुन के रूप में स्वयं वनस्पतियों के अधिष्ठाता राजा सोम पधारे हैं ; वे सुकीर्ति और षड्विध ऐश्वर्य प्रदान करते हुए मेरे मुख की शुद्धि कर रहे हैं।

९. प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय ॥

प्रजापति, यजुष्, प्राण—अपान ।

हे उपलेपनाधिष्ठित देव ! तुम मेरी प्राण-अपान वायु और नेत्रेन्द्रिय को प्रसन्न बनाओ ।

१०. सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन । सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम् ॥

प्रजापति, यजुष्, सविता ।

हे सवितृदेव ! नेत्रों से मैं सुदर्शन, मुख से तेजस्वी और कानों से सुश्रवण होऊँ ।

११. परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि । शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥

अथर्वा, यजुष्, लिङ्गोक्त देवता ।

हे वस्त्राधिष्ठित देव ! सुन्दर परिधान, यश, दीर्घायु और परिपक्व आयु प्राप्त करने के लिए मैं इस वस्त्र को धारण करता हूँ । पुष्टिकर धन और बहुत से पुत्र-पौत्रों से समृद्धि-संपन्न होकर मैं १०० वर्ष की आयु भोगूँ ।

१२. यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥

वही ।

हे वसनदेव ! द्यावापृथिवी, इन्द्र और बृहस्पति यश के साथ मेरे समीप आयें; स्वयं यशाभिमानी और भगाधिष्ठाता देवता मेरे समीप आयें—ये सभी मुझे यशस्वी करें ।

१३. या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय । ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च ॥

भरद्वाज, अनुष्टुप्, सुमन ।

जिन पुष्पों को प्रजापति जमदग्नि ने श्रद्धा, मेधा, कामना-पूर्ति और इन्द्रिय-पाटव के निमित्त धारण किया था—यश और षड्विध ऐश्वर्य के साथ मैं भी उन्हें उपर्युक्त गुणों की कामना से ग्रहण कर रहा हूँ ।

१४. यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु । तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशोमयि ॥

वही ।

ओ सुमनों ! इन्द्र ने जिन फूलों को गूँथकर उर्वशी आदि स्वर्गीय अप्सराओं को लोकप्रिय बनाया था, उन्हें ही मैं भी अपनी शिखा में गूँथ रहा हूँ—मेरा विपुल यश स्थिर रहे ।

१५. बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामान्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि ॥

गौतम, गायत्री, छत्र ।

हे छत्र ! तुमने बृहस्पति को आच्छादित कर उन्हें आतप से बचाया था; तुम मुझे निषिद्ध आचरणों से तो बचाओ किन्तु तेजस् और यशोलब्धि के मार्ग में व्यवधान मत बनो ।

१६. प्रतिष्ठेस्थो विश्वतो मा पातम् ॥

प्रजापति, यजुष्, धर्म ।

हे उपानहों ! तुम स्थिर रहकर मुझे सब प्रकार के परिभवों से बचाओ ।

१७. विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि ॥

याज्ञवल्क्य, यजुष्, दण्ड ।

ओ दण्ड ! तुम मेरी समस्त राक्षसादि दुष्टों से रक्षा करो ।

सप्तमकण्डिका

स्नातस्य यमान्वक्ष्यामः ॥ १ ॥ कामादितरः ॥२॥ नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्यान्न च गच्छेत् ॥ ३ ॥ कामं तु गीतं गायति वैव गीते वा रमत इति श्रुतेर्ह्यपरम् ॥ ४ ॥ क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेन्न च धावेत् ॥ ५ ॥ उदपानावेक्षणवृक्षारोहणफलप्रपतनसंधिसर्पणविवृतस्नानविषमलङ्घनशुक्तवदनसंध्यादित्यप्रेक्षणभैक्षणानि न कुर्यात् न ह वै स्नात्वा भिक्षेतापह वै स्नात्वा भिक्षां जयतीति श्रुतेः ॥ वर्षत्यपावृतो व्रजेत् अयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति ॥७॥ अप्स्वात्मानं नावेक्षेत ॥ ८ ॥ अजातलोम्नीं विपुंसीᳫं षण्ढं च नोपहसेत् ॥९॥ गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात् ॥ १० ॥ सकुलमिति नकुलम् ॥ ११ ॥ भगालमिति च कपालम् ॥ १२ ॥ मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ १३ ॥ गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत ॥ १४ ॥ उर्वरायामनन्तर्हितायां भूमावुत्सर्पᳫंस्तिष्ठन्न मुत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ १५ ॥ स्वयं प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत ॥ १६ ॥ विकृतं वासो नाच्छादयीत ॥ १७ ॥ दृढव्रतो वधत्रः स्यात् सर्वत आत्मानं गोपायेत् सर्वेषां मित्रमिव (शुक्रियमध्येषमाणः) ॥ १८ ॥ ७ ॥

हरिहरभाष्यम्

(स्नातस्य यमान्वक्ष्यामः) स्नातस्य ब्रह्मचर्या समावृत्तस्य द्विजातेः यमान् व्रतानि वक्ष्यामः कथयिष्यामहे (कामादितरः) कामात् इच्छया इतरः द्विजातेरन्यः शूद्र इति यावत् यमेषु अस्नातकोपि अधिक्रियते (नृत्यगीतवादित्राणि न च गच्छेत्) नृत्यं लास्यादिभेदभिन्नं गीतं षड्जादिस्वरैः ध्रुवादिरूपकविशेषैर्निबद्धं वादित्रं तन्त्र्यातिभेदेन चतुर्विधं नृत्यं च गीतं च वादित्रं च नृत्यगीतवादित्राणि तानि स्वयं न च गच्छेत् नृत्यादि अन्यैरपि क्रियमाणानि न गच्छेत् द्रष्टुं श्रोतुं चकारः करोतेर्गच्छतिक्रियासमुच्चयार्थः (कामं तु गीतं गायति चैव गीते वा रमत इति श्रुतेर्हि)। अत्र गीते प्रतिप्रसवमाह । तु पुनः काममिच्छया गीतं गानं स्वयं कुर्यात् परैः क्रियमाणं च गच्छेच्छ्रोतुं कुतः हि यस्मात् गायति स्वयं गानं करोति गीते वा अन्यैः क्रियमाणे गाने रमते रतिं प्राप्नोति इति श्रुतेर्वेदवचनं च यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते आत्मानं सुखिनं संपूर्णं मन्यते स्वयं गायति गीतं च श्रृणोति (अपरम्) अपरमपि गायेत गीतं च श्रृणुयात् इत्येतदर्थंज्ञापकं वेदे लिंगमस्ति यथाश्वमेधे श्रूयते दिवा ब्राह्मणो गायति नक्तं राजन्य इति । अनेन ब्राह्मणराजन्ययोः स्वयंगाने अधिकारोस्तीति ज्ञायते तौ च अश्वमेधयाजिनं यजमानं राजन्यं श्रावयितुं गायतः तेन गायनश्रवणेऽप्यधिकारो गम्यते (क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेत्) क्षेमे सति आपदभावे सति नक्तं रात्रौ ग्रामांतरमन्यग्रामं न गच्छेत् अक्षेमे तु गच्छेत् (न च धावेत्) क्षेमे सतीत्यनुषज्यते न च धावेत् शीघ्रं न गच्छेत् (उदपानावेक्षणवृक्षारोहणफलप्रपतनसंधिसर्पणविवृतस्नानविषमलंघनशुष्कवदनसंध्यादित्यप्रेक्षणाभिक्षणानि न कुर्यात्) उदपानस्य कूपस्यावेक्षणमुपरि स्थित्वा अधोमुखीभूया-

वलोकनं वृक्षे आरोहणमुपरिगमनं फलानामाम्रादीनां प्रपतनं त्रोटनं संधौ सन्ध्यासमये सर्पणमध्वगमनं संधिना अपमार्गेण वा सर्पणं विवृतेन नग्नेन स्नानं विषमस्य पर्वतगर्त्तादिः लंघनमतिक्रमणं शुष्कस्य अश्लीलस्य वदनं भाषणमश्लीलं तु त्रिविधं लज्जाकरं दुःखकरममंगलसूचकं च। संध्यासु आदित्यस्य सूर्यमंडलस्य रागतः प्रेक्षणं दर्शनमुपरक्तस्य वारिप्रतिबिंबितस्य च 'नोपरक्तं न वारिस्थमिति मनुस्मृतेः, भिक्षणं भैक्षचर्या एतानि उदपानावेक्षणादीनि भिक्षणांतानि वर्जयेत् (न ह वै स्नात्वा भिक्षेताप ह वै स्नात्वा भिक्षां व्रजतीति श्रुतेः) भिक्षणनिषेधे श्रुतिं प्रमाणत्वेनावतारयति स्नात्वा समावर्त्य न भिक्षेत यतः स्नात्वा भिक्षामपनयति अपाकरोति ह वै इति निपातसमुदायः निश्चयार्थ इति वेदवचनात् (वर्षत्यप्रावृतो व्रजेदयं मे वज्रःपाप्मानमपहनदिति) देवे वर्षति अप्रावृतः अनाच्छादितः व्रजेत् गच्छेत् अयं मे वज्र इत्यनेन मन्त्रेण (अप्स्वात्मानं नावेक्षेत) अप्सु जले आत्मानं स्वमुखं नावेक्षेत न पश्येत् (अजातलोम्नीं विपुंसीं षंढं च नोपहसेत्) समये न जातानि लोमानि यस्याः सा अजातलोम्नी तामजातलोम्नीं नोपहसेत् न च गच्छेत् विपुंसीं च पुरुषाकारां स्त्रियं कूर्चादिविकारेण नोपहसेदित्यनुवर्त्तते। षंढं नपुंसकं नोपहसेदित्यनुवर्त्तते। (गर्भिणीं विजन्येतिब्रूयात्) गर्भिणीमंतर्वत्नीं विजन्या इति नाम ब्रूयात् वदेत् (सकुलमिति नकुलं भगालमिति कपालं मणिधनुरितींद्रधनुर्गां धयंतीं परस्मै नाचक्षीत) सकुलमिति नकुलं ब्रूयात् कपालं कर्परं भगालमिति ब्रूयात् इन्द्रधनुः मणिधनुरिति ब्रूयात्। परस्य गां सुरभिं धयंतीं वत्सं पाययंतीं परस्मै स्वामिने नाचक्षीत न कथयेत् (उर्वरायामनंतर्हितायां भूमावुत्सर्प्पंस्तिष्ठन्न मूत्रपुरीषे कुर्यात्) उर्वरायां सस्यवत्यां भूमौ पृथिव्यां केवलायां तृणैरनंतर्हितायां मूत्रपुरीषे मूत्रस्य पुरीषस्य वा उत्सर्गं न कुर्यात् किंचित्तिष्ठन् ऊर्ध्वः न कुर्यात् तथा उत्सर्प्पन्नुत्क्षिपमाणः सन् न कुर्यात् (स्वयं प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत) स्वयम् आत्मनः प्रयत्नं विना प्रशीर्णेन स्वयंछिन्नेन पतितेन काष्ठेन दारुशकलेन अयज्ञियेन प्रमृजीत प्रोंछयेत् पुरीषोत्सर्गसन्निधानात् गुदमित्यध्याहारः (विकृतं वासो नाच्छादयीत) विकृतं मजिष्ठादिरागेण विकारमापादितं वासो वस्त्रं न परिदधीत नील्यादिना रक्तं विकृतं निषिध्यते कषायरक्तं तु न निषिध्यते किं तु प्रशस्य इति भाष्यकारः (दृढव्रतो वधत्रः स्यात्सर्वेषां मित्रमिव) दृढं स्थिरं व्रतं प्रारब्धं कर्म यस्य स दृढव्रतः स्यात् किं च वधात् घातात् त्रायते रक्षतीति वधत्रः स्यात् किं च सर्वेषां च मित्रमिव सखेव सुहृदिव हितकारी स्यादित्यर्थः 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इति स्मरणात्। अत्र यो दृष्टार्थविषयप्रतिषेधः तत्र दृष्टार्थादेव निवृत्तिः प्राप्तौ प्रतिषेधसामर्थ्याददृष्टमथानुमीयते अत एव प्रायश्चित्तस्मरणं स्नातकव्रतलोपे तु एकरात्रमभोजनमिति स्मरणात्।

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

सरला

१. (अब) स्नातक के (द्वारा पालन करने योग्य) यम बतलायेंगे।

२. (द्विजातिरिक्त) अन्य (वर्णोत्पन्न व्यक्ति भी) स्वेच्छा से (इनका पालन कर सकता है) ।

३. नृत्य (और) गाना-बजाना न तो (स्वयं) करे (और यदि कोई करा रहा हो, तो उनमें) सम्मिलित भी न हो ।

४. अथवा यदि (विशेष) इच्छा हो तो (स्वयं) करे (और दूसरों के द्वारा करने पर) सम्मिलित (भी हो सकता है;) क्योंकि श्रुति का कथन है कि इनमें व्यक्ति का मन रमता है ।

५. (यदि कोई संकट ही न आ पड़ा तो) सामान्य अवस्था में रात्रि में दूसरे गाँव को न जाये और ना ही दौड़े ।

६. कुयें आदि के जल में न झाँके, पेड़ पर न चढ़े, कच्चे फल तोड़ कर न गिराये, संधि-सर्पण न करे, नग्न स्नान न करे, ऊबड़-खाबड़ भूमि को न लांघे, अश्लील भाषण न करे, सांध्य वेला में सूर्य को न देखे, भिक्षा न माँगे क्योंकि श्रुति का कथन है कि समावर्तन संस्कार के बाद स्नातक भिक्षा न माँगे,—उससे उसका पतन होता है ।

७. (जब) वर्षा हो रही हो तो बिना छाता लगाये ही चले, मंत्र पढ़े । 'अयं मे वज्रः''''।

८. जलाशय में अपना प्रतिबिम्ब न देखे ।

९. जिसके शरीर में रोयें न उगे हों, दाढ़ी-मूँछ आदि पुरुष के चिह्न हों, ऐसी स्त्री और नपुंसक पुरुष को देखकर उनका उपहास न करे ।

१०. गर्भिणी स्त्री को ('गर्भिणी' न कहकर) 'विजन्या' (विशेषप्रसवा) कहे ।

११. नकुल (निर्वंशी) को सकुल (कहना चाहिए) ।

१२. कपाल (कर्पर) को भगाल (कहे) ।

१३. इन्द्रधनुष को मणिधनुष (कहना चाहिए) ।

१४. बछड़े को दूध पिलाती हुई गाय दूसरे को न बतलाये ।

१५. उर्वर और तृणादि से न ढकी हुई भूमि पर खड़े होकर या बैठकर मल-मूत्र-विसर्जन न करे ।

१६. स्वयं टूट कर गिरे हुए काष्ठ-खण्ड से गुदा को पोंछे ।

१७. विकृत (गंदे और फटे हुए अनुपयुक्त) वस्त्र न पहने ।

१८. अपने व्रत का निष्ठापूर्वक पालन कर सबके मित्र की भाँति व्यवहार करते हुए वधार्थ आ रहे व्यक्ति से सब प्रकार से आत्म-रक्षा करे ।

मंत्रार्थ

१. अयं मे वज्रः पाप्मानमपहनत् ।

प्रजापति, जगती, वज्र ।

यह [रवि-रश्मि-संस्कृत जलकण रूप] वज्र मेरे पापों को नष्ट करे ।

अष्टमकण्डिका

तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् ॥ १ ॥ अमा ॐ साश्यमृण्मयपायी ॥ २ ॥ स्त्रीशूद्रशवकृष्णशकुनिशुनां चादर्शनमसंभाषा च तैः ॥ ३ ॥ शवशूद्रसूतकान्नानि च नाद्यात् ॥ ४ ॥ मूत्रपुरीषे ष्ठीवनं चातपे न कुर्यात्सूर्याच्चात्मानं नान्तर्दधीत ॥ ५ ॥ तप्तेनोदकार्थान्कुर्वीत ॥ ६ ॥ अवज्योत्य रात्रौ भोजनम् ॥ ७ ॥ सत्यवदनमेव वा ॥ ८ ॥ दीक्षितोऽप्यातपादीनि कुर्यात्प्रवर्ग्यवाँश्चेत् ॥ ९ ॥

हरिहरभाष्यम्

(तिस्रोरात्रीर्व्रतं चरेत्) एवं स्नातकस्य समावर्त्तनप्रभृति यावद्गार्हस्थ्यं कर्त्तव्यत्वेन वर्जनीयत्वेन च नृत्यगीतादीन्यभिधाय अधुना तस्यैव समावर्तनदिनमारभ्य त्रिरात्रव्रतचर्यमाह तिस्रः त्रिसंख्या रात्रीः अहोरात्राणि व्रतं वक्ष्यमाणं चरेत् अनुतिष्ठेत् (अमांसाश्यमृन्मयपायी) मांसमश्नातीत्येवंशीलो मांसाशी तद्विपरीतः अमांसाशी अमृन्मयपायी स्यादिति शेषः । (स्त्रीशूद्रशवकृष्णशकुनिशुनां चादर्शनमसंभाषा च तैः) स्त्री नारी शूद्रश्चतुर्थो वर्णः शवो मृतशरीरं कृष्णशकुनिः काकः श्वा कुर्कुरः एतेषामदर्शनमवलोकनाभावः तैः स्त्रीशूद्रादिभिश्च सह असंभाषा न संभाषा असंभाषा अवचनव्यवहारः । (शवशूद्रसूतकान्नानि च नाद्यात्) नाद्यान्न भक्षयेत् कानि शवो मृतकः तस्मिन् जाते सति क्रीत्वा लब्ध्वा वा यद् ज्ञातिभिरद्यते शूद्रस्य अवरवर्णस्य नापितादेर्भोज्यस्यापि यदन्नं तच्छूद्रान्नं सूतके प्रसवाशौचे सति यद् ज्ञातीनामन्नं तत्सूतकान्नं तानि शवशूद्रसूतकान्नानि चकारः स्त्रियाद्यदर्शनादिसमुच्चयार्थः । (मूत्रपुरीषष्ठीवनं चातपे न कुर्यात्) मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषे आतपे धर्मे न कुर्यात् नोत्सृजेत् यथाष्ठीवनं च फूत्कृत्य मुखाल्लालादिनिस्रावं न कुर्यादातपे । (सूर्याच्चात्मानं नांतर्दधीत) सूर्यात् आदित्यात् आत्मानं स्वं छत्रादिना अर्न्तहितं न कुर्यात् । (तप्तेनोदकार्थान् कुर्वीत) तप्तेन जलेन उदकार्थान् उदकसाध्याः शौचाचमनादिकाः क्रियाः कुर्वीत विदध्यात् । (अवज्योत्य रात्रौ भोजनम्) रात्रौ निशि अवज्योत्य दीपं प्रज्वाल्य भोजनमशनं कुर्वीत । (सत्यवदनमेव वा) यद्वा सत्यवदनमेव सत्यवाक्योच्चारणमेव कुर्यात् न अधस्तनानि अमांसाशनादीनि ॥ (दीक्षितोप्यातपादीनि कुर्यात्प्रवर्ग्यवांश्चेत्) चेद्यदि दीक्षितः सोमयागार्थं स्वीकृतदीक्षः प्रवर्ग्यवान् प्रवर्ग्यो महावीरः अस्यास्तीति प्रवर्ग्यवान् तदा आतपादीनि आतपे मूत्रपुरीषोत्सर्गष्ठीवनादीनि अवज्योत्य रात्रिभोजनांतानि कुर्यात् वा सत्यवदनमेव । अत्र सूत्रकारेण यावंति स्नातकव्रतान्युक्तानि न तावंत्येवानुतिष्ठेत् अपि तु मन्वादिस्मृतिप्रणीतान्यपि इति सूत्रार्थः ॥ अथ प्रयोगः ॥ वेदमुक्तलक्षणं व्रतं च उभयं वा समाप्य गुर्वनुज्ञातो ब्रह्मचारी स्नायात् । तत्र आचार्यो मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा ब्रह्मचारिणा भो आचार्य अहं स्नास्ये इत्यनुज्ञादानं प्रार्थितः स्नाहीत्यनुज्ञां दत्वा ब्रह्मचारिणे परिश्रिते पंचभूसंस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निं विधाय ब्रह्मोपवेशनादि

आज्यभागांतं कर्म निर्वर्त्य वेदारंभवत् वेदाहुतिहोमं विधाय महाव्याहृत्यादि स्विष्टकृदंतं च कृत्वा संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात्। तद्यथा तत्राज्यभागांतं कृत्वा यदि ऋग्वेदमधीत्य स्नानं करोति तदा पृथिव्यै स्वाहा अग्नये स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा यदि यजुर्वेदं तदाज्यभागानंतरम् अन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहेति द्वे आज्याहुती हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्याद्या नवाहुतीर्हुत्वा महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदंता दशाहुतीर्हुत्वा छन्दोभ्य इत्यारभ्यानुमत्यंता नवाहुतीर्हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणां दत्त्वा समापयेत्। यदा सामवेदं तदाज्यभागांते दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहेति हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्यारभ्यानुमत्यंता नवाहुतीर्जुहोति। यद्यथर्ववेदं तदाज्यभागांते दिग्भ्यः स्वाहा चंद्रमसे स्वाहेति आहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मण इत्याद्या जुहोति। यदैकदा वेदचतुष्टयमधीत्य स्नानं करोति तदाज्यभागानंतरं प्रतिवेदं वेदाहुतिद्वयं हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्याहुतिद्वयं च हुत्वा प्रजापतये इत्याद्याः प्रजापतये देवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतये अनुमतय इति सप्तमंत्रेण जुहुयात्। एवं वेदद्वयत्रयाध्ययनेऽपि योज्यम्। अनंतरं महाव्याहृत्यादिस्विष्टकृदंता दशाहुतीर्हुत्वा प्राशनं विधाय दक्षिणादानांतं कुर्यात्। ब्रह्मचारी उपसंग्रहणपूर्वकं गुरुं नमस्कृत्य परिसमूहनादि त्र्यायुषकरणांतं तस्मिन्नग्नौ समिदाधानं कुर्यात्। ततः आचार्यपुरुषैः परिश्रितस्योत्तरभागे स्थापितानां दक्षिणोत्तरायतानामष्टानां जलपूर्णानां कलशानां पूर्वभागे आस्तृतेषु प्रागग्रेषु कुशेषु उदङ्मुखः स्थित्वा येप्स्वंतरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहा स्खलो विरुजस्तनूदूषुरिंद्रियहा तान्विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामीति मंत्रेण प्रथमकलशात् दक्षिणचुलुकेन उदकमादाय तेनेमामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति मंत्रेणात्मानमभिषिंचते। एवमेव द्वितीयादिभ्यः समेभ्यः उदकुंभेभ्यः येप्स्वंतरग्न इत्यनेनैव मंत्रेण एकैकस्माज्जलमादाय येन श्रियमकृणुतां येनावमृशतां सुरां येनाक्षावभ्यषिंचतां यद्वा तदश्विना यश इति आपो हि ष्ठा मयो भुवः यो वः शिवतमो रसः तस्मा अरंगमामव इत्येतैश्चतुर्भिर्मंत्रैः प्रतिमन्त्रमात्मानमभिषिच्य त्रिस्तूष्णीमभिषिंचते। तत उदुत्तममिति मंत्रेण मेखलां शिरोमार्गेण निःसार्य तां मेखलां भूमौ निधाय अन्यद्वासः परिधायाचम्य आदित्यमुपतिष्ठते उद्यन् भ्राजभृष्णुरिंद्रो मरुद्भिरस्थात्प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन्मागमयोद्यन् भ्राजभृष्णुरिंद्रो मरुद्भिरस्थाद्दिवायावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदं मा गमयोद्यन्भ्राजभृष्णुरिंद्रो मरुद्भिरस्थात्सायं यावभिरस्थात्सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं माकुर्वाविदन्मा गमयेत्यादित्योपस्थानमन्त्रः। ततो दधि वा तिलान्वा दक्षिणहस्तमध्यगतेन सोमतीर्थेन प्राश्य जटालोमनखानि वापयित्वा स्नात्वाचम्योक्तलक्षणेनौदुंबरकाष्ठेन अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजायमागमत्स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन चेत्यनेन मन्त्रेण दन्तान् क्षालयित्वाचम्य सुगन्धिद्रव्यमिश्रितेन यवादेः चूर्णेन संनीतेन शरीरमुद्वर्त्य पुनः सशिरस्कं स्नात्वाचम्य चन्दनाद्यनुलेपनं पाणिभ्यां गृहीत्वा मुखं नासिकां च प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पयेत्यनेन मंत्रेणालभते। ततः पाणी प्रक्षाल्य तदुदकमञ्जलिनादायापसव्यं कृत्वा दक्षिणमुखो

भूत्वा दक्षिणस्यां दिशि पितरः शुन्धध्वमित्यनेन मन्त्रेण भूमौ निषिञ्चेत्पितृतीर्थेन। अथ यज्ञोपवीती भूत्वोदकमुपस्पृश्य चन्दनादिना सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति मन्त्रेण आत्मानमनुलिप्य परिधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि शतञ्च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्य इति मन्त्रेण अहतं धौतं वा यथालाभं वासः परिधाय 'धारयेद्वैणवीं यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले' इति मनुना ब्रह्मचर्यप्राप्तस्य यज्ञोपवीतधारणस्य सतः स्नातकस्य पुनर्विधानात् द्वितीययज्ञोपवीतधारणं प्राप्तं तच्च पूर्वं धृते सति न संभवति अतस्तदुत्तार्य जले प्रक्षिप्यापरं नवम् उक्तलक्षणं त्रिसरद्वयं यज्ञोपवीतमित्यादिना मन्त्रेण परिधाय यज्ञोपवीतस्यैकदेशविनाशे यातयामत्वमतो न तस्य नवेन संयोगः यज्ञोपवतीस्यैकदेशवि-नाशेपि मंत्रादिकसंस्कारस्य विनष्टत्वात् ततो यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेंद्राबृहस्पती यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यतामिति मंत्रेण उत्तरीयं वास आच्छाद्य द्वितीय-वस्त्रलाभे पूर्वस्यैवोत्तरवर्गेण अनेनैवोत्तरीयं वासः परिधत्ते या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायेंद्रियाय ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन चेति पुष्पाणि अन्यतः प्रतिगृह्य यद्यशोप्सरसामिंद्रश्चकार विपुलं पृथु तेन संग्रथिताः आसुमनस आवध्नामि यशोमयीति मंत्रेण शिरसि बद्ध्वा युवा सुवासा इत्यनयर्चा उष्णीषेण शिरो वेष्टयते। अलंकरणमसि भूयोलंकरणं भूयादिति दक्षिणकुण्डल कृत्वानेनैव वामकर्णे परिधाय वृत्रस्यासि कनीनिका चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहीतिमंत्रेण दक्षिणे प्रक्षिप्य सौवीरांजनं प्रक्षिप्य तेनैव वामं चक्षुः अंक्ते ते रोचिष्णुरसीत्यादर्शे मुखं विलोक्य बृहस्पते छदिरसि पाप्मनो मामंतर्धेहि तेजसो यशसो मामंतर्धेहीत्यन्यस्माच्छत्रं प्रतिगृह्णाति प्रतिष्ठेस्थो विश्वतो मापामित्युपानहौ युगपत्पादयोः प्रतिमुच्य विश्वाभ्यो मा नष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वत इति वैणवं दण्डमादत्ते। पूर्वदंडं त्यक्त्वा अत्र मातृपूजादि ब्रह्मणे दक्षिणादानांतमाचार्यकृत्यं कलशादभिषेकादि दण्डग्रहणांतं स्नानकर्तुः वासश्छत्रोपानद्ग्रहणव्यतिरिक्तानि दंतप्रक्षालनादीनि मन्त्रवंति सदा भवन्ति। वासःप्रभृतीनि तु नूतनान्येव। तत आचार्यः स्नातकस्य नियमान् श्रावयेत् त्रिरात्रव्रतानि च स्नातकस्य तानि यथोक्तानि कुर्यादिति समावर्त्तनम्॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डेऽष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

सरला

१. (समावर्तन-दिन से) तीन दिन तक (स्नातक इस) व्रत का आचरण करे।

२. मांस-भक्षण न करे; मिट्टी के पात्र में (जलादि) न पिये।

३. स्त्री, शूद्र, शव, काक और कुत्ते को न तो देखे और ना ही इनके साथ संभाषण करे।

४. (मरण के अनन्तर खरीदकर अथवा प्राप्त कर जो अन्न सम्बन्धियों द्वारा खाया जाता है ऐसा) शवान्न, शूद्र का अन्न तथा सूतकान्न (प्रसवअशुद्धि कालीन अन्न) न खाये।

५. धूप में न मल-मूत्र त्यागे और ना ही थूके। सूर्य से अपने को (छाता आदि लगाकर) अन्तर्हित न करे।

६. (शौच, आचमनादि) जल-साध्य क्रियायें तप्त जल से करे।

७. रात्रि में दीपक जलाकर भोजन करे।

८. सत्य-भाषण ही करे, अथवा (अन्य नियमों का पालन)।

९. यदि (सोमयाग की) दीक्षा ले चुका है, प्रवर्ग्य (सोमयागाङ्ग कर्मविशेष) से युक्त है, तथापि ५ वें सूत्र से ९ वें तक बताये गये नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए।

टिप्पणी—१. हरिहर का कथन है कि पारस्करोक्त नियमों के अतिरिक्त मन्वादि स्मृतियों में बताये गये नियमों का भी पालन स्नातक को करना चाहिए—'अत्र सूत्रकारेण यावन्ति स्नातकव्रतान्युक्तानि न तावन्त्येवानुतिष्ठेत् अपितु मन्वादिस्मृतिप्रणीतान्यपि इति सूत्रार्थः।'

समावर्तन-विधि

विधिवत् वेदाध्ययन करने के अनन्तर गुरु से आज्ञा लेकर ब्रह्मचारी स्नान करे। पञ्चभूसंस्कार-पूर्वक अग्नि की स्थापना कर, आज्य भागान्त कर्म निवटाकर, वेदारम्भ की भाँति वेदाहुति–होम करने के अनन्तर महाव्याहृतिपूर्वक स्विष्टकृत् होम करके संस्रव-प्राशन के उपरान्त ब्राह्मण को दक्षिणा दी जाये। ऋग्वेद का अध्ययन कर स्नान करने वाला (१. पृथिव्यै स्वाहा, २. अग्नये स्वाहा—ये) दो आज्याहुतियां डाल 'ब्रह्मणे छन्दोभ्यः' प्रभृति नौ आज्याहुतियां डाले; यजुर्वेदाध्ययन करनेवाला १. अन्तरिक्षाय स्वाहा २. वायवे स्वाहा, सामवेदी १. दिवे स्वाहा २. सूर्याय स्वाहा और अथर्ववेदी १. दिग्भ्यः स्वाहा २. चन्द्रमसे स्वाहा मंत्रों को पढ़कर आज्याहुतियाँ डालने के अनन्तर पूर्ववत् नौ आहुतियां डाले। चतुर्वेदायायी प्रत्येक वेद की दो आहुतियां डालकर 'ब्रह्मणे छन्दोभ्य' ...... से दो आहुतियां डाले, तत्पश्चात् 'प्रजापतये' ... प्रभृति सात मंत्र पढ़कर सात आहुतियां डाले। दो वेद और तीन वेद पढ़नेवाले भी इसी प्रकार से होम करें। तत्पश्चात् महाव्याहृति से स्विष्टकृत् तक १० आहुतियां। संस्रव-प्राशन। दक्षिणा–दान। फिर आठ कुंभों में से प्रत्येक से स्नान। अन्य प्रक्रिया वही, जो कण्डिकाओं में बताई जा चुकी है।

नवमकण्डिका—पञ्चमहायज्ञ

अथातः पञ्चमहायज्ञाः ॥ १ ॥ वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयाद्ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतय इति ॥ २ ॥ भूतगृह्येभ्यो मणिके त्रीन् पर्जन्यायाद्भ्यः पृथिव्यै ॥ ३ ॥ धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः ॥ ४ ॥ प्रतिदिशं वायवे दिशां च ॥ ५ ॥ मध्ये त्रीन्ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय ॥ ६ ॥

विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यस्तेषामुत्तरतः ॥ ७ ॥ उषसे भूतानां च पतये परम् ॥ ८ ॥ पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः ॥ ९ ॥ पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्यां दिशि निनयेद्यक्ष्मै तत्त इति ॥ १० ॥ उद्धृत्याग्रं ब्राह्मणायावनेज्य दद्याद्धन्तत इति ॥ ११ ॥ यथाऽर्हं भिक्षुकानतिथींश्च संभजेरन् ॥ १२ ॥ बालज्येष्ठा गृह्या यथार्हमश्नीयुः ॥ १३ ॥ पश्चाद् गृहपतिः पत्नी च ॥ १४ ॥ पूर्वो वा गृहपतिः । तस्मादु स्वा (दि ? द्वि) ष्टं गृहपतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति श्रुतेः ॥ १५ ॥ अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे केनचिदाकाष्ठाद् देवेभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्चोदपात्रात् ॥ १६ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथातः पञ्च महायज्ञाः) अथ समावर्तनानंतरं कृतविवाहस्य पञ्चमहाज्ञेष्वधिकारः । अतो हेतोः पंचसंख्याका महायज्ञाः महायज्ञशब्दवाच्याः कर्मविशेषाः पंचमहायज्ञा व्याख्यास्यंते इति । तत्र पंचसु ब्रह्मणे स्वाहेत्येवमादिको होमात्मकः पूर्वो देवयज्ञः। ततो मणिके त्रीनित्येवमादिबलिरूपो भूतयज्ञः । ततः पितृभ्यः स्वधा नम इति बलिदानं पितृयज्ञः । हंतकारातिथिपूजादिको मनुष्ययज्ञः । पंचमो ब्रह्मयज्ञः । एते पंच महायज्ञाः अहरहः कर्त्तव्याः स्नातकेन । कथमित्यपेक्षायामाह (वैश्वदेवादन्नात्पर्युक्ष्य स्वाहाकारैर्जुहुयात्) विश्वे देवा देवता अस्येति वैश्वदेवमन्नं तस्मात् के ते देवभूतपितृमनुष्यादयः स्मृतिषु तेभ्यश्च अदत्त्वा भोजननिषेधात् तेभ्यो दत्त्वा गृहपतेः शेषं भुजित्वविधानात् तस्माद्यदन्नमहरहः शालाग्नौ लौकिकेऽग्नौ वा यथाधिकारं पच्यते तद्वैश्वदेवमन्नं तस्मादुद्धृत्य पात्रांतरे कृत्वा पर्युक्ष्य आवसथ्यस्य पर्युक्षणं कृत्वा स्वाहाकारैः सह वक्ष्यमाणैर्जुहुयात् ।

अत्र पर्युक्षणोपदेशः कुशकण्डिकेतिकर्त्तव्यतानिरासार्थः जुहोतिषु स्वाहाकारोपदेशश्च बल्यादिभ्यो निवृत्त्यर्थः । संस्रवव्युदासार्थो वा । बलिदानं तु नमस्कारेण, बलिदाने नमस्कारस्य दर्शितत्वात् (ब्रह्मणे प्रजापतये गृह्याभ्यः कश्यपायानुमतय इति) पंचहोमाः भूतगृह्येभ्यः भूतानि च तानि गृह्याणि च भूतगृह्याणि तेभ्यो भूतगृह्येभ्यः होमानंतरं दद्यादिति शेषः। कथं (मणिके त्रीन् पर्जन्यायादभ्यः पृथिव्यै) मणिके मणिकसमीपे सामीप्यसप्तमीयं त्रीन् बलीन् दद्यादिति शेषः । कथं पर्जन्याय नमः अद्भ्यो नमः पृथिव्यै नम इति (धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः) द्वारशाखयोर्दक्षिणोत्तरयोर्यथाक्रमं धात्रे नमो विधात्रे नम इति द्वौ बली दद्यात् (प्रतिदिशं वायवे दिशां च) प्रतिदिशं दिशं दिशं प्रति वायवे नम इति एकैकं बलिं दद्यात् । दिशां च दिग्भ्यश्च प्रतिदिशं प्राच्यै दिशे नम इत्येवमादि तल्लिंगोल्लेखेनैकैकं बलिं दद्यात् (मध्ये त्रीन् ब्रह्मणेऽन्तरिक्षाय सूर्याय) मध्ये प्रतिदिशं दत्तानां बलीनामंतराले त्रीन् बलीन् दद्यात् कथं ब्रह्मणे नमः अंतरिक्षाय नमः सूर्याय नम इति (विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यश्च भूतेभ्यस्तेषामुत्तरतः) तेषां ब्रह्मादीनां त्रयाणां बलीनामुत्तरतः उत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः विश्वेभ्यो

भूतेभ्यो नम इति द्वौ बली दद्यात् (उषसे भूतानां च पतये परम्) परं तयोरप्युत्तरतः उषसे नमः भूतानां पतये इत्यत्र चकारं मंत्रांतर्गतमाहुः (पितृभ्यः स्वधा नम इति दक्षिणतः) एषामेव ब्रह्मादिबलीनां दक्षिणतः दक्षिणप्रदेशे पितृकर्मत्वात्प्राचीनावीती दक्षिणामुखः पितृभ्यः स्वधा नम इति मंत्रेणैकं बलिं पात्रे अवशिष्टेनान्नेन दद्यात् (पात्रं निर्णिज्योत्तरापरस्यां दिशि निनयेद्यक्ष्मैतत्त इति) उद्धरणपात्रं निर्णिज्य प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं तेषामेव ब्रह्मादिबलीनामुत्तरापरस्यां वायव्यां दिशि निनये उत्सृजे । कथं यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनमिति मन्त्रेण (उद्धृत्याग्रं ब्राह्मणायावनेज्य दद्याद्धन्त त इति) वैश्वदेवादन्नादुद्धृत्य अवदाय अग्रं षोडशग्रासपरिमितग्रासचतुष्टयपर्याप्तं वा अन्नं ब्राह्मणाय विप्राय न क्षत्रियवैश्याभ्यामवनेज्येत्यवनेजनं दत्त्वा हन्त ते इत्यनेन मन्त्रेण दद्यात् । पंच महायज्ञा इति अनेनानुष्ठानस्य वक्तुमुपक्रांतत्वात् तदनुष्ठानं सावसरं वक्तव्यं नोक्तमतो विचार्यंते । ब्रह्मयज्ञस्य स्मृत्यंतरे त्रयः काला उक्ताः । अथाह कात्यायनः "यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः । स चार्वाक्तर्पणात्कार्यः पश्चादाप्रातराहुतेः । वैश्यदेवावसाने वा नान्यत्रेत्यनिमित्तकात्" इति स्नानविधावपि उपविशेद्दर्भेषु दर्भपाणिः स्वाध्यायं च यथाशक्त्यादावारभ्य वेदमिति तेनात्रोपक्रम्यापि ब्रह्मयज्ञविधेः तर्पणात्प्राक् उक्तत्वात् । अत्र तस्याः कथनमदोषः, सः अत्र यदि क्रियते तदा तेनैव विधिना कर्त्तव्यः तत्र चेत्कृतस्तदात्र न कर्त्तव्यः। विकल्पेन हि कालाः स्मर्यन्ते । अतो न समुच्चयः । किंच "न हंतंति न होमं च स्वाध्यायं पितृतर्पणम् । नैकः श्राद्धद्वयं कुर्यात्समानेऽहनि कुत्रचित् ॥" इत्यनेनात्रापि समुच्चयनिषेधात् तस्मात्प्रातर्होमानंतरं वा तर्पणात्पूर्वं वा वैश्वदेवांते सकृद् ब्रह्मयज्ञं कुर्यादिति सिद्धम् ।

एतावद्दर्शिष्यते वैश्वदेवावसाने यदा क्रियते तदा कोऽवसरः चतुर्णामन्त इति चेत् न हंतकारादेर्नृयज्ञस्य रात्रावपि स्मरणात् नास्यानश्नन् गृहे वसेत् इत्यादिना तस्मादनिर्दिष्टकालेपि ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञात्पूर्वं कर्त्तव्यः (यथार्हं भिक्षुकानतिथींश्च संभजेरन्) यथार्हं यो यदर्हति तदनतिक्रम्य यथार्हं तद्यथा भवति तथा भिक्षुकान् परिव्राजकब्रह्मचारिप्रभृतीन् तत्र उपकुर्वाणकब्रह्मचारिणः अक्षारालवणमितरेषां च यथोचितमतिथीन् अध्वनीनाञ्छ्रोत्रियादीन् संभजेरन् भिक्षाभोजनादिदानेन तोषयेरन् गृहमेधिनः (बालज्येष्ठा गृह्या यथार्हमश्नीयुः) बालो ज्येष्ठः प्रथमा येषां गृह्याणां ते बालज्येष्ठाः ते च ते गृह्या गृहे भवाः पुत्रादयः यथार्हं यथायोग्यमश्नीयुः भुंजीरन् (पश्चात् गृहपतिः पत्नी च) । पश्चाद्गृह्येषु पूर्वमाशितेषु सत्सु पश्चाद्गृहपतिः गृहस्वामी पत्नी च तद्भार्या अश्नीयाताम् । (पूर्वो वा गृहपतिः) वा । अथ वा गृहपतिः स्वामी पत्न्याः पूर्वो वा अश्नीयात् । कुतः तस्माद् स्वादिष्ठं गृहपतिः पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति श्रुतेः । तस्मात्स्वात् अन्नात् यत् इष्ट तदन्नं गृहपतिः पत्न्याः पूर्वः अतिथिभ्यः अशितेभ्यः इति श्रुतेः देववचनात् अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे (केनचिदा काष्ठाद्देवेभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्चोदपात्रात्) अहरहः प्रतिदिनं देवेभ्यः अन्नेन स्वाहा कुर्यात् । देवतोद्देशेन अन्नं जुहुयात् । अन्नाभावे केनचित् द्रव्येण काष्ठपर्यंतेनापि पितृभ्यः स्वधा कुर्यादन्नेन

तदभावे केनचिद्द्रव्येणोदपात्रपर्यंतेन)। एवं मनुष्येभ्यो हंतकारमप्यर्थात् एवं पंचमहायज्ञानामहरहर्नित्यत्वेन कर्त्तव्यतावगम्यते इति सूत्रार्थः ।

अथ पद्धतिः । ततः पंचमहायज्ञनिमित्तं मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा वैश्वदेवार्थं पाकं विधाय समुद्धृत्याऽभिघार्य पश्चादग्नेः प्राङ्मुख उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य मणिकोदकेनाग्निं पर्युक्ष्य हस्तेन द्वादशपर्वपूरकमोदनमादाय ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यः कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपाय अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये इति देवयज्ञः ।। इति पंचाहुतीर्हुत्वा मणिकसमीपे प्राक्संस्थमुदक्संस्थं वा हुतशेषेणान्नेन बलित्रयं दद्यात् । तद्यथा पर्जन्याय नमः इदं पर्जन्याय अद्भ्यो नमः इदमद्भ्यः पृथिव्यै नमः इदं पृथिव्यै इति दद्यात् ।

ततो द्वारशाखयोर्दक्षिणोत्तरयोर्यथाक्रमं धात्रे नमः इदं धात्रे विधात्रे नमः इदं विधात्रे इति द्वौ बली दत्त्वा प्रतिदिशं वायवे नमः इत्यनेनैव चतसृषु दिक्षु चतुरो बलीन् दद्यात् इदं वायवे न मम इति त्यागः ।। ४ ।। दिशां च । प्राच्यै दिशे नमः दक्षिणायै दिशे नमः प्रतीच्यै दिशे नमः उदीच्यै दिशे नमः इदं प्राच्यै दिशे इदं प्रतीच्यै दिशे इदमुदीच्यै दिशे इत्यादि दिग्भ्यश्च बलीन् दद्यात् । दत्तानां बलीनामंतराले ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे अंतरिक्षाय नमः इदमंतरिक्षाय सूर्याय नमः इदं सूर्यायेति प्राक्संस्थं बलित्रयं दद्यात् । ततो ब्रह्मादीनां बलित्रयाणामुत्तरप्रदेशे विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्य इति द्वौ बली दद्यात् । तयोरुत्तरतः उषसे नमः इदमुषसे भूतानां च पतये नमः इदं भूतानां च पतये इति द्वौ बली दद्यात् इति भूतयज्ञः ।

ततः ब्रह्मादीनां बलीनां दक्षिणप्रदेशे प्राचीनावीती दक्षिणामुखः पितृभ्यः स्वधा नम इति मंत्रेणैकं बलिं पात्रे अवशिष्टान्नेन दद्यात् इति पितृयज्ञः ।।

तत्पात्रं प्रक्षाल्य निर्णेजनजलं ब्रह्मादिबलीनां वायव्ये निनयेत् यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनमित्यनेन मन्त्रेण इदं यक्ष्मणे । ततः काकादिबलीन् बहिर्दद्यात् तद्यथा "ऐंद्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा । वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिंडं मयार्पितम्" इदं वायसेभ्यः । "द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ । ताभ्यां पिंडं प्रदास्यामि स्यातामेतावहिंसकौ" । इदं श्वभ्याम् ।। "देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसंघाः ।·प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ।" इदं देवादिभ्यः । "पिपीलिकाः कीटपतंगकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबंधबद्धाः । तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु" इदं पिपीलिकादिभ्यः । पादौ प्रक्षाल्याचम्य अतिथिप्राप्तौ पादप्रक्षालनपूर्वकं गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्च्य अन्नं परिवेष्य हंत तेऽन्नमिदं मनुष्यायेति संकल्प्य तमाशयेत् । तदभावे षोडशग्रासपरिमितं चतुर्ग्रासपरिमितं वा अन्नं पात्रे कृत्वा निवीती भूत्वोदङ्मुख उपविष्टो हंत तेऽन्नमिदं मनुष्यायेति संकल्प्य कस्मैचिद् ब्राह्मणाय दद्यात् ।

मनुष्ययज्ञसिद्धये ततो नित्यश्राद्धं कुर्यात् । तद्यथा स्वागतवचनेन षट् ब्राह्मणान्द्वौ वा एकं वाऽभ्यर्च्य पादौ प्रक्षाल्य आचम्य गृहं प्रवेश्य कुशांतर्हितेष्वासनेषूदङ्मुखानुपवेशयेत् । ततः स्वयमाचम्य प्राङ्मुख उपविश्य पुंडरीकाक्षं श्रीवासुदेवं च संस्मृत्य सावित्रीं पठित्वा अद्येत्यादि देशकालौ स्मृत्वा प्राचीनावीती दक्षिणामुखः सव्यं जान्वाच्य अमुकसगोत्राणामस्मत्पितृपितामह-प्रपितामहानाममुकशर्मणां तथा अमुकगोत्राणामस्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा-नाममुकामुकशर्मणां नित्यश्राद्धमहं करिष्ये इति प्रतिज्ञाय नित्यश्राद्धं ततो यथार्हं भिक्षुकादिभ्योन्नं संविभज्य बालज्येष्ठाश्च गृह्या यथायोग्यमश्नीयुः । ततो जायापती अश्नीतः पूर्वो वा गृहपतिः पत्नी ततोऽतिथ्यादीनाशयित्वाश्नीयादिति ।

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरिभाष्ये द्वितीयकाण्डे नवमी कण्डिका ॥ ९ ॥

सरला

१. (समावर्तन के अनन्तर विवाहित व्यक्ति पञ्च महायज्ञ करने का अधि-कारी हो जाता है) इसलिए अब पञ्च महायज्ञों (का विधान किया जा रहा है) । (पञ्च महायज्ञ ये हैं : (१) देवयज्ञ—होमात्मक, (२) भूतयज्ञ–बलिरूप, (३) पितृयज्ञ–बलि-प्रदान, (४) मनुष्य यज्ञ–अतिथि–पूजादि रूप, (५) ब्रह्मयज्ञ) ।

२. सभी देवताओं के (लिए समुपाहृत अन्न-राशि से) अन्न लेकर, (अग्नि का) पर्युक्षण कर, (देवताओं के चतुर्थ्यन्त नाम में) 'स्वाहा' (शब्द जोड़) कर (कहे जा रहे मंत्रों से) ब्रह्मा, प्रजापति, गृह्य, कश्यप और अनुमति की आहुतियाँ डाले । (यह हुआ देवयज्ञ) ।

३. भूतगृह्य–होम करने के अनन्तर जलपात्र के समीप '(१) पृथिव्याय नमः (२) अद्भ्यः नमः (३) पृथिव्यै नमः' पढ़कर तीन आहुतियाँ डाले ।

४–६. (दक्षिण और उत्तरवर्ती) द्वारशाखाओं पर क्रमशः 'धात्रे नमः' और 'विधात्रे नमः' पढ़कर दो बलियाँ दे ।

('प्राच्यै नमः' प्रभृति मंत्र पढ़कर) प्रत्येक दिशा में एक (अर्थात् कुल चार) बलि-प्रदान करे । (प्रत्येक दिशा में दी गई बलि के) मध्य में 'ब्रह्मणे नमः, अन्तरिक्षाय नमः, सूर्याय नमः' (मंत्र पढ़कर इन देवताओं के लिए) तीन बलियाँ दे ।

७. ब्रह्मादि बलियों की उत्तर दिशा में 'विश्वे देवेभ्यो नमः' तथा 'विश्वेभ्यः भूतेभ्यः' पढ़कर दो बलियाँ दे ।

८. इनके उत्तर में 'उषसे नमः' और 'भूतानां पतये नमः' पढ़कर दो बलियाँ दी जायें ।

९. इन बलियों के दक्षिण में 'पितृभ्यः स्वधा नमः' मंत्र पढ़कर एक बलि दीजिए ।

१०. उद्धरणपात्र को प्रक्षालितकर प्रक्षालन-जल को वायवी दिशा में 'यक्ष्मै तरो निर्णेजनं नमः' मंत्र पढ़ते हुए फेंक देना चाहिए ।

११. (वैश्वदेव अन्न से कुछ अंश) उठाकर, (लगभग १६ ग्रास भर या ४ ग्रास भर) 'हन्तत' कहते हुए जल-छिड़ककर ब्राह्मण को दे देना चाहिए।

१२. भिक्षुकों और अतिथियों को यथायोग्य (भिक्षा, भोजन आदि से) सन्तुष्ट करें (जिसे भोजन कराना उचित हो; उसे भोजन कराये और अन्य लोगों को भिक्षा ही दे दी जाये)।

१३. (जिन घरों में वालक हैं उनमें) पहले बालकों को भोजन कराकर (अन्य गृहीजन) पति-पत्नी भी भोजन करें।

१४. अथवा गृह-पति पत्नी से पूर्व भोजन कर ले। क्योंकि श्रुति का कथन है कि उस अन्न से जो इष्ट हैं उसे गृहपति अतिथियों से पहले ग्रहण कर लेता है।

१५. प्रतिदिन देवताओं (को संतुष्ट करने) के लिए हवन करे—अन्न के अभाव में किसी भी द्रव्य से, काष्ठ तक से भी (हवन किया जा सकता है)। नृयज्ञ और पितृयज्ञ भी (प्रतिदिन) जलपात्र से (जल लेकर करना चाहिए)।

पञ्च महायज्ञ—विधि

वैश्वदेवजन्य पाक पकाकर, उससे १२ पोर (पर्व) ओदन (भात) लेकर ब्रह्मणे, ···पांच आहुतियां डाले; जल-पात्र के समीप शेष अन्न से तीन बलियां रख दे, मंत्र पढ़े 'पर्जन्याय नमः, इदं पर्जन्याय···' प्रभृति। तदनन्तर उत्तरी और दक्षिणी द्वारों पर 'धात्रे नमः·······' प्रभृति मंत्र पढ़कर दो बलियां दे, फिर प्रत्येक दिशा में एक के अनुसार कुल चार बलियां दी जायें। मंत्र केवल 'वायवे नमः' ही पढ़ा जाये।

इन्हीं बलियों के मध्य में ब्रह्मा, अन्तरिक्ष और सूर्य को (तीन) बलियां दे। इन बलियों के उत्तर में 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो न मम' तथा 'विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नम इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यो न मम, कहकर दो बलियां दी जायें। इनके उत्तर में 'उषसे नमः इदमुषसे न मम' तथा 'भूतानां पतये नमः इदं भूतानां पतये न मम' कहकर दो बलियां दे—यह हुआ भूतयज्ञ। ब्रह्मादि बलियों के दक्षिण में उधर ही मुख करके अवशिष्ट अन्न से 'पितृभ्यः स्वधा नमः' कहकर एक बलि दे। यह हुआ पितृयज्ञ। पात्र धोकर उस जल को वायवी दिशा में फेंक दे, मंत्र पढ़े—'यक्ष्मै तत्ते निर्णेजनं नमः इदं यक्ष्मणे न मम।' तत्पश्चात् कौवे आदि की बलियां दी जायें, साथ में कहता जाये—

'ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैऋतास्तथा।
वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्पितम्॥

इदं वायसेभ्यः। द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वत कुलोद्भवौ। ताभ्यां पिण्डं प्रदास्यामि स्यामेतावहिंसकौ। इदं श्वभ्याम्॥ देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः। प्रेताः पिशाचास्तरवो समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥ इदं देवादिभ्यः।

पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः। तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥ इदं पिपीलिकादिभ्यः ॥'

शेष कृत्य कण्डिकोक्त विधि से किये जायें।

दशमकण्डिका—उपाकर्म

अथातोऽध्यायोपाकर्म ॥ १ ॥ ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्याᳬ श्रावणस्य पञ्चमीᳬ हस्तेन वा ॥ २ ॥ आज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥ पृथिव्या अग्नय इत्यृग्वेदे ॥ ४ ॥ अन्तरिक्षाय वायव इति यजुर्वेदे ॥ ५ ॥ दिवे सूर्यायेति सामवेदे ॥६॥ दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्यथर्ववेदे ॥७॥ ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति सर्वत्र ॥ ८ ॥ प्रजापतयेदेवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतयेऽनुमतय इति च ॥ ९ ॥ एतदेव व्रतादेशन विसर्गेषु ॥ १० ॥ सदसस्पतिमित्यक्षतधानास्त्रिः ॥ ११ ॥ सर्वेऽनुपठेयुः ॥ १२ ॥ हुत्वाहुत्वौदुम्बर्यस्तिस्रस्तिस्रः समिध आदध्युरार्द्राः सपलाशा घृताक्ताः सावित्र्या ॥१३॥ ब्रह्मचारिणश्च पूर्वकल्पेन ॥ १४ ॥ शन्नोभवन्त्वित्यक्षतधाना अखादन्तः प्राश्नीयुः ॥ १५ ॥ दधिक्राव्ण इति दधि भक्षयेयुः ॥ १६ ॥ स यावन्तं गणमिच्छेत्तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात्सावित्र्या शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा ॥ १७ ॥ प्राशनान्ते प्रत्यङ्मुखेभ्य उपविष्टेभ्य ॐकारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमध्यायादीन्प्रब्रूयात् ॥ १८ ॥ ऋषिमुखानि बह्वृचानाम् ॥ १९ ॥ पर्वाणि छन्दोगानाम् ॥ २० ॥ सूक्तान्यथर्वणानाम् ॥ २१ ॥ सर्वे जपन्ति सहनोऽस्तु सहनोऽवतु सहन इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म। इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामह इति ॥ २२ ॥ त्रिरात्रं नाधीयीरन् ॥ २३ ॥ लोमनखानामनिकृन्तनम् ॥ २४ ॥ एके प्रागुत्सर्गात् ॥ २५ ॥ १० ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथातोध्यायोपाकर्म) अथ पंचमहायज्ञकथनानंतरमध्यायस्य अध्ययनस्य उपाकर्म उपाकरणं व्याख्यास्यते इति शेषः। तच्चाग्निमतोऽध्यापनप्रवृत्तस्यैव भवति छंदांस्युपाकृत्याधीयते इति वचनात्, उपाकरणस्य चावसथ्याग्निसाध्यत्वात् निरग्नेर्नाधिकारः तथा च छन्दोगपरिशिष्टं कात्यायनः "न स्वेग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्। स्वगर्भसंस्कृतार्थाश्च यावन्नासौ प्रजायते।" इति स्वेन आत्मना आहितः आधानसंस्कृतोऽग्निः स्वः तस्मिन्स्वेऽग्नौ अन्यस्य सम्बन्धी संस्कारको होमः अन्यहोमः स न स्यात् न भवेत् किं पर्युदस्य एकां समिदाहुतिं मुक्त्वा वर्जयित्वा। सा च समिदाहुतिः उपाकर्मणि आचार्यस्याग्नौ शिष्यकर्तृका भवति तेनावसथ्याग्नावुपाकर्म भवतीति गम्यते। अतः अध्यापयतोपि निरग्नेः साग्नेरपि अन्यानध्यापयतो नाधिकारः। यत्तु लोके ब्रह्मचारिणं पुरस्कृत्य उपाकर्म प्रवर्त्तते लौकिकाग्नौ तस्याचारं विहाय मूलं न दृश्यते

(ओषधीनां प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावण्यां पौर्णमास्याम्) ओषधीनामपामार्गादीनां प्रादुर्भावे उत्पत्तौ सत्यां श्रवणेन युक्तायां श्रवणश्च पौर्णमास्या एव विशेषणं तत्र तयोः प्रायशः संभवात्। एवं च सति पौर्णमास्या एव प्राधान्यं तस्माद् विशेषणाभावेपि पौर्णमास्यां भवति (श्रावणस्य पंचमीं हस्तेन वा)। ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः। श्रावणमासस्य पंचमीं हस्तेन युक्तां वा प्राप्य भवति, तत्रापि प्रायेण हस्तो भवति, अतः श्रावणी पूर्णिमा श्रावणपंचमी वा विशिष्टा अविशिष्टा वा उपाकर्मणः कालः। अन्ये तु कालचतुष्टयमाहुः। अथ श्रवणेन वा श्रावण्यां पौर्णमास्यां वा श्रावणस्य पंचमी वा हस्तेन वेति। ओषधिप्रादुर्भावस्तु सर्वत्रापेक्षितः ओषधिप्रादुर्भावे सति श्रवणेन इत्यादि (आज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोति 'पृथिव्या अग्नय इत्यृग्वेदेन्तरिक्षाय वायव इति यजुर्वेदे दिवे सूर्यायेति सामवेदे दिग्भ्यश्चन्द्रमस इत्यथर्ववेदे ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति सर्वत्र प्रजापतये देवेभ्य ऋषिभ्यः श्रद्धायै मेधायै सदसस्पतयेऽनुमतये इति च) आज्यभागाविष्ट्वा आज्यभागहोमानन्तरमाज्याहुतीर्जुहोति। तत्र ऋग्वेदे अधीयमाने पृथिव्यै अग्नय इति द्वे आहुती जुहोति, यजुर्वेद अधीयमाने अन्तरिक्षाय वायव इति द्वे, सामवेदे अधीयमाने दिवे सूर्यायेति द्वे, अथर्ववेदे अधीयमाने दिग्भ्यश्चन्द्रमस इति द्वे, ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति द्वे आहुती। सर्वत्र प्रतिवेदमावर्तयेत्। सर्वेषु वेदेषु अधीयमानेषु एकतमे वा तथा प्रजापतय इत्यादिकाश्च सप्त, चशब्दात् सर्वत्र एवमेकैकशो वेदाध्यापनोपाकरणपक्षे यदा पुनश्चतुर्णामपि वेदानां तन्त्रेणोपाकरणकर्म तदा ब्रह्मणे छन्दोभ्यश्चेति प्रतिवेदाहुतिद्वयमावर्त्तते प्रजापतये देवेभ्यः इत्याद्यास्तन्त्रेणैव योगविभागसामर्थ्यात्॥ (एतदेव व्रतादेशनविसर्गेषु)। एतद् उपाकर्मणि विहितं पृथिव्या इत्यादि अनुमतय इत्यन्तं होमकर्म व्रतादेशनं वेदारंभः विसर्गः समावर्त्तनं व्रतादेशनानि च विसर्गश्च व्रतादेशनविसर्गास्तेषु भवंति सदसस्पतिमित्यक्षतधानास्त्रिः (सर्वेऽनुपठेयुर्हुत्वा हुत्वौदुंबर्यस्तिस्रस्तिस्रः समिध आदध्युरार्द्राः सपलाशा घृताक्ताः सावित्र्या) सदसस्पतिमित्यनेन मन्त्रेण अक्षताश्च धानाश्च ताः अक्षतधानाः ताः आचार्यो जुहोति त्रिस्त्रिवारं सर्वे च शिष्याः एतं मन्त्रमनु सह पठेयुः। तथा हुत्वा हुत्वा औदुंबर्यः उदुंबरवृक्षोद्भवास्तिस्रस्तिस्र आर्द्राः सरसाः सपलाशाः पत्रसहिताः घृताक्ताः आज्यलिप्ताः समिधः सर्वे आचार्यप्रमुखाः शिष्याः आदध्युः। अग्नौ सावित्र्या प्रसिद्धया प्रक्षिपेयुः भेदेन न तु युगपत् (ब्रह्मचारिणश्च पूर्वकल्पेन)। तत्र ये ब्रह्मचारिणः शिष्याः ते पूर्वकल्पेन समिदाधानोक्तमन्त्रेण आदध्युः। अत्र तिस्रस्तिस्र इति वीप्सा न समिद्विषया किन्तु आधातृपुरुषविषया तेन प्रत्याहुतिमेकैकामादध्युः (शन्नो भवन्त्वित्यक्षतधाना अखादन्तः प्राश्नीयुः) शन्नो भवन्तु वाजिनः इत्यनयर्चा अक्षतधाना अखादन्तः दन्तैरनवखण्डयन्तः प्राश्नीयुः (दधिक्राव्णो इति दधि भक्षयेयुः) दधिक्राव्णो अकारिषमित्यृचा दधि भक्षयेयुः (स यावन्तं गणमिच्छेत्तावतस्तिलानाकर्षफलकेन जुहुयात् सावित्र्या शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन वा)। स आचार्यो यावंतं यावत्संख्याकं शिष्याणां गणं समूहमिच्छेत् तावत्संख्याकान् तिलान् आकर्षफलकेन औदुंबर्येण बाहुमात्रेण सूर्याकृतिना सावित्र्या

सवितृदेवतया गायत्रच्छन्दस्कया प्रसिद्धया जुहुयात् यद्वा शुक्रज्योतिरित्यनुवाकेन जुहुयात् । गुणफलमेतत् । अतो धानाभ्यः स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिनवाहुतीर्हुत्वा (प्राशनांते प्रत्यङ्मुखेभ्य उपविष्टेभ्य ॐकारमुक्त्वा त्रिश्च सावित्रीमध्यायादीन्प्रब्रूया-दृषिमुखानि बह्वृचानां पर्वाणि छन्दोगानां सूक्तान्यथर्वणाम्) संस्रवप्राशनानंतरं प्रत्यङ्मुखेभ्यः आसीनेभ्यः शिष्येभ्यः सामर्थ्यात्स्वयं प्राङ्मुख उपविष्ट ॐकारं प्रणव-मुक्त्वा उच्चार्य तत्सवितुरित्यादिकं च सावित्रीं त्रिरुक्त्वा मंत्रब्राह्मणयोः अध्ययना-मादीन्प्रब्रूयादध्यापयेत् इति यजुर्वेदोपाकरणे । ऋग्वेदोपाकरणे तु बह्वृचानां शिष्याणाम् ऋषिमुखानि मंडलादीन्ब्रूयात् । छंदोगानां सामगानां शिष्याणां सामोपा-करणे पर्वाणि पर्वनामादीन्प्रब्रूयात् । आथर्वणानां शिष्याणामथर्ववेदोपाकरणे सूक्तानि सूक्तादीन्प्रब्रूयात् (सर्वे जपंति सह नोस्तु सह नोवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामह इति) सर्वे आचार्याः शिष्याश्च सह नोस्त्वित्यमुं मंत्रं जपंति त्रिरात्रं नाधीयीरन् लोमनखानामनिकृन्तनमेके प्रागुत्सर्गात् उपाकर्मानंतरम् त्रिरात्रं नाधीयीरन्) अध्ययनं न कुर्युः त्रिरात्रमेव लोम्नां नखानां च अनिकृन्तनमच्छे-दनमेके आचार्याः (लोमनखानामकृन्तनं प्रागुत्सर्गात्) उत्सर्गकर्मतः अर्वाक् इच्छन्ति । उत्सर्गश्च अर्द्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुरित्येवं वक्ष्यमाण इति सूत्रार्थः ।

अथ पद्धतिः । श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्रवणयुक्तायां श्रवणरहितायां श्रावणस्य शुक्लपंचम्यां हस्तयुक्तायामयुक्तायां वा उपाकर्म अध्यायोपाकर्म भवति । तच्च अध्यापनं कुर्वन् एव औपासनिकस्य न त्वन्यस्य । तत्र प्रथमप्रयोगे विहितमातृपूजापूर्वकं श्राद्ध-माचार्यः आवसथ्याग्नौ प्रवेशनाद्याज्यभागांते विशेषमनुतिष्ठेत् । तंडुलस्थाने अक्षतधाना आसादयेत् प्रोक्षणकाले प्रोक्षेच्च । तथोपकल्पयति । औदुंबरीः समिधः दधि आकर्ष-फलकं तिलान् भक्षार्थं धानाः तत आज्यभागांते वेदाहुत्यादीननुमत्यंतानां वेदारंभवद्धोमं विदध्यात् । एकदा सर्ववेदोपाकरणे प्रतिवेदमाज्याहुतिद्वयं द्वयं हुत्वा हुत्वा ब्रह्मणे छंदोभ्य इत्याहुतिद्वयं पुनःपुनर्जुहुयात् । प्राजापत्याद्या अनुमत्यंताः सप्ताहुतीस्तंत्रेण अथ सदसस्पतिमित्यनयर्चा स्रुवेण आसादिताभिरक्षतधानाभिरेकामाहुतिम् आचार्यो जुहोति इदं सदसस्पतये शिष्या अपि मन्त्रं गुरुमनुमन्त्रम् उपांशु पठंति । तत आचार्यः शिष्याश्च सर्वे औदुंबरीमार्द्रां सपलाशां घृताक्ताम् एकैकां समिधं तत्सवितुरित्यादिकया सावित्र्या अग्नावादध्युः । ब्रह्मचारिणश्च शिष्याः अग्निकार्यमंत्रेण तथैव समिधम् आदध्युः एवं द्विपरं धानाहोमं विधाय एकैकां समिधमादध्युः । तत आचार्यः शिष्याश्च उपकल्पितधानाभ्यस्तिस्रोऽक्षतधाना अनवखण्डयन्तो भक्षयेयुः शन्नो भवन्तु वाजिन इत्यनयर्चा । तत आचम्य ततो दधिक्राव्णो अकारिषमित्येतयर्चा दधि भक्षयेयुः । तत आचमनानन्तरम् आचार्यो यावंतं शिष्यगणं कामयेत् तावतस्तिलानाकर्षफलकेनादाय सावित्र्या जुहुयात् इदं सवित्रे शुक्रज्योतिरित्यनेनानुवाकेन वा तिलान् जुहुयात् तत्रेदं मरुद्भ्य इति त्यागः । ततो हुतशेषधानाभ्यः स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजा-

पत्यांता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानं यथोक्तं कुर्यात्। ततः प्रत्यङ्-मुखोपविष्टेभ्यः शिष्येभ्यः प्राङ्मुख आचार्यं उपविष्टम् ओंकारमुक्त्वा त्रिवारं च सावित्रीमुक्त्वा इषे त्वा कृष्णोसीत्येवं मन्त्रस्य अध्यायनामादीन्प्रतीकान्ब्रूयात्। तथा च व्रतमुपैष्यन्स वै कपालान्येवान्यतर उपदधातीत्येवं च ब्राह्मणस्य ऋग्वेदानां मंडलादीन् छन्दोगानां पर्वादीन् आथर्वणानां सूक्तादीन्। ततः सर्वे आचार्याः शिष्याश्च जपंति सह नोस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यंवदस्तु ब्रह्म इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे इति अमुं मन्त्रं तदनन्तरं त्रिरात्रमनध्यायं कुर्युः। यतः "अनध्यायेष्वध्ययने प्रज्ञामायुः प्रजां श्रियम्। ब्रह्म वीर्यं बलं तेजो निकृन्तति यमः स्वयम्॥ मन्त्रवीर्यक्षयभयादिन्द्रो वज्रेण हंति च। ब्रह्मराक्षसतां चैति नरकं च भवेद् ध्रुवम्॥" लोमनखानां च निकृन्तनं न कुर्युः। त्रिरात्रमेव प्रागुत्सर्गाद्वा लोमनखानां च निकृन्तनं वर्जयेयुः। अतः मन्त्रब्राह्मणयोः शुक्लकृष्णपक्षे उत्सर्जनं यावत् निरंतरं मन्त्रं ब्राह्मणं च अधीयीरन् आचार्येणाध्याप्यमानाः शिष्याः॥ इत्युपाकर्म॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे दशमकण्डिका॥ १०॥

सरला

१. (पञ्चमहायज्ञ कहे जा चुके) इसलिए अब (आचार्य) अध्ययन (से सम्बद्ध) उपाकर्म (उपाकरण) (का विधान कर रहे हैं)।

२. (अपामार्ग इत्यादि) ओषधियों के उत्पन्न होने पर श्रवण नक्षत्र-युक्त श्रावण पञ्चदशी अथवा हस्त नक्षत्र युक्त श्रावण मास की पञ्चमी (को इस कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए)।

३. अग्नि और सोमजन्य आहुतियाँ डालकर (अन्य) घृताहुतियाँ डाली जायें।

४. ऋग्वेद (यदि पठनीय) हो, (तो) पृथिवी और अग्नि की (आहुतियाँ दी जायें)।

५. यजुर्वेद (के पठनीय होने) पर अन्तरिक्ष और वायु को।

६–७. सामवेद (के पठनीय होने) पर दिव और सूर्य (तथा) अथर्ववेद (के पठनीय होने) पर दिशाओं और चन्द्रमा को (आहुतियाँ प्रदान की जायें)।

८–९. ब्रह्मा और छन्द जन्य आहुतियाँ सर्वत्र (प्रत्येक वेद के सन्दर्भ में) डाली जायें।

(इसी प्रकार से) प्रजापति, देवगण, ऋषि-समुदाय, श्रद्धा, मेधा, सदसस्पति तथा अनुमति जन्य (७ आहुतियाँ भी सर्वत्र डाली जायें)।

१०. (उपाकर्म में विहित) यह (पृथिवी से अनुमति तक होम-कर्म) वेदारम्भ और समावर्तन में (भी होता है)।

११. 'सदसस्पतिम्' मंत्र पढ़ते हुए (आचार्य) तीन बार अक्षत धानों से (हवन करे)।

१२. सभी (शिष्य इस मंत्र को) दुहरायें ।

१३. एक-एक आहुति डालकर, गूलर की तीन तीन गीले पत्तोंवाली तथा घी चुपड़ी हुई समिधाओं का, आचार्य की प्रमुखता में सभी शिष्य अग्नि में 'तत्सवितु ...' सावित्री मंत्र पढ़ते हुए आधान करें ।

१४. ब्रह्मचारी शिष्य पूर्वोक्त मंत्र पढ़कर समिधाधान करें ।

१५. (आचार्य सहित सभी शिष्य) 'शन्नो भवन्तु वाजिन ...' ऋचा को पढ़कर अक्षतधानों को बिना दांतों से चबाते हुए खायें !

१६. 'दधिक्राव्णो अकारिषम् ...' ऋचा को पढ़ते हुए दधि भक्षण करें ।

१७ आचार्य (संख्या में) जितने शिष्य चाहे, उतने तिलों का हवन गायत्री छन्द में निबद्ध सावित्री मंत्र या 'शुक्र ज्योतिः ....' अनुवाक को पढ़कर (गूलर के) तने हुए (हाथ भर के सर्पाकृति) फलक से करे ।

१८. संस्रव-प्राशन के अनन्तर (आचार्य पूर्वाभिमुख बैठकर) पश्चिम ओर मुख करके बैठे हुए शिष्यों को, प्रणव मंत्र (ॐ) का उच्चारण करते हुए तीन बार सावित्री-मंत्र का उच्चारण कर (यजुर्वेद के उपाकर्म में मंत्र-ब्राह्मणात्मक) अध्यायों का प्रारम्भिक अंश पढ़ाये ।

१९. ऋग्वेद के उपाकरण में मण्डलों का प्रारम्भिक अंश पढ़ाया जाये ।

२०. सामवेद के उपाकर्म में पर्व (और)

२१. अथर्ववेद के उपाकरण में (शिष्यों को) सूक्तादि (पढ़ाये जायें ।)

२२. (आचार्य सहित) सभी (शिष्य) 'सहनोऽस्तु' मंत्र का जप करें ।

२३. (उपाकर्म के अनन्तर) तीन दिन तक अध्ययन न किया जाये ।

२४. तीन दिन तक रोम और नाखून भी न काटे जायें ।

२५. कुछ (आचार्यों का मत है कि) रोम और नाखून समावर्तन से पहले न काटे जायें ।

टिप्पणी—१. हरिहर ने पद्धति दी है किन्तु उसमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं है ।

२. हेमाद्रि के एक वचन के अनुसार उपाकर्म के दिन अपराह्न वेला में रक्षा-बन्धन भी होना चाहिए—

'ततोऽपराह्णसमये रक्षापोटलिकां शुभाम् ।
कारयेदक्षतैः शस्तैः सिद्धार्थैर्हेमभूषितैः ॥'

गदाधर के मत से भद्रा नक्षत्र में कदापि रक्षा न बांधनी चाहिए अन्यथा वह देश के सम्राट् का ही नाश करती है । रक्षा-बन्धन के समय पठनीय मंत्र—

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ।
तेन त्वामपि प्रतिबध्नामि रक्षे ! मा चल, मा चल ॥'

रक्षा-बन्धन में सभी को भाग लेना चाहिए—

'ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरन्यैश्च मानवैः ।
कर्त्तव्यो रक्षिकाचारो द्विजान्संपूज्य शक्तितः ॥'

३. 'मनुस्मृति' में 'उपाकर्म' के सन्दर्भ में कहा गया है—

'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥'

इससे ज्ञात होता है कि साग्नि व्यक्ति को ही पढ़ाना चाहिए क्योंकि निरग्नि व्यक्ति अग्निसाध्य कर्म नहीं कर सकता । कर्क आदि आचार्यों का भी यही मत है किन्तु गर्ग के कथनानुसार लौकिक अग्नि में निरग्नि व्यक्ति का भी उपाकर्म हो सकता है । हरिहर और जयराम के मतानुसार उत्कृष्ट (समावर्तन-निवृत्त) व्यक्ति का ही उपाकर्म होगा किन्तु अन्य लोगों का विचार है कि उपाकर्म समावर्तन के छह मास पहले ही हो जायेगा ।

४. गदाधर ने अपने भाष्य में उपाकर्म की तिथि के सन्दर्भ में मतान्तरों को उद्धृत किया है—वे वहीं द्रष्टव्य हैं ।

मंत्रार्थ

१. सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म । इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे ॥

प्रजापति, यजुष्, वेद ।

यह वेद हम सबके अन्दर सुप्रतिष्ठित होकर सामूहिक रूप से हमारी रक्षा करे—यह अधीत वेद हमारे मानस में सबल रहे, क्षीण न हो । (अन्तर्यामी) इन्द्र जानते हैं कि वेद-ज्ञान के कारण हम किसी से द्वेष नहीं करते ।

एकादशकण्डिका—अनध्याय

वातेऽमावास्यायाᳬ सर्वानध्यायः ॥ १ ॥ आद्धाशने चोल्कावस्फूर्जद्-भूमिचलनाग्न्युत्पातेष्वृतुसन्धिषु चाकालम् ॥ २ ॥ उत्सृष्टेष्वभ्रदर्शने सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रिसन्ध्यं वा ॥ ३ ॥ भुक्त्वाऽऽर्द्रपाणिरुदके निशायाᳬ संधिवेलयोरन्तः शवे ग्रामेऽन्तर्दिवाकीर्त्ये ॥ ४ ॥ धावतोऽभिशस्तपतितदर्शनाश्चर्या-भ्युदयेषु च तत्कालम् ॥ ५ ॥ नीहारे वादित्रशब्द आर्तस्वने ग्रामान्ते श्मशाने श्वगर्दभोलूकशृगालसामशब्देषु शिष्टाचरिते च तत्कालम् ॥ ६ ॥ गुरौ प्रेतेऽपोऽभ्यवेयाद्दशरात्रं चोपरमेत् ॥ ७ ॥ सतानूनप्त्रिणि सब्रह्मचारिणि च त्रिरात्रम् ॥ ८ ॥ एकरात्रमसब्रह्मचारिणि ॥ ९ ॥ अर्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुः ॥ १० ॥ अर्धसप्तमान्वा ॥ ११ ॥ अथेमामृचं जपन्ति उभाकवी युवा यो नो धर्मः

परापतत् । परिसख्यस्य धर्मिणो विसख्यानि विसृजामह इति ॥ १२ ॥ त्रिरात्रं सहोष्य विप्रतिष्ठेरन् ॥ १३ ॥ ११ ॥

हरिहरभाष्यम्

(वातेऽमावास्यायां सर्वानध्यायः) वाते वायौ प्रचण्डे वाति सति वातमात्रस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् नानध्यायनिमित्तता अमावास्यायां दर्शे च सर्वानिध्यायः सर्वेषु वेदेषु वेदांगेषु अनध्ययनमध्ययननिवृत्तिः सर्वानिध्यायः मतांतरे यद्गुरुमुखाच्छिष्यते शिल्पश्रमादि तत्राप्यनध्यायः । यतः शिल्पिनः स्थपत्यादयः श्रमिणो मल्लादयः अनध्यायं मन्यंतो दृश्यंते अतो यत्किंचिदुपाध्यायतः अधीयते श्रूयते वा शिष्यते वा तत्र सर्वत्रानध्यायः । स चानध्यायः गुरोः सकाशात् अनधीताध्ययने अध्यापकधर्मप्रकरणात् न गुणनेपि । केचित्तु सर्वशब्दस्य गुणनादिविषयतां मन्यंते । तन्मतेनाऽपूर्वाध्ययनं नाधीतस्याभ्यसनमिति (श्राद्धाशने चोल्कावस्फूर्जद्भूमिचलनाग्न्युत्पातेष्वृतुसंधिषु चाकालं) न केवलममावास्यायाम्, अपि तु श्राद्धाशने च श्राद्धान्नस्य भोजने अशने भक्षणे उल्का ज्वालाकृतिः पतंती तारका अवस्फूर्जंती विद्योतमाना विद्युत् भूमिः पृथिवी तस्याश्चलनं कंपः भूमिचलनम् अग्निः प्रसिद्धः उल्का च अवस्फूर्जश्च भूमिचलनं च अग्निश्च उल्कास्फूर्जद्भूमिचलनाग्नयः तेषाम् उत्पातः उत्पतनं तस्मिन् ऋतुसंधिषु ऋतूनां संधयः अंतरालानि ऋतुसंधयः तेषु च सर्वानिध्याय इत्यनुवर्तते किं यावत् आकालं यस्मिन् काले यस्य निमित्तस्य उल्कादेरापतनम् अपरदिने तावत्कालपर्यन्तम् आकालम् । केचित्तु श्राद्धाशने यावत्तदन्नं न जीर्यंति तावदध्यायमाहुः । ऋतुसंधिशब्देन एकस्य ऋतोः अंते अपरस्य यावदप्रवृत्तिः स काल उच्यते तत्रापि कालिकता नोपपद्यते । ततश्च पूर्वस्यर्त्तोः अंत्या रात्रिः उत्तरस्य आद्यमहः तावाननध्यायः (उत्सृष्टेष्वभ्रदर्शने सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रिसंध्यं वा) उत्सृष्टेषु छन्दःसु वक्ष्यमाणेन विधिना छन्दसामुत्सर्गे कृते अनध्यायाः अभ्रस्य अतिशयितस्य मेघस्य दर्शने आविर्भावे विद्युदभ्रवायुवृष्टिगर्जितानां युगपत्प्रवृत्तिः सर्वरूपं तस्मिन् सर्वरूपे च त्रिरात्रं त्रीण्यहोरात्राणि वा त्रिसंध्यं संध्यात्रयम् अनध्याया इति चकारेणानुगृह्यते अन्येषां पक्षे अभ्रदर्शने त्रिसंध्यं सर्वरूपे त्रिरात्रमिति व्यवस्थितो विकल्पः । (मुक्त्वार्द्रपाणिरुदके निशायां संधिवेलयोः) मुक्त्वाऽशित्वा यावदार्द्रपाणिस्तावदनध्याय इत्यनुषंगः । उदके यावत्तिष्ठति तावत् निशायां महानिशायां "महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम्" इति स्मरणात्" "रात्रेः पूर्वोत्तरौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्" इति वचनेन रात्रेः पूर्वचतुर्थयामयोः वेदाभ्यासविधानाद् द्वितीयतृतीयप्रहरयोः परिशेषादध्याय इत्यर्थात् महानिशा लभ्यते संधिवेलयोः अहोरात्रयोः संधिवेलयोः संध्याकालयोरित्यर्थः । (अन्तःशवे ग्रामे) अन्तर्मध्ये शवः मृतशरीरं यस्य सः तस्मिन्ग्रामे तावदनध्यायः (अन्तर्दिवाकीर्त्ये) दिवा अह्नि कीर्त्यं पठनीयं यत्प्रवर्ग्यादि तद्दिवाकीर्त्यं तस्मिन् विषये अन्तः ग्राममध्ये अनध्यायः पक्षांतरे तु संनिहितो दिवाकीर्तिश्चण्डालो यत्र सोंतर्दिवाकीर्त्यो देशः तत्रानध्यायः (धावतोभिशस्तपतित-

दर्शनाश्चर्याभ्युदयेषु च तत्कालं) धावतः शीघ्रं गच्छतः अभिशस्तः ब्रह्महत्यादिपापेनाभियुक्तः पतितः ब्रह्महत्यादिना पापेन अभिशस्तश्च पतितश्च अभिशस्तपतितौ तयोर्दर्शनम् आश्चर्यमद्भुतम्। अभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादि, एतेषु धावनादिनिमित्तेषु तत्कालं यावन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः (नीहारे वादित्रशब्द आर्त्तस्वने ग्रामांते श्मशाने श्वगर्दभोलूकशृगालसामशब्देषु शिष्टाचरिते च तत्कालं) नीहारे धूमिकायां वादित्राणां मृदंगादीनां शब्दे आर्त्तस्य सुदुःखितस्य स्वने शब्दे ग्रामस्यांते सीम्नि श्मशाने प्रेतभूतौ श्वा च गर्दभश्च उलूकश्च शृगालश्च साम च श्वगर्दभोलूकशृगालसामानि तेषां शब्दे श्रूयमाणे शिष्टाचरिते वा शिष्टस्य श्रोत्रियस्य आचरिते आगमने तत्कालं यावत्तन्निमित्तं तावत्कालमनध्यायः (गुरौ प्रेतेऽपोऽभ्यवेयाद्दशरात्रं चोपरमेत्) गुरौ आचार्ये प्रेते मृते अपो जलम् अभ्यवेयात् प्रविशेत् स्नानपूर्वमुदकदानाय दशरात्रं दशाहानि अध्ययनादुपरमेत् ॥ (सतानूनप्त्रिणि सब्रह्मचारिणि च त्रिरात्रं) तानूनप्त्रं नाम सोमयागे ऋत्विजां दीक्षितस्य च आज्याभिमर्शनलक्षणं कर्म समानं तानूनप्त्रं येनास्ति इति स तानूनप्त्री तस्मिन् सतानूनप्त्रिणि प्रेते समाने तुल्ये ब्रह्मणि वेदे चरति स सब्रह्मचारी तस्मिन् सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि समानाचार्ये प्रेते त्रिरात्रमनध्यायः। (एकरात्रमसब्रह्मचारिणि) न सब्रह्मचारी असब्रह्मचारी तस्मिन् असब्रह्मचारिणि भिन्नाचार्ये सहाध्यायिनि प्रेते एकरात्रमनध्यायः। (अर्द्धषष्ठान्मासानधीत्योत्सृजेयुः अर्द्धः षष्ठो मासो येषां मासानां ते अर्द्धषष्ठाः तान् अधीत्य पठित्वा उत्सृजेयुः पूर्वं श्रावण्यादौ उपाकृतानि छन्दांसि (अर्द्धसप्तमासान्वा) अर्द्धः सप्तमो येषां ते अर्द्धसप्तमासास्तान्मासान्वा अधीत्य उत्सृजेयुरिति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः। अत्र छन्दसामुत्सर्गोपदेशात् अंगाध्ययनमनुज्ञायते। अथेमामृचं जपंति उभा कवी युवा इति आचार्येण सह शिष्या उभा कवी युवा इतीमामृचं जपन्ति उभा कवी युवा यो नो धर्मः परापतत् परिसख्यस्य धर्मिणो विसख्यानि सृजामहे इति इमामृचं जपंति (त्रिरात्रं सहोष्य विप्रतिष्ठेरन्) त्रिरात्रं सह एकत्र उषित्वा विप्रतिष्ठेरन् विप्रवासं कुर्युः विशेषेण प्रवासं कुर्युरिति सूत्रार्थः।

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे एकादशकण्डिका ॥ ११ ॥

सरला

१. प्रचण्ड वायु चलने पर तथा अमावास्या के दिन पूर्ण अनध्याय (रहेगा)।

२. श्राद्धान्न का भोजन करने पर, उल्कापात और बिजली चमकने पर, भूकम्प के समय, ऋतुओं के संधिकाल में और अग्निजन्य विघ्नों में अनध्याय (रहना चाहिए)।

३. वेदोत्सर्ग-काल में, मेघ घिरने पर, एक ही साथ बिजली, बादल, हवा, बरसात और गड़गड़ाहट होने पर तीन दिन तक अथवा (कुछ आचार्यों के मत से) तीन सांध्य-वेलाओं में (अध्ययन स्थगित कर देना चाहिए)।

४. भोजनानन्तर आचमन कर जब तक हाथ न सूख जायें तब तक, पानी में रहने पर, रात्रि (के मध्यस्थ—दूसरे-तीसरे प्रहरों) में, सांध्य-वेलाओं में, गाँव में मृतक-शरीर रहने पर और चाण्डालयुक्त स्थान पर (अध्ययन निषिद्ध है) ।

'अन्तर्दिवाकीर्त्ये' का दूसरा अर्थ यह है कि जहां दिन में पठनीय प्रवर्ग्यादि हो रहे हों, वहां भी अनध्याय रहेगा) ।

५. दौड़ते हुए, पापी और अपराधी के दिख जाने पर, (जादू आदि) विस्मयावह अवसरों पर, अभ्युदय (पुत्र-जन्म, विवाह आदि में) में तत्काल (अनध्याय रहेगा) ।

६. कुहरा घिरने पर, (मृदङ्ग आदि वाद्य) बजने के समय, दुःखी व्यक्ति के क्रन्दन करते समय, गांव की सीमा और श्मशान में उल्लू, सियार और साम की आवाज सुनाई देने पर और शिष्टजनों के आगमन के समय में भी तात्कालिक (अनध्याय रह सकता है) ।

७. आचार्य की मृत्यु हो जाने पर स्नान करके जलदान करे और दस दिन तक (अध्ययन स्थगित कर) शोक मनाये ।

८. तानूनप्त्र तथा सहपाठी ब्रह्मचारी की मृत्यु हो जाने पर तीन दिन तक (अध्ययन करना वर्जित है) ।

(तानूनप्त्र = सोमयाग में दीक्षित या ऋत्विजों के आज्यालम्भन को साथ ही स्पर्श करनेवाला) ।

९. अन्य गुरु के पास पढ़नेवाले ब्रह्मचारी की मृत्यु हो जाने पर एक दिन तक (अनध्याय रखना चाहिए) ।

१०. आधे सावन तक अर्थात् साढ़े पांच मास अध्ययन कर वेदोत्सर्ग किया जाये ।

११. अथवा साढ़े छह मास अध्ययन कर वेदोत्सर्ग किया जाये ।

१२. (आचार्य के साथ शिष्य) 'उभा कवी....' ऋचा को जपें ।

१३. तीन दिन-रात एक साथ रहकर विशेष रूप से प्रवास करें ।

टिप्पणी—१. निशायाम् । कर्क—'निशाशब्देन अर्धरात्रमुच्यते ।'—'महानिशा च विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम् ।'

२. सर्वं । गुरु-मुख से पठनीय सभी विषयों का अनध्याय-कर्क । कुछ आचार्यों के अनुसार न केवल नवीन विषयों का अध्ययन प्रत्युत अधीत विषयों का अभ्यास भी स्थगित रहेगा ।

३. भाष्यकारों ने 'शिष्ट' पद का अर्थ 'श्रोत्रिय' किया है जो पर्याप्त प्रतीत नहीं होता । हमारे विचार से इसके अन्तर्गत सभी श्रेष्ठ पुरुषों का अन्तर्भाव हो जाता है ।

मंत्रार्थ

१. उभा कवी युवा यो नो धर्मः परापतत् । परिसख्यस्य धर्मिणो विसख्यानि विसृजामहे ।

परमेष्ठी, अनुष्टुप्, अश्विन ।

हे अश्विनीकुमारों ! तुम दोनों क्रान्तद्रष्टा और तरुण हो । तुम्हारे द्वारा सम्पादित धर्म हमारे मैत्रीभाव की रक्षा करें । हम पारस्परिक मित्रता के धर्म में बँधकर विद्वेष करना छोड़ दें ।

द्वादशकण्डिका—उत्सर्ग

पौषस्य रोहिण्यां मध्यमायां वाऽष्टकायामध्यायानुत्सृजेरन् ॥ १ ॥ उदकान्तं गत्वाऽद्भिर्देवाँश्छन्दाᳬंसि वेदानृषीन्पुराणाचार्यान् गन्धर्वानितराचार्यान्संवत्सरं च सावयवं पितॄनाचार्यान्स्वाँश्च तर्पयेयुः ॥ २ ॥ सावित्रीं चतुरनुद्रुत्य विरताः स्म इति प्रब्रूयुः ॥ ३ ॥ क्षपणं प्रवचनं च पूर्ववत् ॥ ४ ॥

हरिहरभाष्यम्

(पौषस्य रोहिण्यां मध्यमायां वाष्टकायामध्यायानुत्सृजेरन्) पौषमासस्य रोहिणीनक्षत्रे मध्यमायामष्टकायां पौष्याम् ऊर्ध्वाष्टकायाम् अष्टम्यां वा अध्यायान्स्वाध्यायानुत्सृजेरन् पूर्वमुपाकृतान् । पुनरुपाकरणं यावन्नाधीयीरन्नित्यर्थः (उदकांतं गत्वाऽद्भिर्देवान् छन्दांसि वेदानृषीन्पुराणाऽऽचार्यान्गंधर्वानितराचार्यान्संवत्सरं सावयवं पितॄनाचार्यान्स्वांस्तर्पयेयुः) कथमुत्सृजेरन्नित्यपेक्षायामुच्यते उदकांतं नद्यामुदकसमीपं गत्वा उदकसमीपगमनात् स्नानं लक्ष्यते । ननु 'पक्षद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥'' इति छंदोगपरिशिष्टे नदीस्नानस्य निषेधात् कथं नद्यामुच्यते ? सत्यम् ''उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च । चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते'' इत्यपवादवचनात् न दोषः । ततो यथाविधि स्नात्वा माध्याह्निकं कर्म देवा गातु विद इत्येतत्प्राक् निवर्त्य सप्तर्षिपूजावंशानुपठनानंतरं देवास्तृप्यंतां छन्दांसि तृप्यंतामित्येवम् आचार्यान्तान् यज्ञोपवीतिनस्तर्पयेयुः आचार्यसहिताः शिष्याः । ततः प्राचीनावीतिनो दक्षिणामुखा नामगोत्रोच्चारणपूर्वकं स्वांश्च पितृपितामहप्रपितामहान् तर्पयेयुः । अनंतरं स्नानवस्त्रं निष्पीड्याचम्य देवा गातु विद इत्यनयर्चा समापयेयुः (सावित्रीं चतुरनुद्रुत्य विरताः स्म इति प्रतिप्रब्रूयुः) । ततः सावित्रीं तत्सवितुरित्यादिकां चतुःकृत्वोऽनुद्रुत्य पठित्वा विरताः स्म इत्याचार्यप्रमुखाः शिष्याः सर्वे ब्रूयुः (क्षपणं प्रवचनं च पूर्ववत्) क्षपणम् अनध्ययनं लोमनखानामनिकृन्तनं च प्रवचनम् अध्यायादीनां पठनं पूर्ववत् उपाकरणकालवत् । ततस्त्रिरात्रानंतरं शुक्लपक्षेषु छन्दांस्यधीयीरन् कृष्णपक्षेष्वंगानि ततः पुनरर्द्धषष्ठमासानर्द्धसप्तमासान्वा-

सामान्यधीत्य एवमेवोत्सर्गं विधाय उभा कवी युवेत्यादिकाम् ऋचं जपित्वा त्रिरात्र-मेकत्रावस्थाय यथेष्टं विप्रतिष्ठेरन् पृथक्-पृथग् गच्छेयुः। ततः पुनरुपाकरणकाले। उपाकृत्य अध्ययनं यावदुत्सर्गं इति सूत्रार्थः ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे द्वादशकण्डिका ॥ १२ ॥

सरला

१. पौष मास के रोहिणी नक्षत्र अथवा कृष्णपक्ष की अष्टमी को (पूर्वस्वीकृत वेदाध्ययन का) उत्सर्ग (कर दिया जाये-जब तक पुनः उपाकर्म न हो, तब तक न पढ़ा जाये)।

२. (नदी अथवा अन्य) जलाशय के समीप जाकर (आचार्यसहित सभी शिष्य) जल से देदाताओं, छन्दों, वेदों, ऋषियों, पौराणिक आचार्यों, गन्धर्वों, अन्य आचार्यों (दिन-रात, मास, ऋतु प्रभृति) अवयवयुक्त संवत्सर, पितरों और अपने आचार्यों का तर्पण करें।

३. सावित्री- मंत्र को चार भागों में विभाजित कर पढ़ने के अनन्तर 'विरताः स्म' (हम अध्ययन से विरत हैं)कहें।

४. उपाकर्म की भांति अनध्याय रहेगा, रोम और नाखून नहीं काटे जायेंगे तथा अध्यायों का प्रवचन होगा।

टिप्पणी—१. तर्पण-विधि। नदी अथवा जलाशय में विधिवत् स्नान कर 'देवागातु विद·····' मंत्र पढ़ने से पहले मध्याह्नकालीन कर्म निबटाया जाये; तत्पश्चात् 'देवास्तृप्यन्ताम्, छन्दांसि तृप्यन्ताम्' आदि का पाठ कर तर्पण करे। तर्पण करने के अनन्तर स्नान वस्त्र निचोड़कर 'देवागातु विद····' ऋचा पढ़कर अनुष्ठान का समापन करना चाहिए।

२. यहां प्रश्न यह है कि स्नान किया जाये या नहीं, क्योंकि सावन-भादों में नदियां रजस्वला होती हैं—

'मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥' (छन्दोगपरिशिष्ट)

इसका अपवाद भी है—

'उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च।
चन्द्रसूर्योपरागे च रजोदोषो न विद्यते ॥

अर्थात् उपाकर्म, उत्सर्ग, मृतक-स्नान, चन्द्र और सूर्यग्रहण के प्रसंगों पर रजो-दोष का विचार नहीं किया जाता—अतः स्नान किया जा सकता है।

त्रयोदशकण्डिका—लाङ्गलयोजन

पुण्याहे लाङ्गलयोजनं ज्येष्ठया वेन्द्रदैवत्यम् ॥ १ ॥ इन्द्रं पर्जन्यमश्विनौ मरुत उदलाकाश्यपꣳस्वातिकारीꣳसीतामनुमतिं च दध्ना तण्डुलैर्गन्धैरक्षतैरिष्ट्वाऽनडुहो मधुघृते प्राशयेत् ॥ २ ॥ सीरायुञ्जन्तीति योजयेत् ॥ ३ ॥ शुनं सुफाला इति कृषेत् फालं वाऽऽलभेत ॥ ४ ॥ नवाग्न्युपदेशाद्वपनानुषङ्गाच्च ॥५॥ अग्र्यमभिषिच्याकृष्टं तदाकृषेयुः ॥ ६ ॥ स्थालीपाकस्य पूर्ववद्देवता यजेदुभयोर्व्रीहियवयोः प्रवपन्सीतायज्ञे च ॥ ७ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ८ ॥ १३ ॥

हरिहरभाष्यम्

(पुण्याहे लांगलयोजनं) प्रथमं कृषिप्रवृत्तस्यैतत्कर्मोच्यते पुण्याहे उदगयनशुक्लपक्षादिव्युदासेन चन्द्रतारानुकूले दिवसे लांगलस्य हलस्य योजनं प्रवर्त्तनं (ज्येष्ठया वैंद्रदैवत्यम्) पक्षांतरमाह यद्वा अपुण्याहेऽपि ज्येष्ठया नक्षत्रेण युते लांगलयोजनं कुतः इन्द्रदेवत्या ज्येष्ठा यतः इन्द्रायत्ता च कृषिरिति । एतच्च मातृपूजाऽऽभ्युदयिकश्राद्धपूर्वकम् । (इन्द्रं पर्जन्यमश्विनौ मरुत उदलाकाश्यपं स्वातिकारीं सीतामनुमतिं च दध्ना तंडुलैरक्षतैरिष्ट्वाऽनडुहो मधुघृते प्राशयेत्) तत्र इंद्रादीननुमत्यंतान् देवताविशेषान् दध्ना तडुलैरक्षतैः अक्षतान् यवान् इष्ट्वा नमोन्तैर्नाममंत्रैः बलिहरणेन संपूज्य अनडुहो वृषभान् षडादीन् मधुघृते मिलितेन प्राशयेत् । तद्यथा दधितंडुलगंधाक्षतान् पात्रे कृत्वा शुचिराचांतः प्राङ्मुख उपविश्य कृषिक्षेत्रैकदेशे गोमयोपलिप्ते हस्तेन गृहीत्वा इन्द्राय नमः पर्जन्याय नमः अश्विभ्यां नमः मरुद्भ्यो नमः उदलाकाश्यपाय नमः स्वातिकार्यै नमः सीतायै नमः अनुमत्यै नमः यथामन्त्रं त्यागा इदमादिका नमोरहिताः । एवमष्टौ बलीन् प्राक्संस्थान् दद्यात् । ततो बलीवर्द्दान् मधुघृते पात्रे कृत्वा तूष्णीं प्रत्येकं प्राशयेत् लेहयेत् (सीरा युंजंतीति योजयेच्छुनं सुफाला इति कृषेत् फालं वा लभेत) सीरा युंजंतीत्यनयर्चा वृषभौ हले योजयेद्दक्षिणोत्तरक्रमेण शुनं सुफाला इत्यनयर्चा भूमिं कृषेत् । यद्वा शुनं सुफाला इति फालमभिमृशेत् तल्लिंगत्वान्मन्त्रयोः (न वाऽग्न्युपदेशात्) न वा एतौ योजने कर्षणे मन्त्रौ भवतः । कुतः ? अग्नौ अग्निचयने एनयोः उपदेशात् । नच अग्निप्रकरणे आम्नातयोरत्रोपदेशः न वाऽतिदेशः (वपनानुषंगाच्च) इतोऽपि मन्त्रौ न भवतः अग्निप्रकरणे बीजवपने ये मन्त्रा या ओषधीरित्याद्या विनियुक्ताः तेषामपि अत्रानुषंगः स्यात् । यदि लिंगमात्रेणोपदेशातिदेशाभावेपि नियुज्यते तदा वपनमंत्रा अपि तल्लिंगत्वाद्विनियोजनीया भवेयुर्न चैतदिष्यते (अग्र्यमभिषिच्याकृष्टं तदाकृषेयुः) अग्र्यं श्रेष्ठं बलीवर्दम् अभिषिच्य गंधमाल्यादिभिर्भूषयित्वा अकृष्टम् अविलिखितं तत्क्षेत्रम् आकर्षयेयुः विलिखेयुः (ततो ब्राह्मणभोजनम्) इति लांगलयोजनम् । इति सूत्रार्थः॥ अथापरं कर्मान्तरं (स्थालीपाकस्य पूर्ववद्देवता यजेदुभयोर्व्रीहियवयोः प्रवपन् सीतायज्ञे च) स्थालीपाकस्य चरोः पूर्ववल्लांगलयोजनोक्तदेवता इन्द्रादिकाः यजेत । किं कुर्वन् प्रवपन्

सीराम् उप्ति कुर्वन् कयोः व्रीहियवयोः व्रीहियवयोर्वपनकाले। अत्र स्थालीपाकस्य श्रवणोपदेशाभावात् सिद्धस्योपादानं (ततो ब्राह्मणभोजनम्) इति सूत्रार्थः। अथ प्रयोगः॥ तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिकानंतरम् आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादि-प्राशनांते तण्डुलस्थाने पूर्वसिद्धं स्थालीपाकमासाद्य प्रोक्षणकाले प्रोक्षेत्। तत आज्य-भागानन्तरं स्थालीपाकेन लांगलयोजनदेवताभ्यो जुहुयात्। तद्यथा इन्द्राय स्वाहा इदमिंद्राय तथा पर्जन्याय स्वाहा इदं पर्जन्याय अश्विभ्यां स्वाहा इदमश्विभ्यां मरुद्भ्यः स्वाहा इदं मरुद्भ्यः उदलाकाश्यपाय स्वाहा इदमुदलाकाश्यपाय स्वातिकार्यै स्वाहा इदं स्वातिकार्यै सीतायै स्वाहा इदं सीतायै अनुमत्यै स्वाहा इदमनुमत्यै। ततोऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति हुत्वा आज्येन नवाहुतीश्च हुत्वा प्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानब्राह्मण-भोजनानि कुर्यात् इति व्रीहियववपनकर्म॥ सीतायज्ञे च एताश्च देवताः स्थालीपाकेन यजेत् इत्यतिदेशः।

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे त्रयोदशी कण्डिका॥ १३॥

सरला

१. (किसी) पुण्य दिवस अथवा ज्येष्ठा नक्षत्रयुक्त (अपुण्य दिन) को भी लाङ्गल (हल) योजन (करना चाहिए) क्योंकि ज्येष्ठा नक्षत्र के देवता इन्द्र हैं और (कृषि-कर्म भी इन्द्र देव की कृपा पर ही अवलम्बित है)।

२. इन्द्र, पर्जन्य, अश्विन देवयुग्म, मरुद्गण, उदलाकाश्यप, स्वातिकारी, सीता और अनुमति (इन आठ विशिष्ट देवताओं) का दही, तण्डुल, गन्ध और अक्षतों से पूजन कर (गाड़ी में जुतनेवाले) वैलों को घी और शहद चटाये।

३. 'सीरायुञ्जन्ति ....' ऋचा का पाठ कर हल में वैल नाधे;

४. 'शुनंसुफाला....' ऋचा को पढ़कर भूमि जोते अथवा फाल (फार) का स्पर्श करे।

५. (अथवा इन दोनों मंत्रों का विनियोग योजन या कर्षण-कर्म में न किया जाये) क्योंकि अग्नि-चयन में ये उपदिष्ट हैं) और अग्नि-प्रकरण में आम्नात इन मंत्रों का न तो यहां उपदेश है और ना ही अतिदेश। वपनानुषङ्ग से भी ये मंत्र विनियुक्त नहीं होते हैं। (अग्नि-प्रकरणगत बीज वपन में विनियुक्त मंत्रों का यहां भी अनुवर्तन होना चाहिए ? नहीं, क्योंकि उपदेश और अतिदेश के अभाव में भी यदि लिङ्ग मात्र से विनियोग होने लगे तो वपनमंत्र भी लिङ्ग के आधार पर विनियोज्य हो जायेगा— और यह इष्ट नहीं है)।

६. उत्तम बैल का अभिषेक कर (उसे गन्ध और मालाओं से विभूषित कर) बिना जुती हुई भूमि जोती जाये।

७. धान और जौ को बोते समय तथा सीतायज्ञ के अवसर पर स्थालीपाक से पूर्ववत् (लाङ्गलयोजन कर्म के इन्द्र प्रभृति) देवताओं का यजन करना चाहिए।

८. तदुपरान्त ब्राह्मण-भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. पुण्य-दिन। ज्योतिष शास्त्रोक्त शुभ दिन-चन्द्र-तारानुकूल।

२. देवताओं के पूजन में 'इन्द्राय नमः' प्रभृति मंत्रों से बलि-हरण किया जाये।

३. स्विष्टकृत् अग्नि की आहुति, संस्रव-प्राशन और दक्षिणा-दान भी होगा।

४. गोभिलगृह्यसूत्रकार ने इसे 'हलाभियोग' नाम दिया है।

५. उन्होंने इन्द्र, मरुद्गण, पर्जन्य, अश्विनदेवयुग्म, भर्ग को स्थालीपाक की आहुतियां और सीता, आशा, अवदा एवं अनघ को आज्याहुतियां देने का विधान किया है। सीतायज्ञ, खल-यज्ञ, प्रवपन, प्रलवन तथा प्रयवण में भी इन्हें आहुतियां मिलती हैं। एक आहुति आखुराज को देने का उल्लेख भी उन्होंने किया है।

६. मानवगृह्यसूत्र में भी 'आयोजन' का विधान प्राप्त होता है—यह सीता-यज्ञ और खल-यज्ञ का वहां पूरक है।

७. आश्वलायनगृह्यसूत्र में कृषि-कर्म प्रारम्भ करने के लिए उत्तराफाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रों को श्रेष्ठ माना है। शांखायनगृह्यसूत्र में भी रोहिणी नक्षत्र ही उपयुक्त माना गया है।

चतुर्दशकण्डिका—श्रवणाकर्म

अथातः श्रवणाकर्म ॥ १ ॥ श्रावण्यां पौर्णमास्याम् ॥२॥ स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽक्षतधानाश्चैककपालं पुरोडाशं धानानां भूयसीः पिष्ट्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति ॥ ३ ॥ अपश्वेतपदाजहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवैः स्वाहा ॥४॥ न वै श्वेतस्याध्याचारेऽहिर्ददर्श कंचन। श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति ॥ ५ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यश्चेति ॥ ६ ॥ धानावन्तमिति धानानाम् ॥७॥ घृताक्तान्सक्तून्सर्पेभ्यो जुहोति ॥८॥ आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपतये स्वाहा, श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपतये स्वाहा अभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपतये स्वाहेति ॥ ९ ॥ सर्वहुतमेककपालं ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति ॥ १० ॥ प्राशनान्ते सक्तूनामेकदेशं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रम्य बहिःशालायाः स्थण्डिलमुपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां माऽन्तरागमतेत्युक्त्वा वाग्यतः सर्पानवनेजयेति ॥ ११ ॥ आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्वाभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्वेति ॥ १२ ॥ यथावनिक्तं दर्व्योपघातं सक्तून्सर्पेभ्यो बलिं हरति ॥ १३ ॥ आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपत एष ते बलिः श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपत एष ते बलिरभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपत एष ते बलिरिति ॥ १४ ॥ अवनेज्य पूर्ववत् कङ्कतैः प्रलिखति ॥ १५ ॥ आग्नेयपाण्डुपार्थिवानाꣳ सर्पाणामधिपते प्रलिखस्व

श्वेतवायवान्तरिक्षाणाꣳ सर्पाणामधिपते प्रलिखस्वाभिभूः सौर्यदिव्यानाꣳ सर्पाणामधिपते प्रलिखस्वेति ॥ १६ ॥ अञ्जनानुलेपनꣳ स्रजश्चाञ्जस्वानुलिम्पस्वस्रजोऽपिनह्यस्वेति ॥ १७ ॥ सक्तुशेषꣳस्थण्डिले न्युप्योदपात्रेणोपानिनीयोपतिष्ठते नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिः ॥ १८ ॥ स यावत्कामयेत न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत्सन्ततयोदधारया निवेशनं त्रिः परिषिञ्चन्परीयादपश्वेतपदा जहीति द्वाभ्याम् ॥ १९ ॥ दर्वीं शूर्पं प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रयच्छति ॥२०॥ द्वारदेशे मार्जयन्त आपोहिष्ठेति तिसृभिः ॥२१॥ अनुगुप्तमेतं सक्तुशेषं निधाय ततोऽस्तमितेऽग्नि परिचर्यं दर्व्योपघातं सक्तून्सर्पेभ्यो बलिं हरेदाग्रहायण्याः ॥ २२ ॥ तं हरन्तं नान्तरेण गच्छेयुः ॥ २३ ॥ दर्व्याचिमनं प्रक्षाल्य निदधाति ॥ २४ ॥ धाना प्राशनन्त्यसꣳस्यूताः ॥ २५ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ २६ ॥ १४ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथातः श्रवणाकर्म) अथेदानीम् आवसथ्याग्निसाध्यकर्मणां प्रकृतत्वात् श्रवणाकर्मोच्यत इति शेषः (श्रावण्यां पौर्णमास्यां) तच्च श्रावणामासस्य शुक्लपंचदश्यां कर्त्तव्यं (स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽक्षतधानाश्चैककपालं पुरोडाशं) स्थालीपाकं चरुम् अक्षतधानाः अक्षतानां सतुषाणां यवानां धानाः अक्षतधानाः ताश्च श्रपयित्वा एककपालम् एकस्मिन् कपाले श्रप्यत इत्येककपालं तं पुरोडाशं च श्रपयित्वेत्यनुषज्यते । अन्यथा तद्भूतोपादानं स्यात् अतश्च धानापुरोडाशयोः श्रपणोपदेशात् भर्जनकपालयोरपि आसादनप्रोक्षणे भवतः अर्थवतां प्रोक्षणमविशेषेणोपदिश्यते (धानानां भूयसीं पिष्ट्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोत्यप श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबांधवैः ॥ न वै श्वेतस्याऽध्याचारेऽहि ददर्श कंचन श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति) धानानां भर्जितानां यवानां मध्ये भूयसीः बह्वीः पिष्ट्वा सक्तुत्वमापाद्य आज्यभागौ हुत्वा अप श्वेत पदा जहि न वै श्वेतस्याध्याचार इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रं द्वे आज्याहुती जुहोति (स्थालीपाकस्य जुहोति विष्णवे श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यश्चेति) । अनन्तरं स्थालीपाकस्य चरोश्चतस्र आहुतीर्जुहोति यथा विष्णवे स्वाहेत्येवमादिभिश्चतुर्भिर्मंत्रैः (धानावंतमिति धानानां) धानावंतं करंभिणमित्यनयर्चा धानानामेकामाहुतिं जुहोति (घृताक्तान्सक्तून्सर्पेभ्यो जुहोत्याग्नेयपांडुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा श्वेतवायवांतरिक्षाणां सर्पाणामधिपतये स्वाहा अतिभूः सौर्यदिव्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहेति) घृतेन आज्येन अक्ताः अभिघारिताः घृताक्ताः तान् सक्तून् सर्पेभ्यः आग्नेयपांडुपार्थिवेत्यादिभिर्मंत्रैः प्रतिमन्त्रम् एकैकामेव तिस्र आहुतीर्जुहोति (सर्वंहुतमेककपालं ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति) तत एककपालं पुरोडाशं सर्वंहुतं यथा भवति तथा ध्रुवाय भौमाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण जुहोति । ततः स्थालीपाकधानासक्तुभ्यः स्विष्टकृद्धोमः (प्राशनांते सक्तूनामेकदेशं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रम्य बहिःशालायां स्थंडिलमुपलिप्योल्कायां ध्रियमाणायां मान्तरागमतेत्युक्त्वा वाग्यतः

सर्पानिवनेजयत्याग्नेयेति) प्राशनांते संस्रवप्राशनानंतरं सक्तूनामेकदेशं बलित्रयपर्याप्तं शूर्पे शरेषीकावंशान्यतममये इच्छापरिमाणे न्युप्य कृत्वा उपनिष्क्रम्य शालायाः सकाशान्निर्गत्य वहिः अंगणे स्थंडिलं भूमिं स्वयमेव गोमयेनोपलिप्य अत्र सर्पाननवनेजयतीत्यस्याः क्रियाया उपलेपनक्रियायाश्च एककर्त्तव्यत्वेन पूर्वकालीनस्योपलेपनस्य ल्यवन्तत्वं 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' इति पाणिनिना ल्यप्स्मरणात् तेन अत्र स्थंडिलस्य स्वयं पूर्वमुपलेपनम् । उल्कायां ध्रियमाणायां ज्वलति काष्ठेऽन्येन ध्रियमाणे मांतरागमत आवसथ्यस्य मम च अन्तराले मागच्छत इत्युक्त्वा अभिधाय वाग्यतो मौनी सर्पान् आग्नेयश्वेतअभिभूरित्यादिभिस्त्रिभिर्मंत्रैः अवनेनिक्ष्वेत्येतदन्तैः प्राक्संस्थानवनेजयति अवनिक्तान् शुचीन् करोति (यथावनिक्तं दर्व्योपघातं सक्तून् सर्पेभ्यो वलिं हरत्याग्नेयेत्यादि) अधिपत एष ते वलिरिति यथावनिक्तं येषु देशेषु अवनेजनं कृतं यथावनिक्तमनतिक्रम्येत्यर्थः । दर्व्या प्रादेशमात्र्या द्व्यंगुष्ठपर्वविस्तीर्णया पालाशाद्यन्यतमयज्ञियवृक्षोद्भवया उपघातम् उपहृत्योपहृत्य गृहीत्वा गृहीत्वा आग्नेयेत्यादिभिस्त्रिभिर्मंत्रैः एष ते बलिरित्येतदंतैः प्रतिमन्त्रं सर्पेभ्यो वलिं हरति ददाति । उपघातमिति णमुल्प्रत्ययांतः उपपूर्वो हंतिर्ग्रहणार्थः । अथ स्रुवेणोपहत्याज्यमितिवत् अवनेज्य पूर्ववत्कंकतैःप्रलिखत्याग्नेयेत्यादि प्रलिखस्वेत्यन्तम् अवनेज्य अवनेजनं दत्त्वा कथं पूर्ववत्कंकतैर्वैकंकतीयैः प्रादेशमात्रैः त्रिभिरेकतोदन्तैः समुच्चितैः आग्नेयेत्यादिभिस्त्रिभिर्मंत्रैः प्रलिखस्वेत्यंतैर्यथासंख्यं प्रतिवलिं प्रलिखति कंडूयति (अंजनानुलेपनं स्रजश्चांजस्वानुलिंपस्व । स्रजोपि नह्यस्वेति) अंजनं कज्जलं लौकिकदीपजं त्रैककुदं सौवीरं वा इति प्रसिद्धं व अनुलेपनं सुरभिचन्दनादिस्रजः पुष्पमाला आग्नेयेत्यादिभिस्त्रिभिर्मंत्रैः अंजस्व अनुलिंपस्व स्रजोपि नह्यस्वेत्यन्तैः प्रतिमन्त्रं प्रतिवलिहरणमेकैकं यथाक्रमं ददाति (सक्तुशेषं स्थंडिले न्युप्योदपात्रेणोपनिनीयोपतिष्ठते नमोस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिः) सक्तुशेषं यच्छूर्पे न्युप्यानीतं बल्यर्थं वलिदानायोपलिप्तैकदेशे न्युप्य शूर्पेणैव क्षिप्त्वा उदपात्रेण जलपात्रेण उपनिनीय प्रवाह्य नमोस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिर्ऋग्भिः सर्पानुपतिष्ठते बल्यभिमुखस्तिष्ठन् प्राङ्मुखस्तिष्ठन् स्तौति (स यावत्कामयेत न सर्पा अभ्युपेयुरिति तावत्संततयोदधारया निवेशनं त्रिः परिषिंचन्परीयादप श्वेत पदा जहीति) द्वाभ्यां स गृहपतिः यावत् यावंतं देशं सर्पाः नागा नाभ्युपेयुर्न संचरेयुः इति कामयेत् इच्छेत् तावंतं देशं संततया अनवच्छिन्नया उदधारया सलिलधारया निवेशनं गृहं परिषिंचन् त्रिः परीयात् त्रीन्वारान् गृहस्य समंतात् प्रादक्षिण्येन परिक्रम्य गच्छेत् कथम् अप श्वेत पदा जहीति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां (दर्वीं शूर्पं प्रक्षाल्य प्रतप्य प्रयच्छति) दर्वीं पूर्वोक्तां शूर्पं च प्रक्षाल्य क्षालयित्वा प्रतप्य सक्तापयित्वा सन्निधानादुल्कायामेव प्रयच्छति ददाति उल्कधारायाः सन्निधानादेव । (द्वारदेशे मार्जयन्त आपो हिष्ठेति तिसृभिः) द्वारदेशे शालायाः द्वारे आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ऋग्भिः ब्रह्मयजमानोल्काधाराः मार्जयन्त अद्भिरात्मानमभिषिंचति ब्रह्मयजमानोल्काधाराः बहुवचनोपदेशात् ॥ (अनुगुप्तमेतं सक्तुशेषं निधाय ततोस्त-

मितेस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातं सक्तून्सर्पेभ्यो बलिं हरेदाग्रहायण्याः) एतं प्रकृतं सक्तुशेषं होमावशिष्टान्सक्तून् अनुगुप्तं सुरक्षितं यथा भवति तथा निधाय स्थापयित्वा ततस्तस्मात् श्रवणाकर्मकालात् प्रभृति अस्तमिते सूर्ये प्रतिदिनम् अग्निम् आवसथ्यं परिचर्य सायं होमेन आराध्य दर्व्योपघातं शूर्पे न्युप्तान् सक्तून् सर्पेभ्य उक्तप्रकारेण बलिं हरति किमवधिं आग्रहायण्याः आग्रहायणी पौर्णमासी यावत् । अथवा आग्रहायणीशब्देन तत्कालावधिकम् आग्रहायणीकर्म वक्ष्यते । तत्र हि बलीनामुत्सर्गस्य वक्ष्यमाणत्वात् । भाष्यकारस्तु तत इति तेभ्यः सक्तुभ्यः दर्व्योपहत्योपहत्यास्तमिते अग्निपरिचरणं कृत्वा बलिं हरेदाग्रहायणीं यावदित्याह स्म । बलिहरणं च अवनेजनदानप्रत्यवनेजनैः कंकतितगृहपतिं बलीन् हरंतम् आवसथ्याग्निं च अंतरेण मध्ये न गच्छेयुः न विलेखनांतरेव तं हरंतं नांतरेण गच्छेयुः) प्राणिनः ततः श्वादयोपि अलं निवार्याः (दर्व्याचमनं प्रक्षाल्य निदधाति) दर्व्याः आचमनं मुखं प्रक्षाल्य निदधाति स्थापयति प्रत्यहं दर्वीमुखप्रक्षालनोपदेशात् शूर्पप्रक्षालनाभावः (धानाः प्राश्नन्त्यसंस्यूताः) धानाः भर्जितान् यवान् प्राश्नंति भक्षयन्ति बहुवचनोपदेशात् ब्रह्मयजमानोल्काधाराः कथंभूताः असंस्यूताः दंतैरलग्नाः अचर्वयन्त्य इत्यर्थः (ततो ब्राह्मणभोजनम्) इति सूत्रार्थः ।

॥ अथ प्रयोगः ॥ तत्र श्रावण्यां पूर्णिमायां श्रवणाकर्म तस्य प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं विधायावसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात् । यथा ब्रह्मोपवेशनादि प्राशनांतं । अयं विशेषः चरुस्थाल्यनन्तरं भर्जनकर्परं तत एकं कपालं तथा तंडुलानन्तरं यवान् ततस्तंडुलपिष्टान्यासादयेत् प्रोक्षणकाले यथाऽऽसादितं प्रोक्षेत् उपकल्पयति च दृषदुपले शूर्पे उदपात्रदर्व्यौ कंकतत्रयम् अंजनम् अनुलेपनं स्रजश्चेति ततः पवित्रकरणादि प्रोक्षणीनिधानांतं चरुदेशस्योत्तरतो भर्जनमधिश्रित्य तदुत्तरतः कपालमुपधाय आज्यं निरूप्य चरुपात्रे प्रणीतोदकासेचनपूर्वकं तंडुलप्रक्षेपं कृत्वा ब्रह्मद्वारा आज्यमधिश्रित्य स्वयं चरुमन्येन भर्जने यवानपरेणैककपाले पुरोडाशमधिश्रित्य पुरोडाशं प्रथयित्वा यावत्कपालं सर्वेषां पर्यग्निकरणं कुर्यात् । ततः स्रुवं संस्कृत्याज्यमुद्वास्य चरुं चोद्वास्याज्यस्योत्तरतः स्थापयित्वा धाना उद्वास्य चरोरुत्तरतो निधाय पुरोडाशमुद्वास्य धानानामुत्तरतः स्थापयेत् । तत आज्योत्पवनावेक्षणप्रोक्षण्युत्पवनानि कृत्वा धानानां भूयसीर्धानादृषदुपलाभ्यां पिष्ट्वा अल्पाः पृथक् स्थापयित्वा घृतेन सक्तून् अकृत्वोपयमनकुशादानाद्याज्यभागांतं कर्म कुर्यात् । तत आज्येन अप श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबांधवैः स्वाहेति इदं श्वेतपदे इति त्यागं विधाय न वै श्वेतस्याध्याचारेहिर्ददर्श कंचन श्वेताय वैदर्व्याय नमः स्वाहेति मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं हुत्वा इदं श्वेताय वैदर्व्यायेत्युक्त्वा स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति । तद्यथा विष्णवे स्वाहा इदं विष्णवे श्रवणाय स्वाहा इदं श्रवणाय श्रावण्यै पौर्णमास्यै स्वाहा इदं श्रावण्यै पौर्णमास्यै वर्षाभ्यः स्वाहा इदं वर्षाभ्यः । अथ धानावंतं करंभिणमित्यृचा धानानामेकाहुतिं हुत्वा इदमिंद्रायेति त्यक्त्वा सक्तूनामाहुतित्रितयं जुहुयात् यथा आग्नेयपांडुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा इदंशब्दयुक्तः स्वाहाकाररहितोयमत्र एव

त्यागः त्रिपु श्वेतवायवांतरिक्षणां सर्पाणामधिपतये स्वाहा अभिभूः सौर्यंदिव्यानां सर्पाणामधिपये स्वाहा ततो ध्रुवाय भौमाय स्वाहेति सर्वं पुरोडाशं स्रुवे कृत्वा जुहुयात् इदं ध्रुवाय भौमायेति त्यक्त्वा चरुधानासक्तुभ्य उत्तरतः किंचित्किंचिदादाय स्विष्टकृतं विधाय महाव्याहृतिहोमं संस्रवप्राशनं ब्रह्मणे दक्षिणादानांतं कुर्यात्। अथ हुतशेषसक्तूनामेकदेशं शूर्पे प्रक्षिप्यादायोदपात्रंदर्वीकंकत्रयांजनानुलेपनस्रजश्च शालाया बहिर्निष्क्रम्य ब्रह्मणा उल्काधारेण सह स्वांगणे हस्तमात्रं स्थंडिलं स्वयमुपलिप्य लौकिकाग्न्युल्कायां ध्रियमाणायां मांतरागमतेति प्रैषमुच्चार्य वाग्यतः स्थंडिले उदपात्रमादायाग्नय इत्यादिना अधिपतेऽवनेनिक्ष्वेत्यन्तेन एकत्रावनेजनार्थं जलं दत्वा श्वेतवायवेत्यादिना अधिपतेऽवनेनिक्ष्वेत्यन्तेन द्वितीयम्। अभिभूः सौर्येत्यादिना तथैव तृतीयं सर्पानवनेजयति। ततोऽवनेजनस्थानेपु अवनेजनक्रमेण एतैरेव मन्त्रैरेष ते बलिरित्यंतैस्त्रिभिः प्रतिमंत्रं बलिं हरति। ततः पूर्ववदवनेज्यं कंकतत्रयेण प्रलिखस्वेत्यन्तैः एतैरेव मन्त्रैः प्रतिबलि प्रतिमन्त्रं प्रलिखति। ततोंजस्वेत्यन्तैरुक्तमन्त्रैः प्रतिबलि प्रतिमन्त्रमञ्जनं ददाति तथैवानुलिंपस्वेत्यनुलेपनम् एवमेव स्रजो नह्यस्वेति पुष्पमालां दत्वा सक्तुशेषं स्थंडिले क्षिप्त्वा उदपात्रजलेन प्रसंप्लाव्य नमोस्तु इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः सर्पांस्तिष्ठन्नुपतिष्ठते। ततः सगृहपतिः एतावंतं देशं सर्पा न प्रविशेयुरिति यावत्कामयेत तावंतं देशं सन्ततोदकधारया त्रिः परिषिंचन गृहं परीयात् अप श्वेत पदा जहीति पूर्वोक्तमन्त्राभ्यां सकृत् द्विस्तूष्णीं ततो दर्वी शूर्पं च प्रक्षाल्योल्कायां सकृत्प्रतप्योल्काधारायां प्रयच्छति। अथ शालाद्वारि आपो हि ष्ठेति त्र्यृचेन ब्रह्मयजमानोल्काधाराः मार्जयन्ते जलेनात्मानं ततो धानाः प्राश्नंति ब्रह्मयजमानोल्काधारा अनवखंडयन्तः। ततो ब्राह्मणभोजनमेतावच्छ्रवणाकर्मः॥ अथ प्रत्यहं बलिहरणप्रयोगः॥ सक्तुशेषं सुगुप्ते भांडे स्थापयित्वा ततः अस्तमिते सूर्ये सक्तुदर्वीकंकतत्रयं निधायोदपात्रं गृहीत्वा सोल्काधारः शालाया बहिरुपलेपनादि परिलेखनांतं बलिहरणमनुदिनं पूर्ववत्कुर्यात्। आग्रहायणीं यावत् मांतरागमतेति प्रैषाभावेऽपि कश्चित् अन्तरा न गच्छेत् दर्वीमुखेन प्रक्षालयेदिति अहरहर्बलिदानविधिः॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे चतुर्दशी कण्डिका॥ १४॥

सरला

१. (आवसथ्याग्निसाध्य कर्मों का प्रसंग चल रहा है) इसलिए अब श्रवणकर्म (की विधि बतला रहे हैं)।

२. (इसका अनुष्ठान) श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को (करना चाहिए)।

३–५. स्थालीपाक और तुषायुक्त जौ को एक कपाल में पकाकर, (उस) पुरोडाश को प्रचुर जौ की ढेरी के साथ पीसकर, अग्नि और सोम की आहुतियां डालकर, 'अपश्वेतपदाजहि....' और 'न वै श्वेतस्य....' मंत्रों को पढ़ते हुए (दो) घृताहुतियां डाले।

६. 'विष्णवे.....' प्रभृति चार मंत्रों को पढ़कर स्थालीपाक की चार आहुतियां डाली जायें।

७. 'धानावन्तम्.....' ऋचा को पढ़कर एक धानाहुति दे।

८-९. 'आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां....' प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर सर्पों को घी-सने सत्तू की तीन आहुतियां दे।

१०. एककपाल में स्थित सम्पूर्ण पुरोडाश का 'ध्रुवाय भौमाय स्वाहा....' मंत्र पढ़कर एक साथ हवन करे।

११. संस्रव-प्राशन के उपरान्त थोड़ा-सा (तीन बलियों के लिए पर्याप्त) सत्तू सूप में डालकर, शाला के बाहर निकलकर, (आंगन की) भूमि (गोबर से स्वयं) लीपकर, अंगारे रख दिए जाने पर, 'माऽन्तरागमत' (अग्नि और मेरे बीच में कोई न आए) कहकर, चुपचाप 'आग्नेय.....' प्रभृति तीन मंत्रों से सर्पों को आचमन कराये।

१३-१४. जहां अवनेजन हुआ है, उसे बिना लांघे 'आग्नेय....' प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर लकड़ी के चम्मच से सर्पों को बलियां प्रदान करे।

१५-१६. अवनेजन कराकर 'आग्नेय....' प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर पूर्ववत् (तीन) कंघियों से खुजलाये।

१७. 'आग्नेय....' प्रभृति तीन मंत्रों के अन्त में 'अञ्जस्व अनुलिम्पस्व स्रजोऽपिनह्यस्व' जोड़कर काजल लगाये और पुष्पमालायें पहनाये।

१८. बचे हुए सत्तू को (बलि-प्रदानार्थ लीपी गई) भूमि पर डालकर, जल-पात्र से बहाकर 'नमोऽस्तु सर्पेभ्य.....' प्रभृति तीन ऋचाओं से सर्पों की स्तुति करे।

१९. गृहस्वामी जितने स्थान में सर्पों का आवागमन न चाहे, उतने में अनवरत जल-धारा गिराते हुए 'अपश्वेतपदा....' प्रभृति (पूर्वोक्त) दो मंत्र पढ़कर तीन बार परिक्रमा करे।

२०. दर्वी और सूप को धोने और (एक बार) तपाने के अनन्तर उल्काधार को दे दे।

२१. (ब्रह्मा, यजमान और उल्काधार) 'आपो हिष्ठा.....' प्रभृति तीन ऋचायें पढ़कर गृह-द्वार को बुहारें।

२२. अवशिष्ट सत्तू को सुरक्षित (पात्र में) रखकर, (श्रवणाकर्म से लेकर) प्रति दिन सूर्यास्त होने पर आवसथ्याग्नि की परिचर्या कर, (पात्र से) चम्मच के द्वारा सत्तू को (सूप में डालकर) अगहन की पौर्णमासी तक (सर्पों को) बलि प्रदान की जाये।

२३. गृह-स्वामी (जब) बलियाँ निकाल रहा हो, (उस समय) उसके (और आवसथ्याग्नि के) मध्य कोई न जाये।

२४. दर्वी से आचमन कर उसे रख दे। (प्रति दिन दर्वी से मुख-प्रक्षालन तो करना चाहिए किन्तु सूप-प्रक्षालन नहीं)।

२५. (ब्रह्मा, यजमान और उल्काधार-तीनों) भुने हुए जौ को (दांतों से) विना चबाये हुए खायें।

२६. तदनन्तर ब्राह्मण-भोजन (होना चाहिए)।

टिप्पणी—१. आग्रहायिण्याः। यहां आग्रहायणी-कर्म की ओर भी सङ्केत हो सकता है, क्योंकि उसमें भी बलि-प्रदान होता है। हरिहर ने अपने भाष्य में यह संभावना प्रकट की है।

२. इस कर्म के लिए किसी गौण काल का विधान नहीं—

'श्रावण्यामेव तत्कार्यमभावाद्गौणकालतः।
परिसंख्योक्तितः सूत्रकारस्यान्यस्मृतेर्बलात् ॥'

मंत्रार्थ

१. अपश्वेतपदाजहि पूर्वेण चापरेण च। सप्त च वारुणीरिमाः प्रजाः सर्वाश्च राजबान्धवैः ॥

अनुष्टुप्, प्रजापति, सर्प।

ओ गुप्तचरण सर्प! तुम वासुकि प्रभृति अपने समस्त राजबन्धुओं के साथ सात पीढ़ियों तक हमारे इन स्वजनों के आगे-पीछे रहना छोड़कर चले जाओ—क्योंकि इन पर वरुणदेव का अभय हस्त है।

२. न वै श्वेतस्याभ्याचारेऽहिर्ददर्श कंचन। श्वेताय वैदर्व्याय नमः ॥

गायत्री, वही।

लम्बे फनवाले, शुद्ध और प्रसन्न श्वेतपद सर्प को नमस्कार। उसके अधीन रहनेवाला कोई भी सर्प हमें पापदृष्टि से न देखे।

३. आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये, श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपतये, अभिभूः सौर्यदिव्यानां सर्पाणामधिपतये ॥

परमेष्ठी, यजुष्, सर्पाधीश।

अग्निदेव के, पाण्डुनामक और पृथ्वी पर विहार करनेवाले सर्पाधीशों के लिए; श्वेतजातीय, वायु देव के और अन्तरिक्ष में विचरनेवाले सर्पप्रभुओं के लिए; सबको अभिभूत करनेवाले, सूर्यनारायण के और द्युलोक में बसनेवाले सर्पाधिपतियों के लिए।

पञ्चदशी कण्डिका—इन्द्रयज्ञ

प्रौष्ठपद्यामिन्द्रयज्ञः ॥ १ ॥ पायसमैन्द्र ७ँ श्रपयित्वाऽपूपांश्चापूपैः स्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोतीन्द्राण्या अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय प्रौष्ठपदाभ्यश्चेति ॥ २ ॥ प्राशनान्ते मरुद्भ्यो बलिं हरत्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः ॥ ३ ॥ आश्वत्थेषु पलाशेषु मरुतोऽश्वत्थे तस्थुरिति वचनात् ॥ ४ ॥ शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम् ॥ ५ ॥ विमुखेन च ॥ ६ ॥ मनसा ॥ ७ ॥ नामान्येषामेतानीति श्रुतेः ॥ ८ ॥ इन्द्रं दैवीरिति जपति ॥ ९ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १० ॥ १५ ॥

हरिहरभाष्यम्

(प्रौष्ठपद्यामिद्रयज्ञः) प्रौष्ठपदीभाद्रपदीप्रकरणात् पौर्णमासी तस्याम् इंद्रयज्ञनामधेयं कर्म भवति औपासनाग्नौ (पायसमैंद्रं श्रपयित्वाऽपूपांश्च) पायसं पयसा सिद्धं चरुम् ऐंद्रम् इन्द्रदैवत्यं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा अपूपांश्च चतुरः श्रपयित्वा तांश्च चतुरः प्रतिदिशं स्तरणार्थम् ऐंद्रमित्यनेन देवतातद्धितेन इन्द्राय स्वाहेति होमस्य मन्त्रांतरस्य चानुक्तत्वात् अत्र पायसश्रपणोपदेशात् पयश्च प्रणीयते (अपूपैस्तीर्त्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोतींद्रायेन्द्राण्या अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय प्रौष्ठपदाभ्यश्चेति) अपूपैः प्रतिदिशमग्निं स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागौ हुत्वा इन्द्रायेत्यादिभिः स्वाहांतैः पञ्चभिर्मंत्रैः प्रतिमंत्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति । अत्रानुक्तोऽपि पायसेन इंद्राय स्वाहेत्येकाहुतिहोमः अन्यथा पायसश्रपणमदृष्टार्थं स्यात् (प्राशनांते मरुद्भ्यो बलिं हरत्यहुतादो मरुत इति श्रुतेः) ततः स्विष्टकृदादिप्राशनांते मरुद्भ्यः एकोनपञ्चाशत्संख्याभ्यो देवताभ्यः बलिं ददाति । ननु मरुतां देवतात्वे सति कथं होमसंबंधरहितत्वं बलिनार्हत्वं च, शृणु अहुतादो मरुत इति श्रुतेः अहुतमदन्तीत्यहुतादः मरुतो देवः इति श्रुतेः वेदवचनात् (आश्वत्थेषु पलाशेषु मरुतोऽश्वत्थे तस्थुरिति वचनात्) मरुद्भ्यो बलिं हरतीत्युक्तं तस्याधिकरणमुच्यते अश्वत्थस्य इमानि आश्वत्थानि तेषु पिप्पलोद्भवेषु पत्रेषु बलिं हरतीति शेषः । ननु बलिहरणं भूमौ अन्यत्र दृश्यते इह कस्मादश्वत्थपत्रेष्विति शंकते आह मरुत शुक्रज्योतिःप्रभृतयो यस्मात् अश्वत्थे तस्थुः स्थितवंत इति वचनात् श्रुतेः (शुक्रज्योतिरिति प्रतिमंत्रं विष्णुमुखेन च मनसा नामान्येषामेतानीति श्रुतेः) मन्त्रापेक्षायामाह शुक्रज्योतिरित्येवमादिभिर्मंत्रैः नमस्कारांतैः प्रतिमन्त्रं विमुखेन च उग्रश्च भीमश्चेत्येवमादिना अध्येतृप्रसिद्धेन मनसा मनोव्यापारेण बलिं हरतीति कुतः एभिर्मंत्रैर्बलिहरणम् । एषां मरुताम् एतानि शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्चेत्येवमादिना विक्षिप इत्यंतानि नामानि इति श्रुतेः वेदवचनात् (इन्द्रं दैवीरिति जपति) बलिहरणांते इन्द्रं दैवीरित्येतामृतं जपति (ततो ब्राह्मणभोजनम्) ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः ॥ भाद्रपदपौर्णमास्यां प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकविधायावसथ्याग्नौ इन्द्रयज्ञाख्यं कर्म कुर्यात् । तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनांते विशेषः ।

सक्षीरं प्रणयनं मूलदेशे पयः इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयेत् उपकल्पनीयानि तंडुलपिष्टं सम।श्वत्थपर्णानि तत आज्यनिर्वापानंतरं प्रणीताभ्यः क्षीरमुत्सिच्य चरुपात्रे तण्डुलान्प्रक्षिप्य प्रणीतोदकेन पिष्टं संपूय चतुरोऽपूपान्निर्मायाज्यमधिश्रित्य तदुत्तरतः कर्परे चतुरोऽपूपान् अधिश्रयति। आसादनक्रमेणोद्वासनादि तत उपयमनकुशादानात् पूर्वम् अपूपैः अग्नेः पुरस्तात् दक्षिणतः पश्चिमतः उत्तरतश्च एकैकेन परिस्तरणं कृत्वाऽऽज्यभागांते पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति। इन्द्राय स्वाहा इन्द्रमिद्राय इन्द्राण्यै स्वाहा इदमिन्द्राण्यै अजायैकपदे स्वाहा इदमजायैकपदे अहिर्बुध्न्याय स्वाहा इदमहिर्बुध्न्याय प्रोष्ठपदाभ्यः स्वाहा इदं प्रोष्ठपदाभ्यः। ततः पायसेन इन्द्राय स्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा इदमिंद्रायेति त्यक्त्वा पायसेनैव स्विष्टकृद्धोमं विधाय महाव्याहृत्यादिहोमसंस्रवप्राशनदक्षिणादानानि कुर्यात्। अथाग्नेरुत्तरतः प्राक्संस्थानि प्रागग्राणि सप्ताश्वत्थपत्राणि निधाय तेषु मरुद्भ्यो बलीन् हरति। पायसशेषं स्रुवेणादायादाय शुक्रज्योतिरित्येवमादिभिः षण्मन्त्रैर्नमस्कारांतैरुग्रश्च भीमश्चेत्येतेनैव सप्तमेन च मनसोच्चारितेन च प्रतिमन्त्रं सप्तसु मन्त्रेषु यथाक्रमं स्पष्टार्थं प्रयोग उच्यते। त्यागश्च शुक्रज्योतिश्चेत्यारभ्य ऋतपाश्चात्यं हा नमः इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिष्मते शुक्राय ऋततपसेत्यंहसे च ईदृङ् अन्यादृङ् चेत्यादिसरभसे नमः इदमीदृशे अन्यादृशसदृशे प्रतिसदृशे मिताय संमिताय सरभसे च ऋतश्चेत्यादिविधारये नमः इदममृताय सत्याय ध्रुवाय धरणाय धर्त्रे विधारयाय च ऋतादित्यारभ्य गणाय नमः इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणाय अन्तिमित्राय दूरे अमित्राय गणाय च ईदृक्षाय इत्यारभ्य यज्ञे अस्मिन्नमः इदमीदृक्षेभ्यः एतादृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्योऽमितेभ्यः संमितेभ्यः सभरेभ्यो मरुद्भ्यश्च स्वतवांश्चेत्यादि उज्जेषिणे नमः इदं स्वतवसे प्रघासिने सांतपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिने उज्जेषिणे च उग्रश्चेत्यारभ्य विक्षिपः स्वाहा नमः मनसा इदमुग्राय भीमाय ध्वांताय धुनये सासह्वभियुग्वने विक्षिपाय चेत्यपि मनसा। तत ऐन्द्रं देवीरित्येतामृचं जपति यजमानः। ततो ब्राह्मणभोजनमिति ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

सरला

१. भाद्रपद की पूर्णिमा को इन्द्रयज्ञ (करना चाहिए)।

२. इन्द्रजन्य खीर-पुये पकाकर, (अग्नि के चारो ओर) पुये बिछाकर, अग्नि और सोम की आहुतियाँ डालकर 'इन्द्राय'''' प्रभृति ५ मंत्र पढ़कर (पाँच) घृताहुतियाँ डाले। तदनन्तर इन्द्र के लिए एक पायस-आहुति होम कर (स्विष्टकृदादि होम होना चाहिए)।

३. संस्रव–प्राशन के अनन्तर मरुद्गण के लिए बलि-प्रदान करना चाहिए क्योंकि श्रुति का कथन है : मरुद्गण अहुत का भक्षण करते हैं।

४. (वलि-हरण) पीपल के पत्तों पर ही (किया जाये, क्योंकि वैदिक) वचनानुसार मरुद्गण की स्थिति (कदाचित्) अश्वत्थ-पत्र पर ही थी।

५. 'शुक्रज्योतिः....' प्रभृति (छः मंत्र पढ़कर) प्रति मंत्र(एक वलि दी जाये)।

६–७. 'उग्रश्च भीमश्च....' (इस सातवें मंत्र का उच्चारण) मन में करके (सात वलियाँ कुल दी जायें)।

८. श्रुतिवाणी के अनुसार ('शुक्रज्योतिः, चित्रज्योतिः' आदि) मरुतों के नाम हैं।

९. (वलि-हरण के अनन्तर) 'इन्द्र दैवी....' ऋचा जपनी चाहिए।

१०. तदनन्तर ब्राह्मण-भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. 'शुक्रज्योति....' मंत्रों का प्रयोग—

(१) शुक्रज्योति० नमः। इदं शुक्रज्योतिषे चित्रज्योतिषे सत्यज्योतिषे ज्योतिष्मते शुक्राय ऋतपसेऽत्यंहसे च न मम ॥

(२) ईदृङ्चान्यादृङ्च० दा नमः। इदमीदृशेऽन्यादृशे सदृशे प्रतिसदृशे मिताय संमिताय सभरे च न मम ॥

(३) ऋतश्च० रयो नमः। इदमृताय सत्याय ध्रुवाय वरुणाय धर्त्रे विधर्त्रे विधारयाय च न मम ॥

(४) ऋतजिच्च० गणे नमः। इदमृतजिते सत्यजिते सेनजिते सुषेणायान्तिमित्राय दूरे अमित्राय गणाय च न मम० ॥

(५) ईदृक्षास० अस्मिन्नमः। इदमीदृक्षेभ्य एतादृक्षेभ्यः सदृक्षेभ्यः प्रतिसदृक्षेभ्यो मितेभ्यः सम्मितेभ्यः सभरेभ्यो न मम ॥

(६) स्वतवांश्च० ज्जेषी नमः। इदं स्वतवसे प्रघासिने सान्तपनाय गृहमेधिने क्रीडिने शाकिणे उज्जेषिणे च न मम ॥

(७) उग्रश्च भीमश्च...पः स्वाहा नमः। मनसा। इदमुग्राय भीमाय ध्वान्ताय धुनये सासह्वते अभियुग्वने विक्षिपाय च न मम ॥

२. गदाधर, विश्वनाथ—ब्राह्मण-भोजन के अनन्तर वैश्वदेव।

३. गदाधर के अनुसार अश्वत्थ के पत्तों की सार्वकालिका चंचलता का कारण उन पर मरुद्गण की अवस्थिति ही है।

षोडशी कण्डिका

आश्वयुज्यां पृषातकाः ॥ १ ॥ पायसमैन्द्रं श्रपयित्वा दधिमधुघृतमिश्रं जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे चेति ॥ २ ॥

प्राशनान्ते दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोति ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा व्यगात्स्वाहेति ॥ ३ ॥ दधिमधुघृतमिश्रममात्या अवेक्षन्त आयात्विन्द्र इत्यनुवाकेन ॥ ४ ॥ मातृभिर्वत्सान्संसृज्य ता ँ रात्रिमाग्रहायणीं च ॥ ५ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ६ ॥ १६ ॥

हरिहरभाष्यम्

(आश्वयुज्यां पृषातका) पृषातका इतिसंज्ञकं कर्म भवति पृषातका आश्वयुज्यां पूर्णिमायां भवति (पायसमैंद्रं श्रपयित्वा दधिमधुघृतमिश्रं जुहोति) तत्र ऐंद्रम् इंद्रदैवत्यं पायसं चरुं संसाध्य दधिमधुघृतैर्मिश्रं कृत्वा आवसथ्याग्नौ जुहोति केभ्य इत्याह (इंद्रायेंद्राण्या अश्विभ्यामाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे चेति) इन्द्रायेत्यादिभिः पंचभिर्मंत्रैः स्वाहाकारांतैः प्रतिमन्त्रं पञ्चाहुतीर्जुहोति यथामन्त्रवर्णत्यागः ॥ (प्राशनांते दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोत्यूनं मे पूर्यतां पूर्णम्मे माविगात्स्वाहेति) ततः स्विष्टकृत्प्रभृति प्राशनांते दध्ना पृषातकं पृषदाज्यं दधिपृषातकमंजलिना ऊनं म इत्यादिना मन्त्रेण जुहोति। पृषदाज्यं घृते दधिप्रक्षेपाद् भवति (दधिघृतमिश्रममात्या अवेक्षंत आयात्विंद्र इत्यनुवाकेन) ततो दधिमधुघृतमिश्रं हुतशेषं पायसम् अमात्या अमा च गृहं तत्र भवा अमात्या यजमानस्य गृह्याः भ्रातृपुत्रादयः आयात्विन्द्रो वस उप न इत्यारभ्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न इत्यंतेन अनुवाकेनावेक्षंते पश्यन्ति (मातृभिर्वत्सान् संसृज्यतां रात्रिं) ताम् आश्वयुजीसम्बन्धिनीं रात्रिं वत्सान् मातृभिर्जननीभिर्धेनुभिः संसृज्य संसृष्टान् कृत्वा तां रात्रिमिति 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया। तेन संध्यानां वत्सान् संसृज्य सकलां रात्रिं न बध्नीयात् (आग्रहायणीं च) न केवलं तामेव रात्रिं वत्ससंसर्गः आग्रहायणीं च मार्गशीर्षसंबंधिनीमपि रात्रिं (ततो ब्राह्मणभोजनम्) इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः। तत्र आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातकाख्यं कर्म भवति तद्यथा प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिकपूर्वकम् आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादि। प्राशनांते विशेषः सक्षीराः प्रणीताः प्रणयेत् दधिमधुनी उपकल्पयेत् प्रणीताः क्षीरेण पायसं श्रपयेत् तत उपयमनकुशादानादर्वाक् पायसे दधिमधुघृतानि श्रपयेत् आज्यभागानंतरं दधिमधुघृतमिश्रेण पायसेन इंद्राय स्वाहा इदमिंद्राय इंद्राण्यै स्वाहा इदमिंद्राण्यै अश्विभ्यां स्वाहा इदमश्विभ्यां आश्वयुज्यै पौर्णमास्यै स्वाहा इदमाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै शरदे स्वाहा इदं शरदे। एवं पंचाहुतीर्हुत्वा तत एव पायसात् स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानांते स्थाल्याज्यं दधि आसिच्य पृषदाज्यं कृत्वा अंजलिनाऽऽदाय ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे माविगात्स्वाहेति मन्त्रेणैकामाहुतिं जुहोति इदमग्नये। ततो दधिमधुघृतमिश्रं हुतशेषं पायसम् अमात्याः पुत्रादयः आयात्विंद्र इत्यनुवाकेन यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न इत्यंतेन अवेक्षन्ते। ब्राह्मणभोजनं कृत्वैतत्कर्मांगतया ब्राह्मणमेकं भोजयिष्ये ॥

इति पारस्करगृह्यसूत्रे हरिहरभाष्ये द्वितीयकाण्डे षोडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

सरला

१. आश्विन पूर्णिमा को पृषातक (संज्ञक कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए)।

२. इन्द्र जन्य पायस पकाकर (उसमें) दही, मधु और घी मिलाकर 'इन्द्राय…' प्रभृति (पांच मन्त्र पढ़कर, प्रति मंत्र एक आहुति के क्रम से पांच) आहुतियां दी जायें।

३. संस्रव-प्राशन के अनन्तर पृषदाज्य (दधिमिश्रित घी) का 'ऊनं मे…' मंत्र पढ़कर अञ्जलि से होम करे।

४. अमात्य (यजमान के भाई, बेटे) 'आयातु…स्वस्तिभिः सदा' अनुवाक् को पढ़कर दधि, मधु और घृतमिश्रित चरु को देखें।

५. उस रात्रि में और अगहन की (रात्रि में) बछड़ों को उनकी माताओं से मिला देना चाहिए।

६. (कर्म समाप्त होने पर अर्थात् प्रातःकाल) ब्राह्मण को भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. यह स्पष्ट नहीं होता कि 'ऊनं मे पूर्यंताम्' मंत्र से होनेवाले होम का अधिष्ठाता देव कौन है ? देवता का ज्ञान तद्धित, चतुर्थी, मंत्र, लिङ्ग, वाक्य और प्रकरण से होता है। यहां 'दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोति' में केवल पृषातक—द्रव्य—की सूचना हैं, न तद्धित है और न ही चतुर्थी। मंत्र में भी देवताज्ञापक लिङ्ग और वाक्य का अभाव है। शेष रहा प्रकरण। 'ऐन्द्रं पायसं श्रपयित्वा —' तद्धित से ज्ञात होता है कि इस अनुष्ठाता के देवता इन्द्र हैं किन्तु 'छन्दोगपरिशिष्ट'गत निम्न-लिखित परिभाषा के अनुसार इसके देवता प्रजापति ठहरते हैं—

'आज्यं द्रव्यमनादेशे जुहोतिषु विधीयते।
मन्त्रस्य देवतायाश्च प्रजापतिरिति स्थितिः॥'

वाक्य और प्रकरण में वाक्य के प्रबल होने के कारण प्रकरण का बाध हो जाता है—इसलिए प्रजापति ही देवता हैं।

भाष्यकारों में कर्क ने इस समस्या पर विचार नहीं किया। जयराम ने उपर्युक्त वाक्यप्रमाण के बल पर अग्नि को देवता माना है क्योंकि उनके अनुसार वही प्रजापति हैं—'अग्निदेवात्र देवता तस्य प्रजापतित्वश्रवणात्।' हरिहर ने प्रजापति को ही देवता ठहराया है—अग्नि को नहीं। वासुदेवदीक्षित के अग्निपरक मत का खण्डन उन्होंने किया है—'इह प्रजापतिरेव देवता। वासुदेवदीक्षितास्तु स्वपद्धतावग्नय इति लिखितवन्तः तत्कुत इति न ज्ञायते'—इससे ज्ञात होता है कि वे अग्नि को प्रजापति नहीं मानते। गदाधर इन्द्र ही मानते हैं, उन्होंने निरुक्त का निम्नाङ्कित वचन

उद्धृत करते हुए इन्द्र की प्रधानता इस अनुष्ठान में स्वीकार की है—'तथा येऽनादिष्ट-देवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्तीति।'

विश्वनाथ ने विना कोई तर्क दिए ही 'इदमग्नय इति त्यागः' कहकर अग्नि को देवता मान लिया है।

मंत्रार्थ

१. ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा व्यगात्।

गार्ग्य, गायत्री।

प्रजापति! मेरी न्यूनता को भरिये; पूर्णता अपूर्णता में न परिवर्तित होने पाये।

सप्तदशीकण्डिका—सीतायज्ञ

अथ सीतायज्ञः ॥ १ ॥ व्रीहियवानां यत्र यत्र यजेत् तन्मयꣳस्थालीपाकꣳश्रपयेत् ॥ २ ॥ कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरꣳस्थालीपाकं श्रपयेत् ॥ ३ ॥ न पूर्वचोदितत्वात्संदेहः ॥ ४ ॥ असंभवाद्विनिवृत्तिः ॥५॥ क्षेत्रस्य पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे फलानुपरोधेन ॥ ६ ॥ ग्रामे वोभयसंप्रयोगादविरोधात् ॥ ७ ॥ यत्र श्रपयिष्यन्नुपलिप्त उद्धृतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय तन्मिश्रैर्दर्भैः स्तीर्त्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति ॥ ८ ॥ पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा। यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन्कर्मणि वृत्रहन्। तन्मे सर्वं समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳस्वाहा। संपत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳश्रैष्ठ्यꣳश्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा। यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्। इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि स्वाहा ॥अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता। खलमालिनीमुर्वरामस्मिन्कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्स्वाहेति ॥ ९ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति सीतायै यजायै शमायै भूत्या इति ॥ १० ॥ मन्त्रवत्प्रदानमेकेषाम् ॥ ११ ॥ स्वाहाकारप्रदाना इति श्रुतेर्विनिवृत्तिः ॥ १२ ॥ स्तरणशेष (कुशे ? कूर्चे) षु सीतागोप्त्रीभ्यो बलिं हरति पुरस्ताद्ये त आसते सुधन्वानो निषङ्गिणः। ते त्वा पुरस्ताद्गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १३ ॥ अथ दक्षिणतोऽनिमिषा वर्मिण आसते। ते त्वा दक्षिणतो गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १४ ॥ अथ पश्चात् आभुवः प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनङ्कुरिः। ते त्वा पश्चाद्गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १५ ॥ अथोत्तरतो

भीमा वायुसमा जवे। तेत्वोत्तरतः क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति ॥ १६ ॥ प्रकृता-दन्यस्मादाज्यशेषेण च पूर्ववद्बलिकर्म ॥ १७ ॥ स्त्रियश्चोपयजेरन्नाचरि-तत्वात् ॥ १८ ॥ स ॐ स्थिते कर्मणि ब्राह्मणान्भोजयेत्स ॐ स्थिते कर्मणि ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ १९ ॥ १७ ॥

हरिहरभाष्यम्

(अथ सीतायज्ञः) अथेदानीं सीतायज्ञकर्म व्याख्यास्यत इति शेषः। तत्र कृतिप्रवृत्त-औपासनिकोऽधिक्रियते (व्रीहियवानां यत्र यत्र यजेत तन्मयं स्थालीपाकं श्रपयेत्) तत्र सीतायज्ञे व्रीहयश्च यवाश्च व्रीहियवास्तन्मध्ये यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् व्रीहिकाले यवकाले वा यजेत सीतायज्ञेन तन्मयं व्रीहिमयं व्रीहिकाले यवमयं यवकाले स्थालीपाकं चरुं श्रपयेत् (कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेत्) कामात् इच्छातः अन्यत्रापि यज्ञादिप्रभृतिषु ईजानो यागं कुर्वन् व्रीहियवयोरेव अन्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेत् (न पूर्वचोदिष्टत्वात्संदेहः) अत्र व्रीहियवयोरन्यतरस्य यागमात्रसाधनद्रव्यत्वेन न संदेहः कुतः पूर्वचोदिष्टत्वात् पूर्वोपदिष्टत्वात् कुत्रेति चेत् व्रीहीन् यवान्वा हविषि इत्यत्र कल्पे अतो न संदेहः (असंभवाद्विनिवृत्तिः)। ननु यावस्य चरोर्विनिर्वृत्तिर्दृश्यते कथमन्यतरं स्थालीपाकं श्रपयेदिति चेत् उच्यते यावस्य चरोर्या निवृत्तिः सा असंभवात् न शास्त्रात् अतो नायम् असंभवविनिवृत्तस्य यावस्य चरोः प्रतिप्रसवः यतः सामान्यशास्त्रविहितं क्वचिच्छास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धं पुनर्विधीय-मानं हि प्रतिप्रसवमुच्यते। इदं त्वसंभवात्प्रतिषिद्धं कथमसंभव इति चेत् अनवस्रा-वितांतरोष्मतक्के ईषदसिद्धे तण्डुलपाके चरुशब्दप्रयोगप्रत्ययात् अतो वाचनिको याव-स्थालीपाको यत्र तत्र गुलिकाभिः संपाद्यते। यत्र पुनर्विकल्पः तत्रासंभवाद्विनिवृत्तिरिति (क्षेत्रस्य पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे फलानुपरोधेन) क्षेत्रस्य सस्यवतः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उत्तरतो वा उदीच्यां वा शुचौ अमेध्यद्रव्यरहिते देशे कृष्टे फालेन विलिखिते फलस्य सस्यस्य अनुपरोधः अबाधः फलानुपरोधेन सीतायज्ञः कर्त्तव्यः (ग्रामे चोभय-संप्रयोगात्) यद्वा ग्रामे कर्त्तव्यः कुतः उभयसंप्रयोगात् उभयं क्षेत्रं ग्रामश्च संप्रयोक्तुम् अधिकरणतया संबद्धुं शक्यते फलानुपरोधेन कृष्टत्वेन वा पुरस्तादुत्तरतो वा शुचौ देशे कृष्टे इति ग्रामस्यापि विशेषांगत्वेन संबध्यते अविरोधात्। ननु क्षेत्रग्रामयोः एकतरो-पादानेन अन्यतरस्य बाधः प्रसज्येत ततो विरोध इति चेत् न, (अविरोधात्) न विरोधः अविरोधस्तस्मादविरोधाद्विकल्पादेकतरोपादानं न दोषः व्यवस्थासंभवे हि अष्टदोषदुष्टोपि विकल्पः आश्रीयते न्यायविद्भिः (यत्र श्रपयिष्यन्नुपलिप्तउद्धतावोक्षितेऽ-ग्निमुपसमाधाय तस्मिंश्चदर्भैस्तीर्त्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति) यत्र क्षेत्रे ग्रामे वा चरुं श्रपयिष्यन् भवति श्रपयितुमिच्छन् भवति तत्र उपलिप्ते गोमयोदकेन उद्धते स्फ्येनो-ल्लिखिते अवोक्षिते मणिकोदकेन सिक्ते अग्निमावसथ्य स्थापयित्वा अत्र पुनरुपलेपना-

द्युपदेशः दृष्टेपि प्राप्त्यर्थः न पुनः परिसमूहनोद्धरणनिवृत्त्यर्थः तन्मिश्रेर्दर्भैस्तीर्त्वा तैर्व्रीहि-भिर्यवैर्वा मिश्रा मिलिता दर्भास्तन्मिश्रैर्दर्भैः अग्निं स्तीर्त्वा परिस्तीर्य आज्यभागयागा-नंतरं वक्ष्यमाणमन्त्रैः पृथिवी द्यौरित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेण पञ्चाज्याहुतीर्जुहोति । (स्थालीपाकस्य जुहोति सीतायै जयायै शमायै भूत्यै इति मन्त्रवत्प्रदानमेकेषां) स्थाली-पाकस्य इत्यवयवलक्षणा तस्य सीताद्याभ्यश्चतसृभ्यो देवताभ्यश्चतस्र आहुतीः क्रमेण तन्नामभिरेव चतुर्थ्यंतैः स्वाहाकारांतैश्च जुहोति । एकेषामाचार्याणां मते मंत्रवदेव प्रधानं होमः न स्वाहाकारः किं कारणम् आह (स्वाहाकारप्रदाना इति श्रुतेः) स्वाहाकारेण प्रदानं येषु ते स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः इति श्रुतेः । श्रुतौ श्रौतकर्मणि स्वाहाकार-प्रदानत्वम् इदं तु स्मार्त्तं कर्म्मं । ननु वषट्कारेण च देवेभ्योन्नं प्रदीयत इति सामान्य-वचनाद् गृह्येपि प्रवर्त्ततामिति चेत् न चात्र वषट्कारस्य प्रवृत्तिः किमिति याज्यापुरो-नुवाक्यवत्त्वे वषट्कारस्य प्रवृत्तिरिति याज्यापुरोनुवाक्यवत्त्वे वषट्कारस्य श्रवणात् तेन सह पाठाच्च स्वाहाकारोऽप्यत्र निवर्त्तते न (विनिवृत्तिः) मन्त्रवत्प्रदानमित्येतस्य पक्षस्य विनिवृत्तिः निरासः अप्रवृत्तिः । कुतः स्मार्त्तेऽपि कर्मणि स्मृतिकारैः स्वाहाकारस्य विधानात् तथा छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः "स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौक-साम् । हंतकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥" इति । अथ सीतायज्ञे चेत्यनेन सूत्रेणातिदिष्टाभ्यो लांगलयोजनदेवताभ्यः तद्भूतोपात्तस्थालीपाकेनास्मिन्नवसरे जुहुयात् । कुतः तत्स्थालीपाकहोमाधिकारात् ततः स्विष्टकृदादि (स्तरणाशेषकूर्चेषु सीतागोप्तृभ्यो बलिं हरति पुरस्ताद्ये त आसत इत्यादि) तत्र पुरस्ताद्य इत्यादिभिश्चतुर्भिर्मंत्रैस्तरण-शेषभाव उपसर्जनत्वं गताः प्राप्ताः एव कुशास्तेषु स्तरणकुशेषु बलिं हरन्ति केभ्यः सीतागोप्तृभ्यः सीता लांगलपद्धतिस्तां गोपायन्ति पालयन्ति ये ते सीतागोप्तारस्तेभ्यः स्तरणशेषकूर्चाः प्राच्यादिषु चतसृषु दिक्षु यथालिंगं प्रकृतादन्यस्मादाज्यशेषेण च पूर्व-वद्बलिकर्म प्राकृतात्प्रधानदेवतासम्बन्धिनो व्रैह्याद्यावाद्वा स्थालीपाकात् अन्योन्यः सिद्धोपात्तश्चरुस्तस्मात्स्थालेनाज्यशेषेण च पूर्ववत् लांगलयोजनवत् बलिकर्म इंद्रपर्ज-न्यादिभ्यो बलिहरणं कर्त्तव्यं स्त्रियश्चोपयजेरन्नाचरितत्वात् स्त्रियश्च भार्यादिकाः उपयजेरन् बलिकर्मणा ताभ्य एव देवताभ्यः पूजां कुर्युः कुत एव तत् आचरितत्वात् प्राचीनाभिः स्त्रीभिः बलिकर्मणः कृतत्वात् संस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान् भोजयेत् संस्थिते समाप्ते सीतायज्ञाख्ये कर्मणि ब्राह्मणान् विप्रान् त्रिप्रभृतीन् भोजयेत् आशयेद् भक्ष्यभोज्यादिभिः । द्विरुक्तिरत्र काण्डसमाप्तिनिबन्धना ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अथ प्रयोगः ॥ अथ सीतायज्ञः कृषिं कुर्वतः साग्नेः व्रीहिनिष्पत्तिकाले यवनिष्पत्तिकाले च भवति तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाभ्युदयिके भवतः अनन्तरं क्षेत्रस्य पूर्वत उत्तरतो वा कृष्टे शुचौ देशे यत्र सस्यानि न नश्यन्ति तत्रेदं कर्म कुर्यात् यद्वा ग्रामे पूर्वत उत्तरतो वा शुचिदेशस्य कर्षणं विधाय तत्र कर्त्तव्यम् । एवं देशद्वयान्यतरे देशे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा औपासनाग्निमुपसमाधाय ब्रह्मोपवेशनादि कुर्यात् । तत्र विशेषः व्रीहिकाले व्रीहि-सस्यमिश्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति यवकाले यवसस्यमिश्रैः तथा व्रीहिकाले व्रीहिमयम्

एकमेव चरुं यवकाले यवमयं श्रपयति अपरं स्थालीपाके सिद्धमेवासादयति तण्डुलानन्तरम् उपकल्पयति बलिपटलकं बलिपटलकमिति शूर्पादिकं वैणवं पात्रं कल्माषौदनयुक्तमुच्यते । तण्डुलानन्तरं सिद्धचरुं प्रोक्षति आज्यभागानन्तरं पञ्चाहुतीर्जुहोति यथा—पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः । तमिहेंद्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ॥ इदमिंद्राय यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन् तन्मे सर्वं समृध्यतां जीवतः शरदः शतं स्वाहा इदमिंद्राय संपत्तिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यं श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा इदमिंद्राय । यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम् इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीतां सा मेऽस्त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा इदमिंद्रपत्न्य अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता स्वमलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवां सा मेऽस्त्वनपायिनी भूयात्स्वाहा इदं सीतायै ॥ अथ प्रकृतस्य स्थालीपाकस्य चतस्र आहुतीर्जुहोति यथा सीतायै स्वाहा इदं सीतायै जयायै स्वाहा इदं जयायै शमायै स्वाहा इदं शमायै भूत्यै स्वाहा इदं भूत्यै । अथ सिद्धेन स्थालीपाकेन लांगलयोजनदेवताभ्योऽष्टाहुतीर्जुहोति तद्यथा इन्द्राय स्वाहा इदमिंद्राय पर्जन्याय स्वाहा इदं पर्जन्याय अश्विभ्यां स्वाहा इदमश्विभ्यां मरुद्भ्यः स्वाहा इदं मरुद्भ्यः उदलाकाश्यपाय स्वाहा इदमुदलाकाश्यपाय स्वातिकार्यै स्वाहा इदं स्वातिकार्यै सीतायै स्वाहा इदं सीतायै अनुमत्यै स्वाहा इदमनुमत्यै यथादैवतं त्यागः प्रकृतात्सिद्धान्नचरोः स्विष्टकृतः । ततो महाव्याहृत्यादि ब्रह्मणे दक्षिणादानांतं कृत्वा क्षेत्रस्य पुरस्तादारभ्य प्रादक्षिण्येन प्रतिदिशं स्तरणशेषकुशतृणान्यास्तीर्य तेषु मुख्येन चरुणा यथास्तरणं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्बलीन् हरति यथापुरस्ताद्य एत आसते सुधन्वा निषंगिणः । ते त्वा पुरस्ताद्गोपायंत्वप्रमत्ता अनपायिनो नमः ॥ एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम् इति पुरस्ताद्बलिहरणमन्त्रः । इदं सुधन्वभ्योनिषंगिभ्यः । अथ दक्षिणतो निमिषावर्मिण आसते ते त्वा दक्षिणतो गोपायंत्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम् इति दक्षिणतो बलिहरणमन्त्रः इदमनिमिषेभ्यो वर्मिभ्यः । अथ पश्चाद् भुवः प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनंकुरिः ते त्वा पश्चाद् गोपायंत्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीममिति पश्चिमतो बलिहरणमन्त्रः । इदमाभूभ्यो भूत्यै भूम्यै पार्ष्ण्यै शुनंकुर्यै । अथोत्तरतो भीमा वायुसमा जवे ते त्वोत्तरतः क्षेत्रखले गृहेऽध्वनि गोपायंत्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम् इति उत्तरतो बलिहरणमन्त्रः । इदं भीमेभ्यो वायुसमाजवेभ्यः । अथ सिद्धचरुशेषं स्थालीनाज्यशेषेण सन्नीयते नेंद्रादिभ्योऽनुमत्यंतेभ्यो लांगलयोजनदेवताभ्यो बलि हरति । ततो बलिपटलकेन स्त्रियश्चन्द्रादिभ्यो हलयोजनदेवताभ्यः अन्येभ्यश्च वृद्धव्यवहारसिद्धेभ्यः क्षेत्रपालादिभ्यः बलिदानं कुर्युः ततो ब्राह्मणान्भोजयेत् । इति सप्तदशी कण्डिका ॥ १७ ॥

इत्यग्निहोत्रिहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्विकायां प्रयोगपद्धतौ द्वितीयः काण्डः समाप्तः ॥ २ ॥

सरला

१. अब सीतायज्ञ (की विधि बतलाई जा रही है) ।

२. व्रीहि अथवा यव में से जब जिसका काल हो, उसका स्थालीपाक पकाये ।

३. अन्यत्र (पक्षादि कर्म आदि में) भी इच्छानुसार व्रीहि और यव में से ही किसी एक का स्थालीपाक पकाना चाहिए ।

४. ('व्रीहियवान्हविषी'—इस परिभाषा सूत्र में) पूर्वोपदिष्ट होने के कारण (व्रीहि या यव के यज्ञमात्र के साधन द्रव्य होने में) संदेह नहीं है ।

५. असंभव होने के कारण जौ का चरु निवृत्त हो जाता है (इसलिए व्रीहि का ही चरु बनाना चाहिए) ।

६. खेत के पूर्व अथवा उत्तर में पवित्र स्थान पर—जो जुता हुआ हो, फसल को बिना हानि पहुँचाये (सीतायज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए) ।

७. अथवा (सीतायज्ञ का अनुष्ठान) ग्राम में (भी किया जा सकता है) क्योंकि विरुद्ध न होने के कारण दोनों में ही (सीतायज्ञ) करने का अधिकार है । (क्षेत्रे के सभी विशेषण यहां भी लगेंगे) ।

८–९. जहाँ (क्षेत्र या ग्राम में) (स्थालीपाक) पकाने की इच्छा हो (वहाँ) लीपे हुए, (काष्ठ-खंड या कुश–मूल से रेखायें खिंची हुई हों) धूलि उठ चुकी हो, (मणिकोदक से) सिक्त (स्थान पर) आवसथ्याग्नि की स्थापना कर, व्रीहि या यवमिश्रित कुशों से अग्नि का परिस्तरण कर, अग्नि–सोम की आहुतियां डालकर 'पृथिवी द्यौ···' प्रभृति (पांच) मंत्र पढ़ते हुए (पांच) घृताहुतियां डाले ।

१०. 'सीतायै···' प्रभृति मंत्र पढ़कर स्थालीपाक की (चार) आहुतियाँ डाले ।

११–१२. कुछ (आचार्यों के मत से) यथामंत्र ही होम किया जाये (मंत्रों के साथ 'स्वाहाकार' न जोड़ा जाये क्योंकि श्रुतिवचन के अनुसार श्रौत आहुतियों के साथ ही 'स्वाहा' शब्द जुड़ता है । यह है स्मार्त्त कर्म । यदि—'वषट्कारेण वा स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते'—इस सामान्य उक्ति के अनुसार यहां भी 'स्वाहाकार' की प्रवृत्ति मान ली जाय ? नहीं । वषट्कार की यहां प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि याज्या और पुरोनुवाक्या में ही वषट्कार का प्रयोग होता है और वषट्कार के साथ पठित होने कारण स्वाहाकार की निवृत्ति भी स्वयमेव हो जाती है ।)

सूत्रकार ने 'विनिवृत्तिः' कहकर उपर्युक्त पक्ष का खण्डन किया है (क्योंकि कात्यायन-स्मृति के निम्नलिखित विधान से स्मार्त्त कर्म में भी 'स्वाहाकार' का प्रयोग हो सकता है—

'स्वाहाकारवषट्कारनमस्कारा दिवौकसाम् ।
हन्तकारो मनुष्याणां स्वधाकारः स्वधाभुजाम् ॥'

अतः चतुर्थ्यन्त, नमस्कारान्त मंत्रों के साथ 'स्वाहा' जुड़ेगा) ।

(इस अवसर पर 'अथ सीतायज्ञः' सूत्र से अतिदिष्ट 'लाङ्गलयोजन' के देवताओं को भी आहुतियां प्रदान की जायें क्योंकि स्थालीपाक होम में उनका अधिकार है) ।

१३-१६. (अग्नि-परिस्तरण में) अङ्गभाव को प्राप्त कुशासनों पर सीतागोप्ता (लाङ्गलपद्धति के पालक) देवताओं को 'पुरस्ताद्ये....' प्रभृति मंत्र पढ़कर क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में वलि प्रदान की जायें ।

१७. प्रस्तुत व्रीहि अथवा यव के चरु के अतिरिक्त अन्य चरु और अवशिष्ट आज्य से लाङ्गलयोजनवत् (इन्द्र, पर्जन्य प्रभृति देवताओं को) वलि दी जायें ।

१८. (तदनन्तर भार्या आदि) स्त्रियां (इन्द्र और क्षेत्रपाल प्रभृति को) वलि प्रदान करें क्योंकि पूर्वज इसे करते आये हैं ।

१९. कर्मानुष्ठान समाप्त होने पर (तीन) ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।

टिप्पणी—१. १९ वें सूत्र की द्विरुक्ति काण्ड-समाप्ति-सूचक है ।

२. विश्वनाथ के मत से दस ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।

मंत्रार्थ

१. पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, इन्द्र ।

पृथिवी, द्युलोक, दिशायें और उपदिशायें जिन इन्द्रदेव की दीप्ति से दीप्तिमयी हैं—हम उनका आह्वान करते हैं; उनके वज्रादि आयुध हमारा कल्याण करें ।

(यस्मै—षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग)

२. यन्मे किञ्चिदुपेप्सितमस्मिन्कर्मणि वृत्रहन् । तन्मे सर्वं समृध्यतां जीवतः शरदः शतꣳ ॥

वही ।

हे वृत्रहन्ता इन्द्र ! इस यज्ञानुष्ठान में हमारी जो कुछ कामनायें हैं—उन्हें आप पूर्ण कीजिये; १०० वर्ष की आयु प्रदान कीजिए ।

३. संपत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ श्रीः प्रजामिहावतु ॥

प्रजापति, प्रतिष्ठा, लिङ्गोक्तदेवता ।

(लाङ्गल-पद्धति के पालक देवगण) संपत्ति, ऐश्वर्य, आश्रय-स्थान, वृष्टि, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता और सौन्दर्य प्रदान करते हुई (हमारी) संतानों (और आश्रित स्वजनों) की रक्षा करें ।

४. यस्याभावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवतिकर्मणाम् । इन्द्रपत्नी-मुपह्वये सीताꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात्कर्मणि कर्मणि ॥

प्रजापति, पङ्क्ति, लिङ्गोक्तदेवता (सीता) ।

सभी वैदिक और लौकिक अनुष्ठानों में जिनके उपस्थित रहने से ऐश्वर्य-प्राप्ति होती है, मैं उन्हीं इन्द्र-पत्नी सीता का आह्वान करता हूँ; वे प्रत्येक अनुष्ठान में मेरे लिए अन्नदात्री सिद्ध हों ।

५. अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता । खलमालिनीमुर्वरामस्मिन्कर्मण्युपह्वये ध्रुवाꣳ सा मे त्वनपायिनी भूयात् ॥

प्रजापति, जगती, लिङ्गोक्तदेवता ।

मैं प्रस्तुत अनुष्ठान में उस उर्वराशक्ति की अधिष्ठात्री और अन्नराशि की शोभा बढ़ानेवाली अटल देवी का आह्वान करता हूँ जो अश्व और गायों की समृद्धि से युक्त हैं, प्रिय और सत्यवचन बोलती हैं तथा समग्र प्राणियों का निरालस्य रहकर भरण-पोषण करती हैं । वे हमारे दुःख नष्ट करें ।

६. पुरस्ताद्य त आसते सुधन्वानो निषङ्गिणः । ते त्वा पुरस्ता-द्गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नमः । एषां करोम्यहं···हरीमीमम् ॥

परमेष्ठी, यजुष्, लिङ्गोक्त देवता ।

(हे सीते !) जो श्रेष्ठ धनुर्धर और तरकश युक्त देवता तुम्हारे पूर्ववर्ती हैं, वे प्रमादरहित होकर पूर्वदिशा में तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हारे कष्ट दूर करें । मैं उन्हें नमस्कार बलि अर्पण कर रहा हूँ ।

७. अथ पश्चात् आभुवः प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनङ्कुरिः···॥

वही ।

(ओ सीते !) जो देवता तुम्हारे पश्चिम हैं, वे सर्वतोभव एवं प्रभावी हैं, भूति, भूमि, पार्ष्णि और शुनङ्कुरि आदि उनके नाम हैं ।

८. अथ दक्षिणतोऽनिमिषा वर्मिण आसते···॥

वही ।

(ओ सीते !) तुम्हारे दक्षिणस्थ देवता बिना पलक वन्द किये सन्नद्ध रहने वाले हैं।

९. अथोत्तरतो भीमा वायुसमा जवे ॥

तुम्हारे उत्तर पार्श्व में स्थित देवता भीषण और वायुसदृश वेगवान् हैं ।

इति द्वितीयः काण्डः समाप्तः ।

—❀❀—

अथ तृतीयकाण्डम्

प्रथमकण्डिका—नवान्नप्राशनम्

॥ श्रीः ॥ अनाहिताग्नेर्नवप्राशनम् ॥ १ ॥ नवꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुती जुहोति। शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा। ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तराद्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां योऽज्यानिमजीजिमावहात्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे स्वाहेति ॥ २ ॥ स्थालीपाकस्याग्रयणदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति स्विष्टकृते च। स्विष्टमग्ने अभितत् पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अविष्यत्। सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्ध्येह्यजरन्न आयुः स्वाहेति ॥ ३ ॥ अथ प्राश्नाति। अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः। शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः। भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयावशेन समशीमहि त्वा। स नो मयो मयोऽभूः पितो आविशस्व शंतोकाय तनुवे स्योन इति ॥ ४ ॥ अन्नपतीयया वा ॥५॥ अथ यवानामेतमुक्थं मधुना संयुतम् ॥ यवं सरस्वत्या अधिवनाय चक्रुषुः इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानव इति ॥ ६ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ७ ॥ १ ॥

हरिहरभाष्यम्

अनाहिताग्नेर्नवप्राशनम्—अनाहिताग्निरावसथिकः, तस्य नवान्नप्राशनाख्यं कर्म व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। नवप्राशनमिति सञ्ज्ञाऽन्वर्था, ततश्चैतत्कृत्वा नवं प्राश्यते नाकृत्वा। अत्र किं नवमात्रनिषेधः, उत कतिपयानामित्यपेक्षिते गृह्यसंग्रहकारः—"नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः। नाश्नीयात्तानहुत्वैवमन्येष्वनियमः स्मृतः ॥ ऐक्षवः सर्वगुञ्जाश्च नीवाराश्चणकास्तिलाः। अकृताग्रयणोऽश्नीयात्तेषां नोक्ता हविर्गुणाः" इति। न ह्यस्याग्रयणशब्दवाच्यता। तेन पौर्णमास्याममावस्यायामिति नियमो नास्ति। व्रीहियवपाकोचितत्वात् शरद्वसन्तावाद्रियेते। नवꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुती जुहोति। शतायुधायेति—नवं शरदिनूतनं व्रीहिमयं, वसन्ते नूतनं यवमयं स्थालीपाकं चरुं पक्त्वाऽऽज्यभागयोरन्ते शतायुधायेति ये चत्वार इत्येताभ्यां प्रतिमन्त्रं द्वे आज्याहुती जुहोति। स्थालीपाकस्याग्रयणदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति स्विष्टकृते च स्विष्टमग्न इति—अथ स्थालीपाकस्य आग्रयणदेवताभ्य इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः द्यावापृथिवी इत्येताभ्यः प्रत्येकमेकैकामाहुतिं हुत्वा स्विष्टमग्न इत्यनेन मन्त्रेण स्विष्टकृद्धोमात्पूर्वं चकारात् पश्चाचाज्याहुतिं जुहोति। मध्ये स्थालीपाकेन सौविष्टकृतम्।

ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ते। अथ प्राश्नात्यग्निः प्रथम इति—अनेन संस्रवं प्राश्नाति। अत्र हुतशेषप्राशने गुणविधिरयं मन्त्रेण। अन्नपतीयया वा—अन्नपतिरिति अन्नं पतिर्देवता यस्याः सा अन्नपतीया ऋक् तया अन्नपतीयया ऋचा अन्नपतेऽन्नस्ये-त्यादिकया वा विकल्पेन प्राश्नाति। यद्वा अन्नपतिशब्दो यस्यामृचि अस्ति साऽन्नपतीया। अथ यवानामेतमु त्यमिति—अथ व्रीहिप्राशनमन्त्राभिधानानन्तरं यवानां प्राशने मन्त्रमाह एतमु त्यमित्यादि सुदानव इत्यन्तं मन्त्रम्। यवप्राशने पैठीनसिः। "अग्निमेवोपासीत नान्यदैवतम्। अग्निर्भूम्यामिति विज्ञायते न प्रवसेत् यदि प्रवसेदुक्तमुपस्थानं यजमानस्य प्राशितमग्नौ जुहुयात्। नवेष्ट्यामेवौपासनिकस्य।" ततो ब्राह्मणभोजनम्। इति सूत्रार्थः॥ १॥

अथ प्रयोगः। तत्र शरदि वसन्ते च अनाहिताग्नेर्नवप्राशनं कर्म भवति। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजाऽऽभ्युदयिके विदध्यात्। आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः। नवस्थालीपाकं श्रपयित्वा आज्यभागानन्तरमाज्याहुतिद्वयं जुहोति। तद्यथा— "शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे। शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा स्वाहा" इदमिन्द्राय॰ "ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावा-पृथिवी वियन्ति। तेषां योऽज्यानिमजीजिमावहात्तस्मै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे स्वाहा" इदꣳ सर्वेभ्यो देवेभ्यो॰। इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः द्यावापृथिवी स्थालीपाकेनाग्रयण-देवताः। इन्द्राग्निभ्याꣳ स्वाहा इदमिन्द्राग्निभ्यां॰। उपांशु। विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो॰। उपांशु। द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा इदं द्यावापृथिवीभ्यां॰। इति तिस्र आहुतीर्हुत्वा "स्विष्टमग्ने अभितत् प्रणीहि विश्वाँश्च देवः पृतना अभिष्यत्। सुगं नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्ध्येह्यजरन्न आयुः स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेण आज्याहुतिं जुहोति। "इदमग्नये" इति त्यागः। ततः स्थालीपाकात् "अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा" इति हुत्वा त्यक्त्वा च पुनः स्विष्टमग्न इत्यादिनाऽऽज्याहुतिं जुहोति। "इदमग्नये" इति त्यागः। ततो महाव्याहृत्यादि प्राजापत्यहोमान्तं कृत्वा। "अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः। शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः। भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयाऽवशेन समशीमहि त्वा। स नो मयोऽभूः पितो आवि-शस्व शं तोकाय तनुवे स्योनः" इत्यनेन मन्त्रेण संस्रवं प्राश्नाति। अन्नपतेऽन्नस्य नो देहीत्यनयर्चा वा प्राश्नाति। यवान्नप्राशने तु "एतमु त्यं मधुना संयुतम्। यवꣳ सरस्वत्या अधिवनाय चक्रुः इन्द्र आसीत्सरिपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः" इत्यनेन यवसंस्रवं प्राश्नाति। ततो ब्राह्मणभोजनमिति॥ १॥

सरला

१. आवसथिक के (शरद् और वसन्त काल में उत्पन्न) नवान्न के प्राशन (की विधि बतलाई जा रही है)।

२. नये (अन्न का) स्थालीपाक पकाकर, अग्नि और सोम की आहुतियाँ डालकर 'शतायुधाय…'और 'ये चत्वार…'मंत्र पढ़ते हुए (दो) घृताहुतियां डाले।

३. (तदनन्तर) स्थालीपाक से आग्रयण देवताओं (इन्द्राग्नि, विश्वेदेव द्यावापृथिवी) (में से प्रत्येक) को (एक—एक) आहुति प्रदान कर 'स्विष्टमग्ने' मंत्र पढ़ते हुए एक घृताहुति दे; (तदुपरान्त) स्विष्टकृत् अग्नि को (स्थालीपाक से स्विष्टकृते स्वाहा' कहकर एक आहुति देकर) पुनः 'स्विष्टमग्ने' मंत्र से घृताहुति डाले।

४–५. (शेष नौ आहुतियों से होम कर) 'अग्निः प्रथमः''' मंत्र या 'अन्नपते''' ऋचा को पढ़ते हुए संश्रव–प्राशन करे।

६. (चतुर्थ और पञ्चम सूत्रों में व्रीहि-प्राशन का मन्त्र बतलाया जा चुका है) अब यव-प्राशन करे, मन्त्र पढ़े—'एतमुत्यम्'''।

७. तदनन्तर ब्राह्मण को भोजन (कराना चाहिए)।

टिप्पणी—१. सांवाँ, व्रीहि और यव-प्राशन के सन्दर्भ में ही गृह्यसंग्रहकार ने इस कर्म की सार्थकता बतलाई है—

'नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीहयो यवाः।
नाश्नीयात्तानहुत्वैवमन्येष्वनियमः स्मृतः॥
ऐक्षवः सर्वशुङ्गाश्च नीवाराश्चणकास्तिलाः।
अकृताग्रयणोऽश्नीयात्तेषां नोक्ता हविर्गुणाः॥'

२. पूर्णिमा या अमावस्या को ही यह कर्म करना चाहिए—ऐसा कोई बन्धन नहीं है।

३. सांवाँ और आग्रयण (फलादि की हवि) का प्राशन मन्त्ररहित ही होगा-विश्वनाथ।

मंत्रार्थ

१. शतायुधाय शतवीर्याय शतोतये अभिमातिषाहे शतं यो नः शरदोऽजीजानिन्द्रो नेषदति दुरतानि विश्वा॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, इन्द्र।

(यह आहुति) उन इन्द्रदेव के निमित्त है, जो अगणित शस्त्रों से सन्नद्ध, अपरिसीम शक्तियुक्त, असंख्य रक्षा-साधन-सम्पन्न और शत्रुओं को पराजित करने वाले हैं। वे हमारे सम्पूर्ण दुःख और दुर्व्यसन दूर कर १०० वर्ष की जीवनी-शक्ति प्रदान करें।

२. ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तराद्यावापृथिवी वियन्ति। तेषां योऽज्यानिमजीजिमावहात्तस्मै नो देवाः परिधत्तेह सर्वे॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, विश्वेदेव।

हे अशेष देवताओं ! आकाश के सदृश निर्मल जो चार देव-मार्ग द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में स्थित हैं—देवता जिनसे विभिन्न दिशाओं में जाते हैं, उनमें से जो ग्लानि और हानिरहित एवं, प्रजेय बनानेवाला मार्ग है, आप सभी मुझे उसका निर्देश करें।

३. स्विष्टमग्ने अभितत् पृणीहि विश्वांश्च देवः पृतना अविष्यत्। सुगन्तु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धयेह्यजरन्न आयुः ॥

प्रजापति, विराड्, अग्नि।

अग्निदेव ! स्विष्टकृत् (के निमित्त प्रदत्त इस आहुति) में जो कुछ भी न्यूनता हो, आप उसे सर्वथा पूर्ण करें, सपरिवार हमारी शत्रु सेनाओं से रक्षा कीजिए। हमें अर्चि प्रभृति ज्योतिर्मय सुगम मार्ग दिखाते हुए आप यहाँ आकर अजर-(अमर) आयु प्रदान कीजिए।

४–५. अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः। शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः। भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवा-स्त्वयावशेन समशीमहि त्वा। स नो मयोऽभूः पितो आविशस्व शंतोकाय तनुवे स्योनः ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्, जाठर अग्नि।

सर्वधान्याधिप अग्निदेव, जो इस हविष्य से सुपरिचित हैं, सर्वप्रथम इसका भक्षण कर ओषधियों-वनस्पतियों को हमारे लिए सुखद बनायें; इन्द्रादि देवों ! तुम हमें कल्याणयुक्त श्रेय का भाजन बनाते हुए आरोग्य प्रदान करो। पालक अन्नदेव ! हम तुम्हारा सेवन संस्कृत रूप में करें। तुम हमारे भीतर प्रविष्ट होकर सुखरूप शान्तिरूप, पुष्टिरूप और प्रजनन-सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले सिद्ध हो।

६. एतमुत्यं मधुना संयुतम् ॥ यवं सरस्वत्या अधिवनाय चक्रुः इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः ॥

परमेष्ठी, बृहती, लिङ्गोक्तदेवता।

इस प्रत्यक्ष-परोक्ष और माधुर्ययुक्त यवान्न को सरस्वती नदी की तटवर्ती वनभूमि से कर्षक और सुन्दर भोगों को प्रदान करने वाले मरुद्गण ने हल अधिष्ठाता और शतसंख्यक यज्ञ सम्पन्न करने वाले इन्द्र के मार्गदर्शन में कृषिकर्म कर उत्पन्न किया।

द्वितीयकण्डिका—आग्रहायणी कर्म

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणी कर्म ॥ १ ॥ स्थालीपाक ँ श्रप-यित्वा श्रवणवदाज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति। यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं

धेनुमिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा । सवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रीमुपास्महे । प्रजां सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा । संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम स्वाहा । ग्रीष्मो हेमन्त उतनो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः । तेषामृतूना ॐ शतशारदानां निवात एषामभये वसेम स्वाहेति ॥ २ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति । सोमाय मृगशिरसे मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै हेमन्ताय चेति ॥ ३ ॥ प्राशनान्ते सक्तुशेषं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृत्यामार्जनात् ॥ ४ ॥ मार्जनान्त उत्सृष्टो वलिरित्याह ॥ ५ ॥ पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तीर्याहतं च वास आप्लुता अहतवाससः प्रत्यवहरोहन्ति दक्षिणतः स्वामी जायोत्तरा यथाकनिष्ठमुत्तरतः ॥६॥ दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरतः उदपात्रं शमीशाखासीतालोष्ठाश्मनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपति । अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः । सुवीर्योऽयं श्रैष्ठ्यै दधातु नाविति ॥ ७ ॥ पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति ॥८॥ दैवीं नावमिति तिसृभिः स्रस्तरम.रोहन्ति ॥ ९ ॥ ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन्प्रत्यवरोहामेति ॥ १० ॥ ब्रह्मानुज्ञाताः प्रत्यवरोहन्ति आयुः की(र्ति ? र्तिं) र्यशो वलमन्नाद्यं प्रजामिति ॥ ११ ॥ उपेता जपन्ति । सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयतान्नः । शिवा नो वर्षाः सन्तु शरदः सन्तु नः शिवा इति ॥ १२ ॥ स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति ॥ १३ ॥ उपोदुतिष्ठन्ति उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्याः सप्तधामभिरिति ॥ १४ ॥ एवं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः ॥ १५ ॥ अधः शयीरंश्चतुरो मासान्यथेष्टं वा ॥ १६ ॥ २ ॥

हरिहरभाष्यम्

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म—मार्गशीर्ष्याम् आग्रहायण्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीसञ्ज्ञं कर्म भवति । स्थालीपाकं श्रपयित्वा श्रवणावदाज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति यां जनाः—इत्यादि । तत्र चरुं श्रपयित्वा श्रवणाकर्मणि यथा द्वे आज्याहुती जुहोति तथाऽत्र अप श्वेतपदा जहीति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां हुत्वा ततोऽनन्तरमपराः यां जना इत्यादिभिश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति । स्थालीपाकस्य जुहोति सोमाय मृगशिरसे मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै हेमन्ताय चेति—ततः स्थालीपाकेन सोमायेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः स्वाहान्तैश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति इति । चकारः समुच्चयार्थः । प्राशनान्ते सक्तुशेषं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृत्यामार्जनात्—ततः स्विष्टकृत्प्रभृति । प्राशनान्ते बलिहरणार्थं सक्तुशेषं शूर्पे कृत्वा उपनिष्क्रमणादि आमार्जनात् द्वारदेशे मार्जनं यावत् श्रवणाकर्मवत्कुर्यात् । मार्जनान्त उत्सृष्टो वलिरित्याह—मार्जनस्यान्ते अवसाने उत्सृष्टो बलिरिति वचनं ब्रूयात् । एतावदाग्रहायणीकर्म । अथान्यत्कर्माभिधीयते । पश्चादग्नेः स्रस्तरमा-

स्तीर्याहतं च वास आप्लुता अहतवाससः प्रत्यवरोहन्ति—पश्चादग्नेरावसथ्यस्य पश्चिमप्रदेशे स्रस्तरं प्रागग्रैः कुशैः स्रस्तरमास्तीर्य विरचय्य। तच्चास्तरणमग्निशालातो गृहान्तरे युज्यते। अग्निशालायां ह्यौपवसथ्यरात्रिमन्तरेण शयनप्रतिषेधात्। अहतं च वसनं सकृत्प्रक्षालितं वस्त्रं तदुपरि आस्तीर्येति सम्बन्धः। आप्लुताः स्नाताः, अहते नवे सदशे सकृत्प्रक्षालिते प्रत्येकं वाससी येषां ते अहतवाससः स्वामिप्रभृतयः प्रत्यवरोहन्ति स्रस्तरं निविशन्ते। दक्षिणतः स्वामी जायोत्तरा यथाकनिष्ठमुत्तरतः—कथं प्रत्यवरोहन्ति सर्वेषां दक्षिणतः स्वामी गृहपतिर्भवति, तस्योत्तरा जाया पत्नी, तस्या उत्तरतः अपत्यानीति शेषः। कथं यथाकनिष्ठं यो यस्मात् कनिष्ठः स तदुत्तरत इति। दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं शमीशाखासीतालोष्ठाश्मनो निधायाग्निमीक्षमाणो जपत्ययमग्निर्वीरतम इति—तत्र स्वामी स्रस्तरं प्रत्यवरोक्ष्यन् दक्षिणतोऽग्नेर्ब्रह्माणं यथाविध्युपवेश्य उत्तरत उदपात्रं जलपूर्णभाजनम्, शमीवृक्षस्य शाखां, सीतां, लोष्ठं हलपद्धतिमदमृच्छकलम्, अश्मानं प्रस्तरं निधाय स्थापयित्वा अग्निमीक्षमाणः आवसथ्यं पश्यन्, "अयमग्निर्वीरतमः" इत्येतं मन्त्रं जपति॥ पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति दैवीं नावमिति तिसृभिः—अग्नेः पश्चिमतः स्थित्वा प्रागग्रमञ्जलिं करसम्पुटं विदधाति दैवीं नावमित्यारभ्य मघ्वा रजाँसि सुक्रतू इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः। स्रस्तरमारोहन्ति ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन्प्रत्यवरोहामेति—स्रस्तरं यथोक्तमारोहन्ति साम्प्रतं स्वामिप्रभृतयः पूर्वं यत्प्रत्यवरोहन्तीत्युक्तं तद्विधानार्थमिदम्। तत्र स्वामी ब्रह्माणमामन्त्रयते पृच्छति। कथं, ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति वाक्येन। ब्रह्मानुज्ञाताः प्रत्यवरोहन्त्यायुष्कीर्तिर्यशो बलमन्नाद्यं प्रजामिति—प्रत्यवरोहध्वमिति वाक्येन ब्रह्मणाऽनुज्ञाताः प्रसूताः प्रत्यवरोहन्ति स्रस्तरमधितिष्ठन्ति आयुष्कीर्तिरित्यादिमन्त्रेण। अत्र स्त्रीणामपि मन्त्रपाठः। उपेता जपन्ति सुहेमन्तः सुवसन्त० इत्यादिकम्। तत्र ये उपेता उपनीतास्ते स्रस्तरमारुह्य सुहेमन्त इत्यादिकं मन्त्रं जपन्ति। स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति—स्रस्तरमारुह्य स्योना पृथिवीत्यनेन मन्त्रेण स्वामीजायापत्यानि प्राक् पूर्वस्यां दिशि शिरो येषां ते प्राक्शिरसः दक्षिणपार्श्वैः उदङ्मुखाः संविशन्ति स्वपन्ति शेरते स्रस्तरोपरीत्यर्थः। उपोदुत्तिष्ठन्त्युदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य पृथिव्याः सप्तधामभिरिति—उप स्रस्तरसमीपे उदुत्तिष्ठन्ति उत्थाय उत्तिष्ठन्तीत्यर्थः। उपपदमनर्थकम्। उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्येत्यादिमन्त्रेण स्रस्तरात्। एवं द्विरपरं ब्रह्मानुज्ञाताः—एवमुक्तप्रकारेण ब्रह्मन्प्रत्यवरोहामेत्यारभ्य उत्थानपर्यन्तं ब्रह्मानुज्ञाताः सन्तो द्विरपरम् अपरमन्यत्स्रस्तरमारोहन्ति संविशन्ति उत्तिष्ठन्ति च। अधः शयीरँश्चतुरो मासान्यथेष्टं वा—अत ऊर्ध्वं चतुरो मासान्पौषादीन् अधः खट्वां व्युदस्य भूमौ शयीरन् गृहपतिप्रमुखाः। यथेष्टं वा अथवा इष्टमनतिक्रम्य यथेष्टं यथाकामम् अधो वा खट्वायां वा शयीरन्निति विकल्पः। इति सूत्रार्थः॥ २॥

अथ पद्धतिः। मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म भवति। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय आवसथ्याग्नौ ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः।

शूर्पम्, सक्तून्, उल्काम्, उदपात्रम्, दर्वीकङ्कतत्रयम्, अञ्जनम्, अनुलेपनम्, स्रजश्चेत्युपकल्पः। तत आज्यभागानन्तरमपश्वेतपदा जहीत्याज्याहुतिद्वयं श्रवणाकर्मवद्धुत्वा अपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति वक्ष्यमाणैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम्। तद्यथा—"यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्। संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा" इदꣳ रात्र्यै०॥ १॥ "संवत्सरस्य प्रतिमा या ताꣳ रात्रीमुपास्महे। प्रजाꣳ सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा" इदꣳ रात्र्यै०॥ २॥ "संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः। तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानां ज्योग्जीता अहताः स्याम स्वाहा"। इदं संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय च०॥ ३॥ "ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः। तेषामृतूनाꣳ शतशारदानां निवात एषामभये वसेम स्वाहा" इदं ग्रीष्माय, हेमन्ताय, वसन्ताय, वर्षाभ्यः, शरदे च०॥ ४॥ ततः स्थालीपाकेन चतस्र आहुतीर्जुहोति। तद्यथा—सोमाय स्वाहा इदं सोमाय०। मृगशिरसे स्वाहा इदं मृगशिरसे०। मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै स्वाहा इदं मार्गशीर्ष्यै पौर्णमास्यै०। हेमन्ताय स्वाहा इदं हेमन्ताय०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानान्ते सक्तुशेषं शूर्पे न्युप्योपनिष्क्रमणप्रभृतिमार्जनपर्यन्तं श्रवणाकर्मवत्कृत्वा मार्जनान्ते उत्सृष्टो वलिरित्युच्चैर्ब्रूयात्। ततस्तां रात्रीं वत्सान् स्वमातृभिस्सह संसृजेत्। इत्याग्रहायणीकर्म। अथ स्रस्तरारोहणम्। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय स्रस्तरास्तरणप्रदेशगृहे सर्वमावसथ्याग्निं नीत्वा पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्थापयित्वा अग्नेः पश्चिमायां दिशि कुशैः स्रस्तरास्तरणं कुर्यात्। स्रस्तरास्तरणमग्निशालाया गृहान्तरे युज्यते। अग्निशालायामौपवसथ्यरात्रिमन्तरेण शयननिषेधात्। तस्योपरि नूतनं सकृत्प्रक्षालितनुदकदशं वासः संस्तरेत्। अग्निं दक्षिणेन ब्रह्माणमुपवेश्य, उत्तरत उदपात्रं, शमीशाखाम्, सीतालोष्टम्, अश्मानं च निधाय श्रस्तरपश्चिमतः स्वामी स्थित्वा तदुत्तरेण पत्नी, तामुत्तरेणापत्यानि यथाकनिष्ठम्। तत्र गृहपतिरग्निमीक्षमाणो जपति "अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः। सुवीर्योऽयꣳ श्रैष्ठ्ये दधातु नाविति" एतं मन्त्रम्। ततः पश्चादग्नेः प्राञ्चमञ्जलिं करोति। दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमित्यादिमह्वा रजाꣳसि सुक्रतू इत्यन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः। ततो ब्रह्मन् प्रत्यवरोहामेति ब्रह्माणमामन्त्र्य प्रत्यवरोहध्वमिति ब्रह्मणा प्रत्यनुज्ञाताः सर्वे स्नाताः अहतवाससः "आयुष्कीर्तिर्यशो बलमन्नाद्यं प्रजाम्" इत्यनेन मन्त्रेण स्रस्तरमारोहन्त्यधितिष्ठन्ति स्त्रियोऽपि मन्त्रेण। तमारुह्य तेषु ये उपनीतास्ते "सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयताम्नः। शिवा नो वर्षाः सन्तु शरदः सन्तु शिवाः" इत्यमुं मन्त्रं जपन्ति। अथ स्योना पृथिवीत्यनयर्चा स्वामिप्रभृतयः स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च सर्वे यथोक्तक्रमेण दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्ति स्वपन्ति। तत उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्याः सप्तधामभिरित्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठन्ति सर्वे। ततः स्रस्तरादुत्तीर्य ब्रह्मानुमन्त्रण-

प्रत्यवरोहणोपेतजपसंवेशनोत्थानानि वारत्रयमेव कुर्युः। तत आरभ्य चतुरो मासान् सर्वेऽधः शयीरन् कामतो वा शय्यायाम्। पुनरावसथ्यं पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्वस्थाने स्थापयेत्। इति स्रस्तरारोहणम्। "मुख्यकाले यदावश्यं कर्म कर्तुं न शक्यते। गौणकालेऽपि कर्तव्यं गौणोऽप्यत्रेदृशो भवेत् ॥ १ ॥ आसायमाहुतेः कालात्कालोऽस्ति प्रातराहुतेः। प्रातराहुतिकालात्प्राक् कालः स्यात् सायमाहुतेः ॥ २ ॥ पौर्णमासस्य कालोऽस्ति पुरा दर्शस्य कालतः। पौर्णमासस्य कालात्प्राक् दर्शकालोऽपि विद्यते ॥ ३ ॥ वैश्वदेवस्य कालोऽस्ति प्राक् प्रघासविधानतः। प्रघासानां च कालः स्यात्साकमेधीयकालतः ॥ ४ ॥ स्यात्साकमेधकालोऽप्याशुनासीरीयकालतः। शुनासीरीयकालोऽपि आवैश्वदेवकालतः ॥५॥ श्यामाकैर्व्रीहिभिश्चैव यवैरन्योऽन्यकालतः। प्राग्यष्टुं युज्यतेऽवश्यं नत्वत्राग्रयणात्परः ॥६॥ दक्षिणायनकाले वा पश्चिज्या चोत्तरायणे। अन्योऽन्यकालतः पूर्वं यष्टुं युक्ते उभे अपि ॥७॥ एवमागामियागीयमुख्यकालादधस्तनः। स्वकालादुत्तरो गौणः कालः पूर्वस्य कर्मणः ॥ ८ ॥ यद्वाऽऽगामिक्रियामुख्यकालस्याप्यन्तरालवत्। गौणेष्वेतेषु कालेषु कर्म चोदितमाचरेत्। प्रायश्चित्तप्रकरणे प्रोक्तां निष्कृतिमाचरेत् ॥१०॥ प्रायश्चित्तमकृत्वाऽपि गौणकाले समाचरेत्। नित्येष्टिमग्निहोत्रं च भारद्वाजीयभाष्यतः ॥ ११ ॥ मुख्यकाले हि मुख्यं चेत्साधनं नैव लभ्यते। तत्कालद्रव्ययोः कस्य मुख्यत्वं गौणतापि वा ॥ १२ ॥ मुख्यकालमुपाश्रित्य गौणमप्यस्तु साधनम्। न मुख्यद्रव्यलोभेन गौणकालप्रतीक्षणम् ॥१३॥ एकपक्षगतौ यावान् होमसङ्घो विपद्यते। पक्षहोमविधानान्तं हुत्वा तन्तुमतीं यजेत् ॥ १४ ॥ २ ॥

सरला

१. मार्गशीर्ष की पौर्णमासी को आग्रहायणी कर्म (का अनुष्ठान करना चाहिए)।

२. स्थालीपाक पकाकर श्रवणाकर्म की भांति ('अपश्वेतपदाजहि…' प्रभृति दो मंत्र पढ़कर) यहां भी दो घृताहुतियां डालकर 'यां जनाः…' प्रभृति चार मंत्र पढ़कर अन्य (चार) घृताहुतियाँ डाले।

३. 'सोमाय…' प्रभृति चार मंत्र पढ़कर स्थालीपाक से चार आहुतियों का होम करे।

४. संस्रव-प्राशन के अनन्तर (बलि-हरण हेतु) अवशिष्ट सत्तू को सूप में डालकर द्वार पर (श्रवणाकर्म की भांति) उपनिष्क्रमण से मार्जन तक के (कृत्य संपन्न करे)।

५. मार्जन के अनन्तर 'उत्सृष्टबलिः' वचन बोले।

६. अग्नि के पश्चिम (अग्रकुशों का) आस्तरण फैलाकर, उस पर एक बार प्रक्षालित वस्त्र बिछाकर, स्नानोपरान्त सकृत्प्रक्षालित वस्त्र पहने हुए (गृहस्वामी आदि उस पर) बैठें; (बैठने का क्रम)—सबसे दाहिने गृहस्वामी उसके उत्तर पत्नी, पत्नी से उत्तर (अन्य) कनिष्ठ जन (उत्तरोत्तर) बैठें।

७. (अग्नि के) दाहिने ब्रह्मा को बिठाकर, उत्तर ओर जलपूर्ण पात्र, शमीवृक्ष की डाल, सीतालोष्ठ (हल जोतने से निकला मिट्टी का ढेला) और प्रस्तर-खण्ड को रखकर, अग्नि की ओर देखते हुए (गृहस्वामी) 'अयमग्नि....' मंत्र को जपे।

८. अग्नि के पश्चिम खड़े होकर पूर्व की ओर हाथों में अञ्जलि बाँधे।

९. 'दैवीं नावम्'....प्रभृति तीन ऋचायें पढ़कर स्त्रस्तरारोहण करें।

१०. (गृहस्वामी) ब्रह्मा से पूछे-'ब्रह्मन्! मैं प्रत्यवरोहण करूँ ?'

११. ब्रह्मा से आज्ञा लेकर 'आयुः कीर्ति....' मन्त्र पढ़ते हुए सभी प्रत्यवरोहण करें, (स्त्रियाँ भी मन्त्र-पाठ करें)।

१२. (उनमें से) उपनीत जन (स्रस्तर पर चढ़कर) 'सुहेमन्त....' प्रभृति मन्त्र का पाठ करें।

१३. स्रस्तर पर चढ़कर 'स्योना पृथिवी....' मन्त्र पढ़ते हुए (गृहस्वामी प्रभृति) पूर्व की ओर सिर कर उत्तराभिमुख (स्रस्तर पर) सोयें।

१४. 'उदायुषा....' मन्त्र पढ़कर स्रस्तर से उठ पड़ें।

१५. इसी प्रकार से दो वार अन्य जन ब्रह्मा से आज्ञा तथा उत्थान पर्यन्त कर्म करें।

१६. (इसके बाद) चार मास धरा पर शयन करें अथवा जैसी इच्छा हो (चाहे धरा पर सोयें या खाट पर)।

टिप्पणी—१. इस कण्डिका में आग्रहायणी-कर्म की विधि पांचवें मन्त्र तक ही है, उसके बाद अन्य कर्म यानी 'स्रस्तरारोहण' कर्म का निरूपण हुआ है।

मंत्रार्थ

१. यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्। संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, रात्रि।

(वन से लौटती हुई) गाय के सदृश आगमनशील जिस रात्रि को देखकर जन-मन हर्षविह्वल हो उठते हैं, प्रजापति की पत्नी रूप वह रात्रि हमारे लिए शोभन मंगलमयी हो।

२. संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रीमुपास्महे। प्रजां सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै ॥

वही।

संवत्सर (प्रजापति) की प्रतिमा रूप उस रात्रि की हम उपासना कर सुबल पुत्र-पौत्रादि और दीर्घायु प्राप्त करें।

३. संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियाना ज्योग्जीता अहताः स्याम् ॥

विराट् ऋषि, त्रिष्टुप्, संवत्सरादि ।

हे स्तोताओं ! आप संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर जिन इन पाँच विशिष्ट देवों को नमस्कार करते हैं, यज्ञभाग के अधिकारी उन देवताओं की कृपा से हम सुबुद्ध रहकर चिरन्तनकाल तक अजेय और अक्षुण्ण रहें ।

४. ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शिवा वर्षा अभया शरन्नः । तेषामृतूनाꣳशतशारदानां निवात एषामभये वसेम ॥

विराट्, त्रिष्टुप्, ऋतुयें ।

ग्रीष्म, हेमन्त, वसन्त, वर्षा और शरद ऋतुयें हमारे लिए कल्याणकारिणी और निर्भयताप्रद हों । इन ऋतुओं के अधिष्ठातृ देवों की कृपा से हम निर्विघ्न स्थान पर निश्चिन्त रहें ।

५. अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः । सुवीर्योऽयं श्रैष्ठ्ये दधातु नौ ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, अग्नि ।

यह आवसथ्याग्नि अप्रतिमशक्तिमयी, ऐश्वर्यादि छह गुणों से युक्त सहस्र संख्यक दानों की अधिष्ठात्री और महान् पराक्रमशालिनी है । हम पति-पत्नी श्रेष्ठ कर्म करने के उद्देश्य से इसकी स्थापना करें ।

६. उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्या सप्तधामभिः ॥

गौतम, गायत्री, अग्नि ।

हम दीर्घायु, उत्कृष्ट जीवन, पर्जन्य-वृष्टि और पृथिवी के सात धामों से युक्त हों ।

तृतीयकण्डिका

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टकाः ॥ १ ॥ ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येति ॥ २ ॥ अपूपमाꣳसशाकैर्यथासंख्यम् ॥ ३ ॥ प्रथमाऽष्टका पक्षाष्टम्याम् ॥ ४ ॥ स्थालीपाकꣳश्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति । त्रिꣳशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतं समानंकेतुं प्रतिमुञ्चमानाः । ऋतूꣳस्तन्वत्ते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः स्वाहा । ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि । विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे स्वाहा । एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान

गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन दस्यून्व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः स्वाहा ॥ अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा । अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा । पञ्चव्युष्टीरनु पञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनुपञ्च । पञ्चदिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नीरधिलोकमेक ँ स्वाहा ॥ ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषिष्यपामेका महिमानं बिभर्त्ति । सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु धर्मस्यैका सवितैकां नियच्छतु स्वाहा ॥ या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे । सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तरा ँ समा ँ स्वाहा ॥ शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषागाद्विश्वरूपा शवली अग्निकेतुः । समानमर्थ ँ स्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर उष आगाः स्वाहा ॥ ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम् । एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्साऽजीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्स्वाहेति ॥ ५ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति शान्ता पृथिवीशिवमन्तरिक्षं शन्नो द्यौरभयं कृणोतु । शन्नो दिशः प्रदिश आदिशो नोऽहोरात्रे कृणुतं दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा । आपो मरीचीः परिपान्तु सर्वतो धाता समुद्रो अपहन्तु पापम् । भूतं भविष्यदकृन्तद्विश्वमस्तु मे ब्रह्माभिगुप्तः सुरक्षितः स्या ँ स्वाहा ॥ विश्वे आदित्या वसवश्च देवा रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु । ऊर्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु नः स्वाहेति च ॥ ६ ॥ अष्टकायै स्वाहेति ॥ ७ ॥ मध्यमा गवा ॥ ८ ॥ तस्यै वपां जुहोति वह वपां जातवेदः पितृभ्य इति ॥ ९ ॥ श्वोऽन्वष्टकासु सर्वासां पार्श्वसक्थिसव्याभ्यां परिवृते पिण्डपितृयज्ञवत् ॥ १० ॥ स्त्रीभ्यश्चोपसेचनं च कर्षूषु सुरया तर्पणेन चाञ्जनानुलेपन ँ स्रजश्च ॥ ११ ॥ आचार्या यान्तेवासिभ्यश्चानपत्येभ्य इच्छन् ॥ १२ ॥ मध्यावर्षे च तुरीया शाकाष्टका ॥ १३ ॥ ३ ॥

हरिहरभाष्यम्

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टकाः—ऊर्ध्वमुपरि आग्रहायण्याः मार्गशीर्ष्याः पूर्णिमायाः तिस्रः अष्टकाः त्रीणि अष्टकाख्यानि कर्माणि भवन्ति । तानि च सकृत् संस्कारकर्मत्वात् । कुतः संस्कारकर्मतेति चेत्, सुमन्तुगौतमादिभिः—"अष्टकाः पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति पाकयज्ञसंस्थाः" इत्यादिना अष्टकादीनां संस्कारत्वेन स्मरणात् । ननु संस्कारकर्मणामपि पञ्चमहायज्ञपार्वणस्थालीपाकपार्वणश्राद्धानां कुतोऽसकृत्करणम् अभ्यासश्रवणात् । तथा हि—"अहरहः स्वाहा कुर्यादाकाष्ठात्" इत्यादिना पञ्चमहायज्ञादीनाम् "मासि मासि वोशनम्" इति श्राद्धस्य "पक्षादिषु" इति बहुवचनात् स्थालीपाकस्य । न तथाऽष्टकानामभ्यासः श्रूयते, येन ताः पुनःपुनरनुष्ठीयेरन् । एवं च सति चत्वारिंशत्संस्कारकर्मणां मध्ये येषामभ्यासः

श्रूयते तान्यसकृद्भवन्ति इतराणि तु सकृदिति निर्णयः। ऐन्द्री वैश्वदेवी प्राजापत्या पित्र्येत्यपूपमांसशाकैर्यथासंख्यम्—एवमष्टकाकर्माणि कर्तव्यत्वेनाभिधाय तत्र च द्रव्यदेवतापेक्षायां द्रव्याणि देवताश्चाभिधत्ते। तत्र प्रथमा ऐन्द्री इन्द्रो देवता अस्या इति ऐन्द्री इन्द्रदेवत्येत्यर्थः। द्वितीया वैश्वदेवी विश्वेदेवा देवता अस्या इति वैश्वदेवी विश्वेदेवदेवत्येत्यर्थः। तृतीया प्राजपत्या प्रजापतिर्देवता अस्या इति प्राजापत्या प्रजापतिदेवत्येति यावत्। चतुर्थी पित्र्या पितरो देवता अस्या इति पित्र्या पितृदेवत्येत्यर्थः। अपूपश्च मांसं च शाकश्च अपूपमांसशाकास्तैः अपूपमांसशाकैः यथासङ्ख्यं यस्याः या यथा सङ्ख्या तामनतिक्रम्य यथासङ्ख्यं यजेतेत्यध्याहारः। एतदुक्तं भवति प्रथमायामपूपेनेन्द्रं यजेत, द्वितीयायां "मध्यमा गवा" इति वक्ष्यमाणत्वात् गोमांसेन विश्वान् देवान्, तृतीयायां शाकेन प्रजापतिमिति। अत्र तिस्र उपक्रम्य पित्र्येत्यनेन चतुर्थ्या अभिधानमयुक्तमिति चेत् न, उपक्रान्तानां तिसृणां देवताभिधानावसरे चतुर्थ्या अपि देवताया आचार्यस्य बुद्धिस्थत्वात् तदभिधानानान्न दोषः। अत्राष्टकाशब्दः कर्मवचनोऽपि कालोपलक्षकः। यथा-वार्त्रघ्नी पौर्णमासी, वृधन्वती अमावास्येयत्र कर्माभिधायकौ पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ कालस्याप्युपलक्षकौ। अन्यथा "आग्रहायण्या ऊर्ध्वं तिस्रोऽष्टकाः" इत्यनेन प्रतिपद्येवाष्टकाकर्मप्राप्तिः स्यात्। तस्मादष्टकाशब्देन अष्टम्युपलक्ष्यते। तथा च श्रुतिः। "द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशाष्टका द्वादशामावास्याः" इति। आश्वलायनस्मृतिश्च। "हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः" इति। एवमष्टकाकर्मसु द्रव्यदेवते अभिधायेदानीमुद्देशक्रमेण तदितिकर्तव्यतामाह—प्रथमाऽष्टका पक्षाष्टम्यां स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति त्रिंशत्स्वसारः-इत्यादि। प्रथमा आद्या अष्टका अष्टकाख्यं कर्म भवतीति शेषः। कदा पक्षाष्टम्याम्। अत्र सौरादिभेदेन मासानामनेकत्वादष्टम्योऽप्यनेका इति किम्माससम्बन्धिन्यामष्टम्यामष्टकानामधेयं कर्मेति सन्देहापत्तौ पक्षाष्टम्यामित्याह। पक्षेऽपरपक्षे पौर्णमास्या ऊर्ध्वमिति वचनसामर्थ्यात्, पक्षाष्टमी कृष्णाष्टमी न पुनः सौरसावननाक्षत्रमाससम्बन्धिनी तेषां शुक्लकृष्णपक्षत्वाभावात्, तस्यां पक्षाष्टम्याम्। कथं, स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा उक्तविधिना संसाध्य, आज्यभागौ आहुतिविशेषौ हुत्वा दशाज्याहुतीः त्रिंशत्स्वसारः इत्यादिभिर्दशभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं जुहोति। स्थालीपाकस्य जुहोति शान्ता पृथिवीत्यादि। स्थालीपाकस्य चरोर्जुहोति शान्ता पृथिवीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्जुहोति प्रतिमन्त्रम्। अत्र ऐन्द्री प्रथमाऽष्टकेति प्राधान्यमिन्द्रस्योक्तम्। अपूपेत्यनेन हविषः। यागावसरश्च नोक्तः सूत्रकृता, अतः सन्देहः कुत्र क्रियतामिति। किं तावत्प्राप्तम् साधनत्वात्प्रधानत्वाज्यभागानन्तरं क्रियतामिति। न, तत्र "आज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति" इति सूत्रकृताऽऽज्याहुतीविधानात्। तर्हि तदन्तेऽस्तु। न, तत्रापि "स्थालीपाकस्य जुहोति" इत्याज्यहोमानन्तरं स्थालीपाकहोमविधानात्। तस्मादनन्तरमेव युज्यते। तत अपूपेन "इन्द्राय स्वाहा" इत्येकामाहुतिं जुहुयात्। एवमुत्तरत्रापि। एवं प्रथमाष्टकेतिकर्तव्यतामनुविधायाधुना इयमेवोत्तरास्वप्यष्टकास्वितिकर्तव्यता इत्यभि-

प्रेत्य एतासां विशेषमात्रमनुविवर्त्ते—मध्यमा गवेत्यादिभिर्मन्त्रैः। मध्यमा तिसृणां द्वितीयेत्यर्थः। सा च गवा गोपशुना कर्तव्या इति सूत्रशेषः। अत्राचार्येण यद्यपि गोपशुरुक्तस्तथापि "अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्न तु" इति स्मरणात्। तथा—"देवरेण सुतोत्पत्तिर्वानप्रस्थाश्रमग्रहः। दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्य च ॥ समुद्रयानस्वीकारः कमण्डलुविधारणम्। महाप्रस्थानगमनं गोपशुश्च सुराग्रहः॥ अग्निहोत्रहवण्याश्च लेहो लीढापरिग्रहः। असवर्णासु कन्यासु विवाहश्च द्विजातिषु॥ वृत्तस्वाध्यायसापेक्षमघसङ्कोचनं तथा। अस्थिसञ्चयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शनमेव च। प्रायश्चित्ताभिधानं च विप्राणां मरणान्तिकम्। संसर्गदोषः पापेषु मधुपर्के पशोर्वधः॥ दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः। शामित्रं चैव विप्राणां सोमविक्रयणं तथा॥ दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ। कलौ युगे त्विमान्धर्मान् वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥" इति स्मरणात् गोपशोरस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वात्कलौ विशेषतो वर्जनीयत्वाच्च न गवालम्भः कर्तव्यः। किन्तु अनिषिद्धपश्वन्तरेणावश्यकर्तव्याष्टकादिकर्म निर्वर्त्तनीयम्। तस्यै वपां जुहोति वह वपां जातवेदः पितृभ्य—इति। तस्यै इति षष्ठीस्थाने चतुर्थी। तस्याः गोर्वपां वह वपामित्यनेन मन्त्रेण जुहोति, पुनर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यवदानानि जुहोति। शेषं पशुकल्पं "पशुश्चेदाप्लाव्य" इत्यादिना। उपरिष्टाद्वक्ष्यति। "रूपं कालोऽनुनिर्वापः श्रवणं देवता तथा। आदौ ये विधृताः पक्षास्त इमे सर्वदा स्मृताः" इत्येतस्य संहितासु अदर्शनात्। समूलत्वे त्वनुनिर्वापादिसमभिव्याहारेण श्रौतमात्रविषयत्वात्। वस्तुतस्तु "नान्यस्य तन्त्र प्रतते ऽन्यस्य तन्त्रं प्रतीयते" इति प्रायिकम्। सान्तपनीयाधिकरणेऽन्यतन्त्रगध्येऽग्निहोत्रदर्शनात्। श्वोऽन्वष्टकासु सर्वासां पार्श्वसक्थिसव्याभ्यां परिवृते पिण्डपितृयज्ञवत्—श्वः अष्टम्यामुत्तरेद्यु, अन्वष्टकासु अष्टका अनु पश्चाद्भवन्तीत्यन्वष्टकाः तासु, सर्वासां चतसृणामष्टकानां कर्म भवतीति शेषः। केन द्रव्येणेत्यत आह—पार्श्वसक्थिसव्याभ्याम्। पार्श्वं च सक्थि च पार्श्वसक्थिनी ते च सव्ये च पार्श्वसक्थिसव्ये ताभ्यां पार्श्वसक्थिसव्याभ्याम्। अत्र तुल्याधिकरणविशेषणीभूतस्य सव्यशब्दस्योत्तरपदत्वं छान्दसम्। परिवृते सर्वतः प्रच्छादिते आवसथ्याग्निसदने। इति कर्तव्यतापेक्षायामाह—पिण्डपितृयज्ञवत्। "अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञः" इत्याद्युक्तपिण्डपितृयज्ञविधिना। स्त्रीभ्यश्च—"पिण्डपितृयज्ञवत्" इत्यनेन पितृपितामहप्रपितामहानामेव पिण्डदानं प्राप्तं ततोऽधिकमुच्यते स्त्रीभ्यः मातृपितामहीप्रपितामहीभ्यः पिण्डान्दद्यादिति चकारेण समुच्चीयते। अत्र सामान्योऽपि स्त्रीशब्दः पित्रादिसन्निधानात् मात्रादिपरोऽवसीयते अवगम्यते। उपसेचनं च कर्षूषु सुरया तर्पणेन चाञ्जनानुलेपनं स्रजश्च—न केवलं स्त्रीभ्यः पिण्डान्दद्यात् किन्तु उपसेचनं च कुर्यात्। कया सुरया मद्येन, कासु कर्षूसु अवटेषु न केवलं सुरया तर्पणेन च तर्पयत्यनेनेति तर्पणसाधनं सक्त्वादि तेन। चकार उपसेचनक्रियासमुच्चयार्थः "करणाधिकरणयोश्च" इति ल्युडन्तोऽत्र तर्पणशब्दः। त्रैककुदं सौवीराञ्जनमिति प्रसिद्धं, तदलाभे लौकिकं कज्जलम्, अनुलेपनं सुगन्धिद्रव्यं चन्दनादि, स्रजः अप्रतिषिद्धसुरभिपुष्पमालाः। चकारो दद्यादिति क्रिया-

समुच्चयार्थः । आचार्यायान्तेवासिभ्यश्चानपत्येभ्य इच्छन्—यदि कामयेत तदा आचार्याय अन्तेवासिभ्यश्च शिष्येभ्यः पिण्डान् दद्यात् । यदि ते अनपत्याः स्युः । मध्या वर्षे च तुरीया शाकाष्टका—एवमष्टकात्रयं सामान्यतो विशेषतश्चानुविधाय पित्र्येत्युद्देशक्रमप्राप्तां विशेषतश्चतुर्थीमष्टकामाह—मध्या मध्ये, वर्षे वृष्टिकाले, प्रौष्ठपद्या ऊर्ध्वमष्टमीत्यर्थः। तुरीया चतुर्थी, शाकाष्टका शाकेन कालशाकाख्येन निर्वर्त्या अष्टका शाकाष्टका । इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

अथाष्टकाकर्मपद्धतिः ! तत्र मार्गशीर्ष्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां मातृपूजापूर्वाभ्युदयिकश्राद्धं विधाय आवसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात् । केषाञ्चिन्मते अष्टकाकर्मसु आभ्युदयिकं नास्ति । "नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धम्" इति वचनात् । तत्र ब्रह्मोपवेशनादिप्राशनान्ते विशेषः । तण्डुलानन्तरं पूर्वमौपासनाग्निसिद्धस्यैवापूपस्यासादनम्, प्रोक्षणं च प्रोक्षणकाले । तत्राज्यभागान्तं कर्म कृत्वा त्रिँशत्स्वसार इत्येवमाद्या दशाहुतीर्हुत्वा स्थालीपाकेन शान्ता पृथिवीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्हुत्वा अपूपादिन्द्राय स्वाहेत्येकामाहुतिं दत्त्वा स्थालीपाकादपूपाच्च स्विष्टकृते जुहोति । तद्यथा - आज्यभागानन्तरं "त्रिँशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतँ समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः । ऋतूँस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः स्वाहा" इदं स्वसृभ्यो० ॥१॥ "ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि । विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे स्वाहा" इदँ रात्र्यै० ॥ २ ॥ "एकाऽष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन दस्यून्व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः स्वाहा" इदमष्टकायै० ॥ ३ ॥ "अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा" इदँ रात्रीभ्यो० ॥४॥ "अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम् । भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो अन्यामति मा प्रयुक्त स्वाहा" इदँ रात्रीभ्यो० ॥ ५ ॥ "पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च । पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नीरधि लोकमेकँ स्वाहा" । इदँ रात्रीभ्यो० ॥ ६ ॥ "ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषिष्यपामेका महिमानं बिभर्ति । सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु घर्मस्यैका सवितैकां नियच्छतु स्वाहा" इदँ रात्र्यै० ॥ ७ ॥ "या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे । सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तराँ समाँ स्वाहा" इदँ रात्र्यै० ॥ ८ ॥ "शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषाऽऽगाद्विश्वरूपा शबलीरग्निकेतुः । समानमर्थँ स्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर उष आगाः स्वाहा" इदँ रात्र्यै० ॥ ९ ॥ "ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम् । एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्सा जीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्स्वाहा" इदँ रात्र्यै० ॥ १० ॥ अथ स्थालीपाकेनाहुतीश्चतस्रः शान्ता पृथिवीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्जुहोति प्रतिमन्त्रम् । तद्यथा—"शान्ता पृथिवी शिवमन्तरिक्षँ शं नो द्यौरभयं कृणोतु । शं नो दिशः प्रदिश आदिशो नोऽहोरात्रे कृणुतं दीर्घमायुर्व्यश्नवै स्वाहा" इदं

पृथिव्यै, अन्तरिक्षाय, दिवे, दिग्भ्यः, प्रदिग्भ्यः, अदिग्भ्यो, अहोरात्राभ्यां च०। "आपो मरीचीः परिपान्तु सर्वतो धाता समुद्रो अपहन्तु पापम्। भूतं भविष्यदकृन्तद्विश्वमस्तु मे ब्रह्माभिगुप्तः सुरक्षितः स्याᳪं स्वाहा" इदमद्भ्यः, मरीचिभ्यः, धात्रे, समुद्राय, ब्रह्मणे च०। 'विश्वे आदित्या वसवश्च देवा रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु। ऊर्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु नः स्वाहा" इदं विश्वेभ्यः, आदित्येभ्यः, वसुभ्यः, देवेभ्यः, रुद्रेभ्यः, मरुद्भ्यः, प्रजापतये, परमेष्ठिने च०। अष्टकायै स्वाहा इदमष्टकायै०। अथ अपूपादेकाऽऽहुतिः। इन्द्राय स्वाहा इदमिन्द्राय०। स्थालीपाकादपूपाच्च स्विष्टकृत्। ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्तं होमं विधाय प्राशनादि समापयेत्। श्वोऽन्वष्टकाकर्मावसथ्याग्नावेव। तत्र नित्यवैश्वदेवानन्तरमपराह्णे प्राचीनावीती नीवीबन्धनं कृत्वा दक्षिणामुखः परिवृतेऽग्निसमीपे अग्नेरुत्तरत उपविश्य आग्नेयादिदक्षिणान्तमप्रदक्षिणमग्निं दक्षिणाग्रैः कुशैः परिस्तीर्य अग्नेः पश्चिमतो दक्षिणसंस्थानि पात्राण्येकैकश आसादयति। तद्यथा—स्रुचं, चरुस्थालीं वा, स्रुक्पक्षे तु स्रुगनन्तरं चरुस्थालीमुदकम्, आज्यम्, मेक्षणम्, स्फ्यम्, उदपात्रम्, सकृदाच्छिन्नानि, क्रीतयोर्लब्धयोर्वा छागस्य पार्श्वसक्थ्योर्मांसम्, सुराम्, सक्तून्, अञ्जनम्, अनुलेपनम्, स्रजः, सूत्राणि च। ततः पार्श्वसक्थ्योर्मांसं श्लक्ष्णम् अणुशश्छित्त्वा प्रक्षिप्तासादितोदकायां चरुस्थाल्यां प्रक्षिप्याग्नावधिश्रित्याप्रदक्षिणं मेक्षणेन चालयित्वा शृतमांसमासादितेन घृतेनाभिघार्य दक्षिणत उद्वस्य पूर्वेणाग्निमानीयोत्तरतः स्थापयेत्। ततः सव्यं जान्वाच्य मेक्षणेन मांसमादाय अग्नये कव्यवाहनायस्वाहेत्येकामाहुतिं हुत्वा, इदमग्नये कव्यवाहनायेति त्यागं विधाय, पुनर्मेक्षणेन मांसमादाय सोमाय पितृमते स्वाहेति द्वितीयामाहुतिं हुत्वा, इदं सोमाय पितृमत इति त्यागं विधाय, मेक्षणमग्नौ प्रास्याग्नेर्दक्षिणतः पश्चाद्वा दक्षिणामुख उपविश्य सव्यं जान्वाच्य भूमिमुपलिप्य तत्र स्फ्येन "अपहता असुरा रक्षाᳪंसि वेदिषदः" इति मन्त्रेण लेखां दक्षिणसंस्थामुल्लिख्य तथैव द्वितीयाम् उदकमुपस्पृश्य ये रूपाणीत्युल्मुकं प्रथमलेखाग्रे निधाय तथैव द्वितीयलेखाग्रे, उदकमुपस्पृश्य उदकपात्रमादाय प्रथमलेखायां पितृतीर्थेनामुकसगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन्नवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहप्रपितामहयोरवनेजनं दत्त्वा द्वितीयलेखायामेवमेवाऽमुकसगोत्रेऽस्मन्मातरमुकि देवि अवनेनिक्ष्वेत्येवं पितामहीप्रपितामह्योरवनेजनं दत्त्वा सकृदुपमूललूनानि दक्षिणाग्राणि बर्हींषि लेखयोरास्तीर्य तत्रावनेजनक्रमेणामुकसगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन्नेतत्ते मांसं स्वधा नम इति मांसपिण्डं दत्त्वा, पितामहप्रपितामहयोश्चैवं प्रदायापरलेखायाममुकसगोत्रेऽस्मन्मातरमुकि देवि एतत्ते मांसं स्वधा नम इति मांसपिण्डं दत्त्वा, पितामहीप्रपितामह्योरप्येवं पिण्डद्वयं प्रदाय, प्रतिपिण्डदानम् इदं पित्रे, इदं पितामहाय, इदं प्रपितामहाय, इदं मात्रे, इदं पितामह्यै, इदं प्रपितामह्यै इति त्यागान् विधाय इच्छया स्त्रीपिण्डसमीपेऽवनेजनसकृदाच्छिन्नास्तरणपूर्वकमनपत्येभ्य आचार्यायान्तेवासिभ्यश्च यथाक्रमं मांसपिण्डान् दद्यात्। चकारादन्येभ्योऽपि सपिण्डादिभ्यो दद्यात्। स्त्रीपिण्डसन्निधौ अवटत्रयं खात्वा तेषु अमुकसगोत्रेऽमुकि देवि सुरां पिबेत्येकत्रावटे सुरां प्रसिच्य तथैव पितामहीप्रपितामहीरितर-

योरवटयोरासिच्य सक्तूनादायामुकसगोत्रेऽमुकि देवि तृप्यस्वेति मातृप्रभृतिभ्यः सक्तून्प्रत्यवटं प्रक्षिप्य ततस्तथैवाञ्जस्वेति मातृप्रभृतिभ्योऽञ्जनं दत्त्वा, अनुलिम्पस्वेत्यनुलेपनं च दत्त्वा, स्रजोऽपिनह्यस्वेति स्रजो दत्त्वा, अत्र पितर इत्यर्द्धर्चं जपित्वा पराङावृत्य वायुं धारयन् आतमनाद् उदङ्मुख आसित्वा तेनैवावृत्याऽमीमदन्तेद्धर्चं जपित्वा पूर्ववदवनेज्य नीवीं विस्रस्य, नमो व इति प्रतिमन्त्रमञ्जलिं करोति। गृहान्न इत्याशिषं प्रार्थ्य, एतद्व इति प्रतिपिण्डं सूत्राणि दत्त्वा, ऊर्जमिति पिण्डेष्वपो निषिच्य पिण्डानुत्थाप्य उषायामवधायावघ्राय सकृदाच्छिन्नान्यग्नौ प्रास्योल्मुकं प्रक्षिप्योदकं स्पृष्ट्वाऽऽचम्य आन्वष्टक्यं श्राद्धं कुर्यात्। उषा ताम्रमयी मृन्मयी वा। "शिल्पिभ्यः स्थपतिभ्यश्च आददीत मतीः सदा"। उषा–मांससान्नाय्योषा चयनोषा पशूषा पिण्डपितृयज्ञोषा। इति प्रथमाऽष्टका। पौष्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां द्वितीयाऽष्टका वैश्वदेवी। तत्र प्रथमप्रयोगे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा आवसथ्याग्नौ कर्म कुर्यात्। तत्र ब्रह्मोपवेशनम्, प्रणीताप्रणयनम्, परिस्तरणं च विधाय पात्राण्यासादयेत्। पवित्रच्छेदनानि, पवित्रे द्वे, प्रोक्षणीपात्रम्, आज्यस्थाली, द्वे चरुस्थाल्यौ, संमार्गकुशाः, उपयमनकुशाः, समिधः, स्रुवः, आज्यम्, काश्मर्यमय्यौ हस्तमात्र्यौ वपाश्रपण्यौ, शाखाविशाखे अष्टका, चरुतण्डुलाः, हस्तमात्रं वारणम्, शूलम्, पशुश्रपणार्थमुषा ताम्रमयी मृन्मयी वा, पाशुकचरुतण्डुलाश्चेत्यानिः। अथोपकल्पनीयान्युपकल्पयन्ति। प्लक्षशाखा पलाशशाखा त्रिहस्तप्रमाणा। व्याममात्री कौशी। त्रिगुणरशना। उपाकरणतृणम्। एकं दर्भतरुणम्। द्विगुणरशना कौशी व्याममात्री। पशुश्छागः। पान्नेजनी। उदकपूर्णा स्थाली। असिः शस्त्रम्। हिरण्यशकलानि षट्। पृषदाज्यार्थं दधि चेति। ततः पवित्रकरणादिप्रोक्षणान्ते विशेषः। "विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि" इति पाशुकचरुतण्डुलानां प्रोक्षणम्। आज्यनिर्वापानन्तरमष्टकाचरुपात्रे तण्डुलान् प्रक्षिप्य पाशुकचरुपात्रे तण्डुलप्रक्षेपं कुर्यात्। ततो ब्रह्माऽऽज्यं, स्वयमष्टकाचरुम्, अन्यः पत्नी वा पाशुकचरुं युगपदग्नौ उदक्संस्थमधिश्रयन्ति। ततः पर्यग्निकरणादि प्रोक्षण्युत्पवनान्तं यजमान एव कुर्यात्। अथाग्नेः पश्चाद्दक्षिणत आरभ्य उदक्संस्थाः प्रागग्राः कुशास्तरणोपरि प्लक्षशाखा आस्तीर्याग्नेः प्रादक्षिण्येन पुरस्ताद्गत्वा पलाशशाखामग्निकुण्डलग्नामुदङ्मुख उपविष्टः वितस्तिमात्रं निखाय त्रिगुणरशनामादाय प्रादक्षिण्येन पलाशशाखां त्रिर्वेष्टयति। अथोपाकरणतृणेन "विश्वेभ्यो देवेभ्य उपाकरोमि" इति पशुमुपाकरोति शरीरे स्पृशति। ततो द्विगुणरशनया शृङ्गमध्ये तूष्णीं दक्षिणकर्णाधस्ताद्बध्नाति। ततो "विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मि" इति पलाशशाखायां पशुं नियुनक्ति। ततः प्रोक्षणीरादाय "ब्रह्मन्हविः प्रोक्षिष्यामि" इति ब्रह्माणमामन्त्र्य ॐप्रोक्षेति ब्रह्मणाऽनुज्ञातो "विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि" इति पशुं प्रोक्ष्य प्रोक्षणीजलं पशोरास्ये कृत्वा शेषं पशोरधस्तादुपोक्षति सिञ्चति। अथ यथागतमागत्य स्वासने उपविश्योपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्यादाय पर्युक्ष्य ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आघारौ हुत्वा आज्यलिप्तेन स्रुवेण ललाटे अंसयोः श्रोण्योश्च पशुं समनक्ति अञ्जनं करोति। ततोऽसिमादाय स्रुवेणैव

संयोज्याऽसिस्रुवाग्राभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति। ततोऽग्नेरुल्मुकमादायोत्थाय प्रदक्षिणं परिगच्छन् पशुम्, आज्यम्, शाखामग्निं त्रिः पर्यग्नि कृत्वोल्मुकमग्नौ प्रास्य तावत्प्रति परीत्याप्रादक्षिण्येनागत्य आस्तृततृणद्वयमादाय पशुं शिरस उन्मुच्य कण्ठे बद्ध्वा पलाशशाखात उन्मुच्य रशनया वामकरेण धृत्वा दक्षिणेन वपाश्रपणीभ्यामन्वारब्धमुदङ् नयति। तत्रैकं तृणं भूमौ धृत्वा तस्मिन्प्रत्यक्शिरसं प्राक्शिरसं वा उदक्पादं पशुं निपात्य स्वासने उपविशति यजमानः। अपरः कश्चिन्मुखं संगृह्य सञ्ज्ञपयति। सञ्ज्ञप्यमाने यजमानः पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्वाहा देवेभ्य इत्येकामाहुतिं हुत्वा, इदं देवेभ्य इति त्यक्त्वा, सञ्ज्ञप्ते देवेभ्यः स्वाहेति तेनैवाज्येन द्वितीयामाहुतिं हुत्वा इदं देवेभ्य इति त्यक्त्वा, अपराः पञ्चाहुतीस्तूष्णीं जुहोति इदं प्रजापतये इति त्यागः पञ्चसु। तत उत्थाय पशुं मोचयित्वा वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं त्यजति। ततः पान्नेजनीमादाय पशोः प्राणान्स्वयमेव शुन्धति। तद्यथा—पान्नेजनीजलमादाय मुखं, दक्षिणोत्तरे नासिके, दक्षिणोत्तरे चक्षुषी, दक्षिणोत्तरौ कर्णौ, नाभिम्, मेढ्रम्, पायुमेकीकृत्य पादांश्च क्रमेण शुन्धति। शेषं पशोः पश्चान्निषिञ्चति। तत पशुमुत्तानं कृत्वा नाभ्यग्रे उदगग्रं तृणं निधायासिधारया तृणमभिनिधाय छिनत्ति। अथ द्विधाभूतस्य तृणस्य मूलमादाय उभयतो लोहितेनाङ्क्त्वा निरस्य वपामुत्खिदति। ततो वपाश्रपण्यावादाय प्रोर्णौति, ततश्छिनत्ति वपां तां च प्रक्षाल्याग्नेरुत्तरतः स्थित्वा प्रतप्य शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्याग्नेर्दक्षिणतः स्थित्वा वपां श्रपयति। श्रप्यमाणां च स्रुवेणाज्यं गृहीत्वाऽभिघार्य प्रत्याहृत्य ब्रह्माणं प्रदक्षिणीकृत्य स्वासने उपविश्य स्रुवेणाज्यं गृहीत्वा वपायां प्राणदानं कृत्वा प्लक्षशाखायामासाद्यालभते। ततो ब्रह्मान्वारब्ध आज्यभागौ हुत्वा त्रिँशत्स्वसार इति दशाहुतीरनन्वारब्धो हुत्वा, अष्टकाचरुणा शान्ता पृथिवीत्यादिचतुर्भिर्मन्त्रैश्चतस्र आहुतीर्हुत्वा, वपाहोमाय वामहस्तस्थे स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय वपां द्विधाऽवदाय गृहीत्वा पुनर्हिरण्यशकलमवधाय द्विरभिघार्य "वह वप जातवेदः पितृभ्यः" इति प्राचीनावीतिनो दक्षिणामुखस्य वपाहोमः। "इदं पितृभ्यः" इति त्यागः। "इदं जातवेदसे" इति वा त्यक्त्वा यज्ञोपवीति भूत्वोदकं स्पृष्ट्वा वपाश्रपण्यौ विपर्यस्ते अग्नौ प्रास्य पशुं विशास्ति। तद्यथा—हृदयम्, जिह्वाम्, क्रोडम्, सव्यबाहुम्, पार्श्वे, यकृत्, वृक्कौ, गुदमध्यम्, दक्षिणश्रोणिमिति सर्वावदानपक्षे। दक्षिणबाहुम्, गुदतृतीयानिष्टम्, सव्यश्रोणिमिति त्र्यङ्गानि, स्विष्टकृद्द्रव्याणि यदा त्रीणि तदा हृदयम्, जिह्वाम्, क्रोडमिति त्रीणि। पञ्चावदानपक्षे—हृदयम्, जिह्वाम्, क्रोडम्, सव्यबाहुम्, पार्श्वे इति पञ्चावद्यति खण्डयति। तस्मिन्पक्षे शेषान् स्विष्टकृतेऽवद्यति। ततोऽवदानानि प्रक्षाल्य शूलेन हृदयं प्रतप्य उखामग्नावधिश्रित्य अवदानानि प्रक्षिपति स्वल्पमुदकं च। ततस्त्रिः प्रच्युते हृदयमुपरि कृत्वा पृषदाज्येन हृदयमभिघार्येतराण्यवदानानि त्र्यङ्गवर्जितानि आज्येनाभिघारयति। अथोखामुद्वास्यावदानान्युद्धृत्य कस्मिंश्चित्पात्रे हृदयादिक्रमेण उदक्संस्थानि निधाय स्रुवेणाज्यमादाय हृदयादीनां त्र्यङ्गवर्जितानां क्रमेण प्राणदानं

कृत्वा शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य प्लक्षशाखासु हृदयादिक्रमेणोदक्संस्थान्यासादयति। ततस्त्र्यङ्गवर्जितान्यालभते। अथ प्रधानहोमार्थं स्रुवेणाज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय। हृदयादिभ्यः क्रमेण द्विर्द्विरवदाय स्रुवे क्षिप्त्वा स्थालीपाकाच्च सकृदवधायोपरि क्षिप्त्वा तदुपरि हिरण्यशकलं दत्त्वा सकृदभिघार्य "विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा" इति जुहुयात्। इदं "विश्वेभ्यो देवेभ्यः" इति त्यक्त्वा स्विष्टकृदर्थं स्रुवमुपस्तीर्य हिरण्यशकलं दत्त्वा त्र्यङ्गेभ्यो द्विर्द्विरवदाय स्रुवे कृत्वा चरुद्वयाच्च सकृत्सकृदवदाय हिरण्यशकलमवधाय द्विर्द्विरभिघार्य अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इति जुहुयात्, इदमग्नये स्विष्टकृते इति त्यागः। असर्वावदानपक्षे प्रधानावदानशेषात् स्विष्टकृद्धोम इति विशेषः। ततो महाव्याहृत्यादि-प्राजापत्यान्ता नवाज्याहुतीर्हुत्वा ब्रह्मान्वारब्धो हुत्वा संस्रवं प्राश्य ब्रह्मणे पश्वङ्गं दक्षिणां दद्यात्। ततः स्मृत्यन्तरोक्तं पञ्चविंशतिब्राह्मणभोजनं च दद्यात्। अस्यैव पशोः सव्यपार्श्वसक्थिभ्यामपरदिनेऽन्वष्टकाकर्म पूर्ववत्। माघ्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां तृतीयाऽष्टका प्राजापत्या। सा यथा प्रथमाऽष्टका। तत्र अपूपस्थाने कालशाकचरुं तदग्निसिद्धमेवासादनकाले आसाद्य प्रोक्षणकाले प्रोक्षयेत्। ततोऽपूपयागस्थाने "प्रजापतये स्वाहा" इति कालशाकं जुहुयात्। शेषं समानम्। कालशाकालाभे वास्तुकम्। अन्येद्युः पूर्ववदन्वष्टकाकर्मेति। प्रौष्ठपद्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टम्यां चतुर्थी पित्र्या शाकाष्टका। सा च प्रथमाष्टकावत्। एतावान् विशेषः। चरुस्थालीद्वयं तण्डुलानन्तरं कालशाकमासादयेत्। कालशाकचरुसम्बद्धमासादनादि होमान्तं कर्म प्राचीनावीती दक्षिणामुखः कुर्यात्। अन्यद्यज्ञोपवीती पूर्वाभिमुखः कालशाकचरुसम्बद्धं कर्म कृत्वोदकमुपस्पृशेत्। अपूपहोम-स्थाने "पितृभ्यः स्वाहा" इति शाकचरोरेकामाहुतिं जुहुयात्। प्रातरन्वष्टकाकर्म पूर्ववदिति ॥ ३ ॥

सरला

१. आग्रहायणी (कर्म) के अनन्तर (उससे सम्बद्ध) तीन 'अष्टकाख्य, (कर्म करने चाहिए)।

२. इन्द्र, विश्वेदेव, प्रजापति और पितरों की (चार अष्टकायें हैं)।

३. (इनका) क्रमशः पुये, मांस और शाक से यजन करे।

४. कृष्णपक्ष की अष्टमी को पहली अष्टका (का अनुष्ठान करना चाहिए)।

५. स्थालीपाक पकाकर, अग्नि और सोम की आहुतियां डालकर 'त्रिंशत्स्व-सारं....' प्रभृति १० मंत्र पढकर १० घृताहुतियां डाले।

६. 'शान्ता....' प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर स्थालीपाक से (चार) आहुतियां डाले।

७. (चौथी आहुति डालते समय) 'अष्टकायै स्वाहा' मन्त्र (पढ़ना चाहिए)।

८. (चतुर्थ आहुति के अनन्तर 'इन्द्राय स्वाहा' कहकर एक अपूप-आहुति और देकर स्विष्टकृत् होम करना चाहिए।) मध्यमा अष्टका गौ से (सम्पन्न होनी चाहिए)।

९. 'वह वपां.....' मन्त्र पढ़कर गौ की वपा से होम करे।

१०. दूसरे दिन (नवमी को) पिण्डपितृयज्ञ की भाँति सभी बाद में होने वाली अष्टकाओं का अनुष्ठान पार्श्व और सक्थि सव्य (पशुओं) के मांस से, सर्वथा प्रच्छादित (स्थान पर) करना चाहिए।

११. स्त्रियों (मातृपितामही, प्रपितामही) को भी पिण्डदान तथा सुरा और सत्तू अर्पित किए जायें। सुरा अवटों में दी जाये। काजल, चन्दनादि का लेप और मालायें भी दी जायें।

१२. इच्छानुसार सन्तानरहित आचार्य एवं अन्तेवासियों को भी (पिण्डदान किया जा सकता है)।

१३. वर्ष के मध्य (वृष्टि-काल) में चौथी अष्टका शाक से (सम्पन्न की जाये।)

टिप्पणी—१. अष्टकायें संस्कारों के अन्तर्गत हैं। सुमन्तु और गौतम प्रभृति आचार्यों ने इन्हें संस्कारों के मध्य में ही स्थान दिया है–'अष्टकाः पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्राश्वयुजीति पाकयज्ञसंस्थाः।' हरिहर ने एक प्रश्न उठाया है। वह यह कि संस्कारों में अष्टकाओं को सम्मिलित करने का कारण भाष्यकारों ने इसका सकृत् अनुष्ठान बताया है। हरिहर के अनुसार यह संस्कारों की मुख्य कसौटी नहीं है क्योंकि पञ्चमहायज्ञादि असकृत्करणीय कर्म हैं–फिर भी ये संस्कार ही माने जाते हैं। इसका समाधान उन्होंने यह दिया है कि ४० संस्कारों में दोनों ही प्रकार के संस्कार सम्मिलित हैं–सकृत्करणीय तथा असकृत्करणीय। इनमें जिनका अभ्यास सुना जाता है, वे असकृत्करणीय हैं, शेष सकृत्करणीय।

२. तीन द्रव्यों के साथ तीन अष्टकाओं की संगति तो बैठ जाती है फिर चौथी अष्टका का उल्लेख क्या अनुपयुक्त है ? नहीं। उल्लेख करते समय तीन अष्टकाओं के साथ आचार्य पारस्कर के मस्तिष्क में चौथी अष्टका की बात भी थी–अतः उसका उल्लेख अनुचित नहीं माना जाना चाहिए। यहाँ 'अष्टका' शब्द कर्मवाचक होने के साथ ही काल का उपलक्षक भी है, अन्यथा आग्रहायणी के बाद 'तीन अष्टकायें' कहने से प्रतिपदा की प्राप्ति भी हो जायेगी और यह आचार्य को इष्ट नहीं है–अतः 'अष्टका' शब्द से अष्टमी का संकेत मिलता है–'द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशाष्टका द्वादशामावास्या' इति। आश्वलायन-स्मृति में भी यही बात कही गई है–'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका' इति।

३. पारस्कर ने यहां यद्यपि गोमांस का ही उल्लेख किया है तथापि लोकविद्विष्ट होने के कारण इसका आचरण नहीं करना चाहिए। इसीलिए हरिहर ने इस समस्या का समाधान यह बताया है कि गवालम्भ न कर किसी अन्य अनिन्दित पशु के मांस से अष्टकाकर्म सम्पन्न कर देना चाहिए—

'गोपशोरस्वर्ग्यत्वाल्लोकविद्विष्टत्वात्कलौ विशेषतः वर्जनीयत्वाच्च न गवालम्भः कर्तव्यः। किन्तु अनिषिद्धपश्वन्तरेणावश्यकर्तव्याष्टकादिनिर्वर्तनीयम्।'

विश्वनाथ ने भी छाग का, मांस के स्थान पर विधान किया है। छाग न प्राप्य हो, (या यजमान मांस मात्र से ही चिढ़ता हो, तो) चरु से भी यह अष्टका अनुष्ठित हो सकती है।

४. मध्यमा अष्टका का अनुष्ठान फागुन के अन्त में होगा।

मंत्रार्थ

१. त्रिंशत्स्वसार उपयन्ति निष्कृतं समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः। ऋतूंस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्तदेवता।

अष्टकाधिष्ठात्री देवी की तिथिरूपा तीस बहनें (चन्द्रादि के रूप में) शुद्ध चिह्नधारण कर ऋतुओं का विस्तार करती हुई अष्टका के समीप (हविष्यान्न ग्रहण करने के लिए जाती हैं। ये सभी क्रान्तदृष्टिसम्पन्न, अतीतज्ञानशीला, संवत्सर को आच्छादित करनेवाली और दीप्तिमयी हैं।

२. ज्योतिष्मती प्रतिमुञ्चते नभो रात्री देवी सूर्यस्य व्रतानि। विपश्यन्ति पशवो जायमाना नानारूपा मातुरस्या उपस्थे॥

वही।

(नक्षत्रमण्डित) ज्योतिर्मयी, दीप्तिमयी, और दानादिगुणयुक्त रात्रि को नमस्कार। वह आकाश-मण्डल को आच्छन्न कर सूर्यजन्य (दिवसोचित) कर्मों को भी नहीं होने देती। रात्रिवेला में विभिन्न पशु-समुदाय मातृरूपा धरती पर खड़े होकर ऊपर के कार्यकलापों को विशेष ध्यान से देखता रहता है।

३. एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्। तेन दस्यून्व्यसहन्तदेवाहन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः॥

वही।

(चतुर्थी) अष्टका ने तपस्या कर जिन परम ऐश्वर्यवान इन्द्र को अपने गर्भ से उत्पन्न किया, उन्हीं के अधिनायकत्व में देवताओं ने दस्युओं को पराजित कर उनका उन्मूलन किया (इसलिए) अपने कर्मों से इन्द्र असुरघाती बने।

४. अनानुजामनुजां मामकर्त्त सत्यं वदन्त्यन्विच्छ एतत्। भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्यावो अन्यामति मा प्रयुक्त॥

वही।

ओ रात्रिदेवियों ! हम अष्टकायें सत्य कहती हैं कि कनिष्ठ होते हुए भी तुमने हमें ज्येष्ठता दी; यह हमें शिरोधार्य है। हम-तुम सभी इस यजमान को श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करें। तुम्हारे मध्य की अन्य रात्रियाँ इस यजमान के कार्यों को विच्छिन्न न करें। वे सभी परस्पर सानुराग होकर यजमान के कार्य को सिद्ध करें।

५. अभून्मम सुमतौ विश्ववेदा आष्ट प्रतिष्ठामविदद्धि गाधम्। भूयासमस्य सुमतौ यथा यूयमन्या वो अन्यामति मा प्रयुक्त ॥

वही।

ओ बहनों ! मेरे सद्बुद्धियुक्त निर्देशन में रहते हुए (यह यजमान) समग्र धन, ज्ञान, प्रतिष्ठा, प्रगति और अपने निश्चित ध्येय को प्राप्त करें।

(शेष पूर्ववत्)

६. पञ्च व्युष्टीरनु पञ्चदोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनुपञ्च। पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्ताः समानमूर्ध्नीरधिलोकमेकꣳ ॥

वही।

(यजमान को) पाँच प्रकार के (अधिकार) प्रदान करनेवाली पाँच (रात्रियाँ) उषा की अनुगामिनी हैं। इस पृथ्वीलोक से ऊपर (यजमान के कल्याण-हेतु) संवत्सररूपा पाँच नामों (संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदवत्सर, वत्सर अथवा नन्दा, भद्रा, सुरभी, सुशीला और सुमना) वाली गाय है। पाँच ऋतुयें उसके बछड़ों जैसी हैं। (तथा इस गाय के अतिरिक्त) आदित्य रूप समान मस्तकवाली और १५ स्तोमों की शक्ति से समन्वित (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व— ये) पाँच दिशायें हैं।

७. ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषिष्यपामेका महिमानं बिभर्ति। सूर्यस्यैका चरति निष्कृतेषु धर्मस्यैका सवितैकां नियच्छतु ॥

वही।

एक रात्रि यज्ञ, सत्य या वेद को आश्रय प्रदान करती है,

दूसरी अन्धकार को दूर कर (चन्द्रोदय के रूप में) जल की महिमा धारण करती है,

तीसरी सूर्यास्त के अनन्तर आती है और चौथी धूप ढल जाने पर प्रवृत्त होती है,

सवितृदेव उसी एक रात्रि को सुखदात्री बनायें (उसके सुखमय होने पर अन्य रात्रियाँ स्वयमेव सुखद हो जायेंगी)।

८. या प्रथमा व्यौच्छत्सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तराᳬसमाम् ॥

अनुष्टुप्।

पहली रात्रि को जब यम ने अपने पाश में बांधा तो वह गौ बन गई (श्राद्धादि-जन्य हविष् का सम्पादन कर वह यम को अभीष्ट प्रदान करने लगी)।

वही पयस्विनी गौ हमें आजीवन उत्तरोत्तर अभीष्ट वस्तुयें प्रदान करती हुई हमारे मनोरथों की सिद्धि करे।

९. शुक्रऋषभा नभसा ज्योतिषागाद्विश्वरूपा शबली अग्निकेतुः। समानमर्थᳬस्वपस्यमाना बिभ्रती जरामजर उष आगाः ॥

हे चिरतरुणी उषा देवि ! तुम (सबके लिए) समान (रूप से हितकारी) कर्मों का संपादन कर (उषः काल में जगने वाले लोगों को) दीर्घायु-दान करती हुई (उस रात्रि में आई हो जो) दीप्तिमयी, वृष्टिशीला, श्रेष्ठ और नाना रूपों वाली है, वह आकाशस्थ ज्योतिष्मान नक्षत्रों के साथ आई है। (उषः काल में होनेवाले यज्ञों की) अग्निशिखा उसे प्रकाशित करती है।

विशेष—शुक्लयजुर्वेद संहिता में 'शुक्र' शब्द अनेक बार आया है—१७.८०; ४.२६; १४.६। उवट और महीधर ने वहाँ इसके विभिन्न अर्थ किए हैं—

उवट—शुक्ल, अक्लिष्टकर्मा, हिरण्य।

महीधर—शुद्ध, दीप्यमान, हिरण्य, ज्येष्ठमास। जयराम ने उपर्युक्त प्रकृत मंत्र में 'शोचिष्मती' अर्थ किया है।

१०. ऋतूनां पत्नी प्रथमेयमागादह्नां नेत्री जनित्री प्रजानाम्। एका सती बहुधोषो व्यौच्छत्साऽजीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत् ॥

ऋतुओं का परिपालन करनेवाली ओ उषस् ! तुम दिनों का आविर्भाव कर, जन जागरण के द्वारा जन-मन को (सुकर्म की ओर) प्रेरित करती हो; अकेली रहकर (विश्व के) विभिन्न (पदार्थों) को प्रकाशित करती हो; तुम स्वयं तो जराहीन युवती हो किन्तु अन्य सबको वृद्धावस्था तक निर्दुष्ट जीवन प्रदान करती हो।

शेष मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट है।

चतुर्थकण्डिका—शालाकर्म

अथातः शालाकर्म ॥ १ ॥ पुण्याहे शालां कारयेत् ॥ २ ॥ तस्या अवट-मभिजुहोत्यच्युताय भौमाय स्वाहेति ॥ ३ ॥ स्तम्भमुच्छ्रयति इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां

क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा। अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय। आत्वा शिशुराक्रन्द त्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः। आत्वा कुमारस्तरुण आवत्सो जगदैः सह। आत्वा परिस्रुतः कुम्भ आदघ्नः कलशैरुप। क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्। अश्वादगोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव। अभिनः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसान इति चतुरः प्रपद्यते ॥ ४ ॥ अभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकं श्रपयित्वा निष्क्रम्य द्वारसमीपे स्थित्वा ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन् प्रविशामीति ॥ ५ ॥ ब्रह्मानुज्ञातः प्रविशत्यृतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति ॥ ६ ॥ आज्यं संस्कृत्येहरतिरित्याज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति। वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवानः। यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्द्रो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा। वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयम्पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा। अमीवहा वास्तोष्पतेविश्वारूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः स्वाहेति ॥ ७ ॥ स्थालीपाकस्य जुहोति। अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वान्देवानुपह्वये सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहाः सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तं सुदर्शनम्। वसूंश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा। पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यंदिना सह। प्रदोषमर्द्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ कर्तारं च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा। धातारं च विधातारं निधीनां च पतिं सह। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा। स्योनं शिवमिदं वास्तु दत्त ब्रह्मप्रजापती। सर्वाश्च देवताः स्वाहेति ॥ ८ ॥ प्राशनान्ते कांस्ये संभारानौप्यौदुम्बरपलाशानि ससुराणि शाड्वलं गोमयं दधिमधु घृतं कुशान्यवांश्चासनोपस्थानेषु प्रोक्षेत् ॥ ६ ॥ पूर्वे सन्धावभिमृशति। श्रीश्चत्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ १० ॥ दक्षिणे संधावभिमृशति। यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ ११ ॥ पश्चिमे संधावभिमृशति। अन्नं च त्वा ब्राह्मणाश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ १२ ॥ उत्तरे संधावभिमृशति। ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेतामिति ॥ १३ ॥ निष्क्रम्य दिश उपतिष्ठते। केता च मा सुकेता च पुरस्तादगोपायेतामित्यग्निर्वै केतादित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद्गोपायेतामिति ॥ १४ ॥ अथ दक्षिणतो गोपायमानं च मारक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै

गोपायमानं रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेतामिति ॥ १५ ॥ अथ पश्चात् दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद्गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद्गोपायेतामिति ॥ १६ ॥ अथोत्तरतोऽस्वप्नश्च मानवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति ॥ १७ ॥ निष्ठितां प्रपद्यते धर्मस्थूणा राजꣳ श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके । इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह । यन्मे किंचिदस्त्युपहूतः सर्वंगणसखायसाधुसंवृतः । तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वत इति ॥ १८ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ १९ ॥ ४ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथातः शालाकर्म—यान्वष्टकाकर्मानिन्तरं यत आवसथ्याधानादीनि कर्माणि शालाग्निसाध्यान्यनुविहितानि शालाकरणं च नोक्तम्, अतो हेतोः शालाकर्म शालाया गृहस्य क्रिया व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः । तद्यथा—पुण्याहे शालां कारयेत्—पुण्यं शुभं मलमासबालवृद्धास्तमितगुरुशुक्रगुर्वादित्यसिंहस्थगुरुक्षयमासदिनत्र्यहक्रूरग्रहाक्रान्तभुक्त-भोग्यनक्षत्रादिदोषरहितं ज्योतिःशास्त्रादिनोक्तगृहारम्भविहितमासपक्षतिथिवारनक्षत्रयोग-करणमुहूर्तचन्द्रतारावललग्नादिगुणान्वितमहः पुण्याहं तस्मिन्पुण्याहे शालां गृहं कारयेत् निर्मापयेत् । पुनः पुण्याहग्रहणं तूदगयनशुक्लपक्षयोरनियमार्थम् । शालां कारयेदित्युक्तम् । तच्च शालाकरणं देशमन्तरेण न सम्भवति इति सामान्यतो देशे प्राप्ते "यन्नाम्नातं स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत् । विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत् ॥" इति वचनात् पारस्कराचार्येणानुक्तमपि गोभिलगृह्यसूत्रोक्तदेशविशेषमविरोधादपेक्षितत्वाच्चात्र लिखामः । तद्यथा—कीदृशे देशे शालां कारयेत् । समे लोमशे अविभ्रंशिनि प्राचीनप्रवणे उदक्प्रवणे वा अक्षीराकण्टकाकटुकौषधिवितते विप्रस्य गौरपांसौ, क्षत्रियस्य लोहितपांसौ, वैश्यस्य कृष्णपांसौ. वास्तुशास्त्रमते वैश्यस्य पीतपांसौ, शूद्रस्य कृष्णपांसौ, स्थिराघाते, एकवर्णे, अशुष्के, अनूषरे, अमरौ । मरुर्निर्जलो देशः । अकिलिने ब्रह्मवर्चसकामस्य, दर्भयुक्ते बलकामस्य, बृहत्तृणयुते पशुकामस्य, मृदुतृणयुते शादासम्मिते मण्डलद्वीपसम्मिते वा । स्वयं खातश्च भवति वा । यशस्कामस्य बलकामस्य च प्राग्द्वारां, पुत्रपशुकामस्योदग्द्वारां, सर्वकामस्य दक्षिणद्वारां न प्रत्यग्द्वारां मुख्यद्वारसम्मुखात् द्वाररहिताम् । पूर्वादितः प्रदक्षिणक्रमेणाश्वत्थप्लक्षवटौदुम्बरवृक्षवर्जितां कारयेत् । "भवनस्य पूर्वादौ वटौदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः सार्वकामिकाः विपरीतास्त्वसिद्धिदाः" इति मत्स्यपुराणे । तथा—"कण्टकी क्षीरवृक्षश्च आसन्नः सफलो द्रुमः । भार्याहानिं प्रजाहानिं कुर्वन्ति क्रमशस्तथा ॥ न च्छिन्द्याद्यदि तानन्यानन्तरे स्थापयेच्छुभान् । पुन्नागाशोकबकुलशमीतिलकचम्पकान् ॥ दाडिमी पिप्पली द्राक्षा तथा कुसुममण्डपम् ।" "जम्बीर-

पूगपनसद्रुममञ्जरीभिर्जातीसरोजशतपत्रिकमल्लिकाभिः । पुन्नारिकेलकदलीदलपाटलाभिर्युक्तं तदत्र भवनं श्रियमातनोति ॥" तस्या अवटमभिजुहोत्यच्युताय भौमाय स्वाहेति तस्याः शालाया अवटं स्तम्भारोपणार्थं खातम् अभिमुखेन जुहोति, "अच्युताय भौमाय स्वाहा" इति मन्त्रेण । अत्रावटमित्येकवचनम् अन्येषां त्रयाणामुपलक्षणार्थम्, संस्कार्यत्वाविशेषात् "गृहं सम्मार्ष्टि" इतिवदेकवचनम् । अवटाश्चत्वारः कुत इति चेत् धवलगृहस्य स्तम्भशालारूपस्य च चतुर्षु कोणेषु चत्वारो मूलस्तम्भा भवन्ति, ते च शिलामुच्छ्रीयन्ते शिलाश्चावटेष्विति चत्वारः । अतश्चतुर्षु कोणेषु आग्नेयादिषु चत्वारोऽवटा भवन्ति, तेष्वेवाज्येन होमः । स्तम्भमुच्छ्रयतीमामुच्छ्रयामीति—स्तम्भमुच्छ्रयति उत्थापयति अवटे मिनोतीत्यर्थः । केन मन्त्रेण इमामुच्छ्रयामीत्यादिना श्रेयो वसाम इत्यन्तेन मन्त्रेण चतुरः । ततोऽनेनैव मन्त्रेण नैर्ऋत्याद्यवटेषु चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति । इतरगृहे तु चतुर्षु कोणेषु शिलान्यास एव भवति अनेनैव मन्त्रेण । प्रपद्यते—ततः शालां प्रपद्यते प्रविशति । अभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा निष्क्रम्य द्वारसमीपे स्थित्वा ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन्प्रविशामीति-अभ्यन्तरतः अर्द्धनिष्पन्नायाः शालाया मध्ये अग्निमावसथ्यमुपसमाधाय पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं स्थापयित्वा दक्षिणतः अग्नेर्दक्षिणपार्श्वे ब्रह्माणमुपवेश्य, उत्तरतः अग्नेरुत्तरप्रदेशे उदपात्रं जलपूर्णं ताम्रादिभाजनं प्रतिष्ठाप्य निधाय । अत्र पुनर्ब्रह्मोपवेशनमुदपात्रप्रतिष्ठापनावसरविज्ञापनार्थम् । स्थालीपाकं चरुं श्रपयित्वा यथाविधि पक्त्वा ब्रह्माणं प्रथममृत्विजमामन्त्रयते सम्बोधयति । कथं, ब्रह्मन्प्रविशामीति । ब्रह्मानुज्ञातः प्रविशत्यृचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति—तत आमन्त्रितेन ब्रह्मणा प्रविशस्वेत्यनुज्ञातः प्रसूतः प्रविशति, ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्य इति मन्त्रेण शालां प्रपद्यते । आज्यꣳ संस्कृत्येह रतिरित्याज्याहुती हुत्वाऽपरा जुहोति वास्तोष्पते इत्यादि—अत्र प्राप्तमप्याज्यसंस्कारविधानमाघारादर्वाक् इहरतिरिति आज्यस्य होमप्राप्त्यर्थम् । आज्यसंस्कारानन्तरं पर्युक्षणान्ते इह रतिरित्यादिना इह स्वधृतिः स्वाहेत्यन्तेन मन्त्रेणैकाम्, उपसृजमित्यादिना सुदीधरत्स्वाहेत्यन्तेन मन्त्रेण द्वितीयामाहुतिं हुत्वा वास्तोष्पत इति चतसृभिर्ऋग्भिरपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति । तत आघारावाज्यभागौ हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोति अग्निमिन्द्रमित्यादि- ततः स्थालीपाकस्य चरोरग्निमिन्द्रमित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं मन्त्राहुतीर्जुहोति । प्राशनान्ते कांꣳस्ये सम्भारानोप्यौदुम्बरपलाशानि ससुराणि शाद्वलं दधि मधु घृतं कुशान्यवांश्चासनोपस्थानेषु प्रोक्षेत्-ततः स्विष्टकृदादिसंस्रवप्राशनान्ते कांस्ये कांस्यमये पात्रे, सम्भारान वक्ष्यमाणानोप्य कृत्वा औदुम्बरपत्राणि ससुराणि सक्षीराणि शाद्वलं दूर्वागोमयम् अरोगिण्यादिगोः शकृत्, दधि, मधु, घृतं, यवान् निगदव्याख्यातान्, आसनानि च उपस्थानानि च आसनोपस्थानानि वास्तुशास्त्रोपदिष्टानि तेषु प्रोक्षेत् उदुम्बरपलाशादिसम्भारैस्तान्यभिषिञ्चेदित्यर्थः । तत्रासनानि नागदन्तादिमयस्थानानि उपस्थानानि देवतास्थानानि । पूर्वे सन्धावभिमृशति श्रीश्च त्वेति—ततः शालायाः पूर्वे सन्धौ अभिमृशति पूर्वसन्धिप्रदेशमालभते श्रीश्च त्वेति मन्त्रेण । एवं दक्षिणे

सन्धौ यशस्य त्वेति मन्त्रेण। तथैव पश्चिमे सन्धौ अन्नं च त्वेति। तद्वदुत्तरे सन्धौ ऊर्क्ं च त्वेति। निष्क्रम्य दिश उपतिष्ठते—एवं शालायाः पूर्वादिसन्धीनभिमृश्य बहिर्निष्क्रम्य दिशः प्राचीप्रमुखाश्चतस्रः केता च मा सुकेता चेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रदक्षिणक्रमेण प्रतिमन्त्रमुपतिष्ठते स्तौति। निष्ठितां प्रपद्यते धर्मस्थूणेति—निष्ठितां निर्मितां सम्पूर्णामिति यावत्। प्रपद्यते प्रविशति धर्मस्थूणेत्यादिना सन्तु सर्वत इत्यन्तेन मन्त्रेण। ततो ब्राह्मणभोजनम्—इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

अथ प्रयोगः। अथ शालाकर्मोच्यते। तत्र पुण्याहे मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य स्तम्भस्थानावटेषु चतुर्षु प्रत्यवटमाग्नेयकोणादारभ्य "अच्युताय भौमाय स्वाहा" इत्यनेन मन्त्रेणैकैकामाज्याहुतिं जुहुयात्। "इदमच्युताय भौमाय" इति प्रत्याहुति त्यागः। अथ होमक्रमेणावटेषु तूष्णीं शिलाः स्थापयित्वा तदुपरि "इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा। अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय। आ त्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः। आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप। क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्। अश्वावद्गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव। अभि नः पूर्यताँ रयिरिदमनुश्रेयो वसानः" इत्यनेन मन्त्रेण होमक्रमेणैव चतुर्षु अवटेषु चतुरः स्तम्भानुच्छ्रयति मिनोति। स्तम्भाभावेऽनेनैव मन्त्रेण प्रत्यवटं शिलां स्थापयेत्। अर्द्धनिष्पन्नायां शालायां तन्मध्यप्रदेशे पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमावसथ्याग्निं स्थापयित्वा ब्रह्माणमुपवेश्याग्नेरुत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीताप्रणयनं विधाय कुशकण्डिकापूर्वकं चरुं श्रपयित्वा प्रोक्षण्युत्पवनान्ते बहिर्निष्क्रम्य द्वारसमीपे गृहाभिमुखं स्थित्वा ब्रह्मन्प्रविशामीति ब्रह्माणमामन्त्र्य प्रविशस्वेति ब्रह्मणाऽनुज्ञात "ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये" इति मन्त्रेण शालां प्रविशेत्। अथ स्वासने उपविश्य उपयमनकुशानादाय समिदाधानपर्युक्षणानि कृत्वा "इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा" इत्येकामाज्याहुतिं जुहुयात्, "इदमग्नये" इति त्यागं विधाय, "उपसृजं धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा" इति मन्त्रेण द्वितीयामाज्याहुतिं जुहोति, "इदमग्नये" इति त्यक्त्वा अपराश्चतस्र आज्याहुतीर्जुहोति। "वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवा नः। यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा" इत्येकाम्, इदं वास्तोष्पतये०। "वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तं नो जुषस्व स्वाहा" इति द्वितीयाम्, इदं वास्तोष्पतये०। "वास्तोष्पते शग्मया सꣳसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा" इति तृतीयाम्, इदं वास्तोष्पतये०। "अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः स्वाहा" इत्यनेन चतुर्थीं जुहुयात्। इदं वास्तोष्पतय इति चतसृषु त्यागः। तत आघारावाज्यभागौ हुत्वा चरुणा अग्निमिन्द्र-

मित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षडाहुतीर्जुहुयात्। तद्यथा—"अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वान्देवानुपह्वये। सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा" इति प्रथमा। इदमग्नये, इन्द्राय, बृहस्पतये, विश्वेभ्यो देवेभ्यः, सरस्वत्यै, वाज्यै च०। "सर्पदेवजनान् सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम्। वसूꣳश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा" इति द्वितीयाम्। इदं सर्पदेवजनेभ्यो हिमवते, सुदर्शनाय, वसुभ्यः, रुद्रेभ्यः, आदित्येभ्यः, ईशानाय, जगदेभ्यश्च०। पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह। प्रदोषमर्द्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा" इति तृतीयाम्। इदं पूर्वाह्णाय, अपराह्णाय, मध्यन्दिनाय, प्रदोषाय, अर्द्धरात्राय, व्युष्टायै देव्यै, महापथायै च०। "कर्तारं च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधीश्च वनस्पतीन्। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा" इति चतुर्थीम्। इदं कर्त्रे, विकर्त्रे, विश्वकर्मणे, ओषधिभ्यो, वनस्पतिभ्यश्च०। "धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳसह। एतान्त्सर्वान्प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा" इति पञ्चमीम्। इदं धात्रे, विधात्रे, निधीनां पतये च०। स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु मे दत्तं ब्रह्मप्रजापती। सर्वाश्च देवताः स्वाहाः" इति षष्ठीम्। इदं ब्रह्मणे, प्रजापतये, सर्वाभ्यो देवताभ्यश्च०। ततः स्थालीपाकेन स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवान् प्राश्य ब्रह्मणे दक्षिणां दत्वा कांस्यपात्रेऽनुपहते सक्षीराण्यौदुम्बरपर्णानि दूर्वागोमयदधिमधुघृतकुशयवांश्च सम्भारान्कृत्वा आसनानि नागदन्तस्थानानि उपस्थानानि च देवतास्थानानि प्रोक्षेत्, तैः पत्रादिसम्भारैः। अथ पूर्वे सन्धौ, "श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम्" इति मन्त्रेणाभिमर्शनं करोति। ततो दक्षिणे सन्धौ, "यज्ञस्य त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम्" इति। अथानन्तरं पश्चिमे सन्धौ, "अन्नं च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम्" इति। अथोत्तरे सन्धौ, "ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम्" इति। अथ गृहान्निष्क्रम्य वक्ष्यमाणमन्त्रैर्यथालिङ्गं दिश उपतिष्ठते। "केता च मा सुकेता च पुरस्ताद्गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद्गोपायेताम्" इति मन्त्रेण प्राचीं दिशमुपस्थाय, अथ दक्षिणतः, "गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपमानꣳरात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम्" इति दक्षिणां दिशमुपस्थाय, अथ पश्चात् "दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद्गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद्गोपायेताम्" इति मन्त्रेण पश्चिमामुपस्थाय, अथोत्तरतः, "अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेताम्" इति मन्त्रेणोत्तरामुपतिष्ठते। ततः समाप्तायां शालायां ज्योतिर्विदुपदिष्टे पुण्येऽहनि "प्रवेशे नववेश्मनः" इति वचनान्मातृपूजाऽऽभ्युदयिकश्राद्धं विधाय ब्राह्मणैः कृतस्वस्त्ययनो मङ्गलतूर्यगीतशान्तिपाठेन सजलकलशब्राह्मणपुरःसरः शुक्लमाल्यानुलेपनस्ताहशसकलपुत्रपौत्र-

कलत्रादिसमेतः सुशकुनसूचिताभ्युदयस्तोरणाढ्यां शालां द्वारेण प्रविशति । "धर्मस्थूणाराजं श्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह । यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणसखायसाधुसंवृतः तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वतः" इत्यनेन प्रविशेत् । ततो ब्राह्मणभोजनम् । इति शालाकर्म ॥ ४ ॥

सरला

१. (चूंकि शालाग्निसाध्य आवसथ्याधान इत्यादि कर्मों का विधान कर चुकने पर भी अब तक शालाकर्म नहीं बताया गया, और बिना शाला के शालाग्नि की स्थापना कहाँ होगी ?) इसलिए अब शालाकर्म (की विधि बतला रहे हैं) ।

२. (ज्योतिष शास्त्रोक्त) शुभ समय में (शिल्पियों के द्वारा) गृह-निर्माण कराये

३. शाला के अवट (खम्भा रखने के लिए खोदे गये गड्ढे) पर 'अच्युताय भौमाय स्वाहा' मंत्र पढ़कर होम करे ।

(यहां 'अवट' शब्द यद्यपि एकवचनान्त है किन्तु उससे ग्रहण चारों अवटों का होगा क्योंकि चारों कोनों पर खम्भे रखने के लिये अवट खुदेंगे । यह आज्य-होम होगा) ।

४. 'इमामुच्छ्रयामि ... वसान' मंत्रों का पाठकर स्तम्भ उठाये (और आग्नेय कोण के अवट में रखे । इसी प्रकार से अन्य तीन स्तम्भों को भी उठाकर अवटों में रखे । (प्रत्येक बार इसी मंत्र की आवृत्ति होगी । ऐसे घर में जहाँ स्तम्भों के स्थान पर शिलाएँ रखनी हैं, इसी मंत्र से शिलान्यास होगा । तदनन्तर शाला–प्रवेश—)

५. (शाला के) अन्दर (पञ्चभूसंस्कारपूर्वक) अग्नि की स्थापना करके, (अग्नि के) दाहिने ब्रह्मा को बिठाकर, उत्तर की ओर जलपूर्ण पात्र रखकर, चरु को पकाकर, (बाहर) निकलकर, द्वार के समीप खड़े होकर, ब्रह्मा को सम्बोधित (करते हुए) कहे—'ब्रह्मन् ! मैं प्रवेश करूँ ?'

६. ब्रह्मा के ('प्रवेश करो—' यह) आज्ञा दे देने पर 'ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये' मंत्र का पाठ करते हुए प्रवेश करे ।

७. आज्य–संस्कार करके 'इहरति ......' मंत्र पढ़कर एक आज्याहुति और उपसृजम् ...' मंत्र पढ़कर दूसरी आज्याहुति दे । (तदनन्तर) 'वास्तोष्पते ... ' प्रभृति ऋचायें पढ़कर चार आज्याहुतियां और डाले (प्रत्येक आहुति के समय एक ऋचा का पाठ करना चाहिए । फिर आघार और आज्य-भाग का होम) ।

८. 'अग्निमिन्द्रम्' आदि छह ऋचायें पढ़कर छह आहुतियां स्थालीपाक की डाले । संस्रव–प्राशन के अनन्तर कांसे के पात्र में क्षीरयुक्त गूलर के पत्ते, दूर्वादल, गोबर, दही, शहद, घी, कुश और जौ रखकर (उनसे) नागदन्त आदि और देवस्थानों का अभिषेक करे ।

१०. 'श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम्' मंत्र पढ़कर पूर्वसन्धि (दीवार आदि) का स्पर्श करें।

११. 'यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम्' मन्त्र पढ़कर दक्षिण सन्धि का स्पर्श करें।

१२. 'अन्न च त्वा ब्राह्मणाश्च पश्चिमसन्धौ गोपायेताम्' मन्त्र पढ़कर पश्चिमी सन्धि को छुए।

१३. 'ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम्' से उत्तर सन्धि का स्पर्श करें।

१४-१७. (घर से बाहर) निकलकर 'केता च मा' प्रभृति चार मन्त्रों से चारों दिशाओं की स्तुति करें।

१८. (और जब घर बन जाए तो उस) पूर्ण निर्मित घर में 'धर्मस्थूणा....' आदि दो मंत्रों का पाठ करते हुए प्रवेश करे।

(विश्वनाथ—शुभ दिन स्वर्णमण्डित जलकुंभ लेकर वैदिक मंत्र-घोष करते हुए ब्राह्मणों का आशीर्वाद लेकर गृहपति प्रवेश करे)।

१९. तदनन्तर ब्राह्मण-भोजन।

टिप्पणी—१. गोभिल गृह्यसूत्र (४०७०१-११) में बताया गया है कि शाला ऐसे स्थान पर बनानी चाहिए जो समतल, तृणाच्छन्न, जलप्रवण, और स्थिर हो; वहाँ क्षीरवृक्ष न हों, काँटें न हों, ना ही कड़वी वनस्पतियाँ होनी चाहिए। ब्राह्मण के लिए श्वेत मिट्टीवाली, वैश्य के लिए पीली मिट्टीवाली, क्षत्रिय के लिए लाल मिट्टीवाली और शूद्र के लिए काली मिट्टीवाली भूमि उपयुक्त है।

यशोबल-कामी पूर्व में गृहद्वार रखे, पुत्र-पशुकामी उत्तर में और सर्वकामी दक्षिण में गृहद्वार रखें। पश्चिम की ओर घर का दरवाजा कभी नहीं रखना चहिए।

(स्मरणीय है कि संप्रति दक्षिणमुख गृहद्वार अच्छे नहीं माने जाते)।

मकान के पूर्व में पीपल का पेड़ रहने से अग्नि-भय, दक्षिण में पाकड़ के रहने से आयु-हानि, पश्चिम में वटवृक्ष के रहने से शस्त्राघात का सन्देह और उत्तर में गूलर के रहने से नेत्र-रोग की संभावना रहती है।

मत्स्य-पुराण में उक्त तथ्य कुछ भिन्न प्रकार से रखे गए हैं। तदनुसार भवन के पूर्व में लगे होने पर बरगद, गूलर और प्लक्षवृक्ष सभी कामनायें पूर्ण करते हैं किन्तु वे ही यदि विपरीत अर्थात् पश्चिम में हुए तो उनसे कोई लाभ नहीं। भवन के निकट लगे हुए कण्टकी और क्षीरवृक्ष पत्नी तथा पुत्र को हानि पहुँचाते हैं—यदि इन्हें काटना न चाहे तो कहीं और लगा दे। दाडिमी, पिप्पली, द्राक्षा, कुसुममण्डप, जम्बीर, पूग, पनस, चमेली, मल्लिका, नारियल, कदली और गुलाब के पौधों से घर की शोभा बढ़ती है।

२. कर्म की पूर्णता के लिए तो एक ही ब्राह्मण को भोजन कराना पर्याप्त है किन्तु कर्म-साद्‌गुण्य हेतु १० या ५ ब्राह्मणों को जिमाना चाहिए।

मंत्रार्थ

१. इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम् ! इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा ॥

विश्वामित्र, त्रिष्टुप्, लिङ्गोक्तदेवता।

मैं पृथ्वी या पृथ्वीगत शाला की आधारभूत इस स्थूणा (थुनिया) को उठा रहा हूँ। यह धन को धारण करनेवाली, निधि-स्रोत और विविध प्रकार की धन-राशि का विस्तार करनेवाली है। मैं इसी अचल स्थूणा पर अपनी शाला की स्थापना करता हूँ। यह शाला हमें सुख प्रदान करती हुई निरुपद्रव स्थान पर स्थिर रहे।

२. अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय। आत्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः ॥

वही, पंक्ति, वही।

हे शाले ! तुम अश्वयुक्त, गोयुक्त तथा प्रिय और सत्यवचनों से पूर्ण हो— तुम हमारे महान् भाग्योदय के लिए उठो। तुम पर आरूढ़ होकर बालक हँसें-खेलें; प्रसूता और अप्रसूता गायें भी किलकारियाँ भरें।

(विशेष—यद्यपि जयराम ने इसे शाला को ही सम्बोधित माना है किन्तु हमारे विचार से यह स्थूणा को सम्बोधित है क्योंकि उठाना तो उसे ही है फिर बच्चे चढ़ने-उतरने का खेल भी स्थूणा पर ही खेला करते हैं)।

३. आत्वा कुमारस्तरुण आवत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आदध्नः कलशैरुप। क्षेमस्य पत्नी बृहती सुवासा रयिं नो धेहि सुभगो सुवीर्यम् ॥

वही, जगती, वही।

तुम्हारा अवलम्बन कर युवक ब्रह्मचारी वेद-घोष करे; परिचारकों को गोद में खेलते हुए शिशु दुग्ध-पान करने के लिए मां को बुलायें; तुम पर रखे हुए लबालब जल तथा दही भरे कलश अन्य ऋद्धि-समृद्धि पूर्ण कलशों के साथ ध्वनि करें; हे शाले ! तुम हमारी रक्षा-स्वामिनी हो, सुन्दरी और प्रचुरगुणशीला हो—तुम स्वयं सुसमृद्ध होकर हमें धन-धान्ययुक्त बनाये रखो। तुम सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत होकर हमें ऊर्जस्वित बनाओ, वीर्यवान् करो। तुम हमें सब प्रकार से धनसम्पन्न करो, ताकि हमारी दानशीलता अक्षुण्ण रहे।

४. अश्वावद्गोमदूर्जस्वत् पर्णं वनस्पतेरिव। अभि नः पूर्यतां रयिरिदमनुश्रेयो वसान ॥

वही, अनुष्टुप्, वही।

इस स्थान पर निवास करते हुए मैं अश्व, गो, रस और अन्य सभी प्रकार की धनराशि से पूर्ण हो जाऊँ—ठीक वैसे ही, जैसे वनस्पति में पलाश पल्लवित हो उठते हैं।

५. ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये।

तुम सत्यशील और कल्याणरूप हो—मैं तुममें प्रवेश करता हूँ।

६. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवानः यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

वशिष्ठ, त्रिष्टुप, इन्द्र।

हे गृहपति इन्द्र! तुम हमारी रक्षा करने की प्रतिज्ञा करो—हमारा प्रवेश सुखकर हो। हमें तुम श्रेष्ठ और नीरोग बनाकर प्रविष्ट कराओ। हम जिस वस्तु के लिए तुमसे प्रार्थना करें, तुम वह प्रदान करो। तुम मनुष्यों और पशुओं के लिए समान रूप से सुमंगलमय हो।

७. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

वही।

हे वास्तोष्पति इन्द्र! तुम गो रूप चल सम्पत्ति और अश्वसाध्य पराक्रमों से हमारी आपत्तियों का निराकरण करो। तुम हमारी प्राणशक्ति बढ़ाओ। तुम्हारे मित्र के रूप में हमारी सम्पदा अक्षय रहे—हम चिर तरुण रहें। जैसे पिता पुत्र से प्रेम करता है, ठीक वैसे ही तुम हमारी प्रीति की डोर में बँध जाओ। मनुष्यों और पशुओं के लिए तुम समान रूप से सुमंगलमय रहो।

८. वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहिरण्वया गातुमत्या। पाहि क्षेम उत योगे वरन्नो यूयम्पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

वही।

हे गृहपति इन्द्र! तुम्हारी शास्त्रीय ध्वनियों से अनुगुंजित, यज्ञमयी अथवा वेदत्रयी से आपूरित सुखरूप संसद् से हम सम्बद्ध हो जायें। तुम हमारे योगक्षेम की रक्षा, अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की सुरक्षा करो। इन्द्र के अनुचरों! तुम अभीष्ट फलों से निरन्तर हमारा संरक्षण करते रहो।

९. अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः ॥

गायत्री, इन्द्र।

हे वास्तोष्पति इन्द्र ! तुम पाप–ताप को नष्ट करने के कारण हमारे बन्धु हो। तुम विभिन्न शरीरों में आविष्ट होते हुए हमारे अनुकूल और सुख के निमित्त बनो।

१०. अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वान्देवानुपह्वये। सरस्वतीं च वाजीं च वास्तु मे दत्त वाजिनः ॥

विश्वामित्र, अनुष्टुप् लिङ्गोक्त देवता।

हे अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति और अन्य समग्र देवों तथा अन्नमयी देवी सरस्वती! मैं आप सभी का आह्वान करता हूँ। आप में प्रभूत वेग है, आइए और मुझे गृहस्वामी बनाकर अन्न–धन से समृद्ध कीजिए।

११--१५. सर्पदेव जनान्त्सर्वान्……सर्वाश्च देवताः ॥

सम्पूर्ण सर्पदेवों, सुदर्शन हिमालय, वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण और अन्य देवों को मैं उनके अनुचरों के साथ बुलाता हूँ। मैं इन सभी का शरणागत हूँ। बहुमुखी और दीप्तिमयी उषादेवी, दिन–रात के विभिन्न प्रहरों के अधिष्ठाता देव, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, कर्त्ता–विकर्त्ता, धाता, विधाता और विभिन्न निधियों के अधिपति अन्य सभी देवता मुझे इस सुखद और मंगलमय गृह का स्वामी बनायें।

१६. श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम्—

हे शाले ! तुम्हारी पूर्व सन्धि की रक्षा लक्ष्मी और यशोदेवी करें।

१७. यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम् ॥

शाले ! यज्ञ और दक्षिणा तुम्हारी दक्षिणवर्ती संधि की रक्षा करें।

१८. अन्नं च त्वा ब्राह्मणाश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम् ॥

अन्न और ब्राह्मणगण तुम्हारी पश्चिम सन्धि की रक्षा करें।

१९. ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम् ॥

तेजोमय प्राण और प्रिय सत्यवाणी तुम्हारी उत्तरी भीत की रक्षा करे।

२०. केता च मा सुकेता च पुरस्ताद्गोपायेतामित्यग्निर्वै केतादित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद्गोपायेताम् ॥

केता और सुकेता मेरी सामने से रक्षा करें। अग्नि ही केता हैं, आदित्य ही सुकेता हैं। मैं उनकी शरण में आया हूँ—उन्हें मेरे प्रणाम निवेदित हैं—वे मेरी सामने से रक्षा करें।

२१. धर्मस्थूणा राजꣳश्रीस्तूपमहोरात्रे द्वारफलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिः सह ॥

ब्रह्मा, जगती, लिङ्गोक्तदेवता।

विशाल धर्मशीला स्थूणा जहाँ विभूषित है, लक्ष्मी जहाँ निवास करती है, दिन और रात के अधिष्ठाता देवता जहाँ द्वारकपाटों में लोकालोक रूप से स्थित हैं—ऐसे इन्द्र के घर प्रचुर धन-सम्पत्ति और रक्षा पुरुषों से सुरक्षित हैं। मैं अपने पुत्र-पौत्र और पशु-समुदाय के साथ उनमें आश्रय ले रहा हूँ।

२२. यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगण सखाय साधुसंवृतः। तां त्वा शालेऽरिष्टवीरा गृहान्नः सन्तु सर्वतः ॥

ब्रह्मा, बृहती, शाला।

हे शाले! अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मेरी तुमसे यह प्रार्थना है कि जब हम तुम्हें बुलायें तो तुम हम गृहस्थों के समीप आकर हमारे परिवार, मित्र-समुदाय और परिपार्श्व के जनों को सर्वथा रोगमुक्त कर दो।

पञ्चमकण्डिका—मणिकावधानम्

अथातो मणिकावधानम् ॥ १ ॥ उत्तरपूर्वस्यां दिशि यूपवदवटं खात्वा कुशानास्तीर्याक्षतानरिष्टकानां (सुमनसः कपर्दिकान्) श्चान्यानि चाभि-मङ्गलानि तस्मिन् मिनोति, मणिकं समुद्रोऽसीति ॥ २ ॥ अप आसिञ्चति। आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी सरस्वती तद्गृणते वयोधादिति ॥ ३ ॥ आपोहिष्ठेति च तिसृभिः ॥ ४ ॥ ततो ब्राह्मणभोजनम् ॥ ५ ॥ ५ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथातो मणिकावधानम्—अथ शालाकर्मानन्तरं यतः शालायां मणिकेन भवि-तव्यमतो मणिकावधानं वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। उत्तरपूर्वस्यां दिशि यूपवदवटं खात्वा कुशानास्तीर्याक्षतानरिष्टकांश्चान्यानि चाभिमङ्गलानि तस्मिन्मिनोति मणिकꣳ समुद्रो-ऽसीति—तत्र शालाया उत्तरपूर्वस्यामैशान्यां दिशि यूपवत् अभ्र्यादानपरिलेखनपूर्वकमवटं मणिकबुध्नावस्थानपर्यन्तं गर्त्तं खात्वा निखाय ततः प्राचः पांसूनपोह्यावटस्योपरि प्रागग्रान् दीर्घान् कुशानास्तीर्य स्तृत्वा अक्षतान्यवान् अरिष्टकफलानि अन्यानि च सुमङ्ग-लानि ऋद्धिवृद्धिसिद्धार्थकादीनि तान्यथास्तीर्य ओप्य, चकारः समुच्चयार्थः। तस्मिन्न-वटे मणिकम् उदकधानीं मिनोति स्थापयति समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूरित्ये-तावता मन्त्रेण। अप आसिञ्चत्यापो रेवतीरिति। तस्मिन्मणिके अप अशूद्राहृतनद्या-

दुदकमासिञ्चति प्रक्षिपति आपो रेवतीरिति मन्त्रेण। आपो हिष्ठेति च तिसृभिः आपो हिष्ठा मयो भुव इत्यादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः पुनर्मणिके सकृदप आसिञ्चति। ततो ब्राह्मणभोजनम्—इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

अथ पद्धतिः-ततो मणिकावधाननिमित्तमातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अग्नेरीशानप्रदेशे "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे नार्यसि" इति मन्त्रेणाभ्रिमादाय "इदमहँ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि" इत्यवटं भाण्डानुमानं परिलिख्य उदकं स्पृष्ट्वा, गर्त्तं खात्वा, प्राचः पांसूनपास्य, कुशानास्तीर्य, अक्षतानरिष्टकान् ऋद्धिवृद्धिहरिद्रादूर्वासितसर्षपादिमङ्गलद्रव्यं निक्षिप्य तदुपरि "समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूः" इत्येतावता मन्त्रेण मणिकमवटे निधाय ततः "आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं विभृथामृतं च। रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी सरस्वती तद्गृणते वयोऽधात्" इत्यनेन मन्त्रेण। तथा आपो हि ष्ठा मयोभुव इत्यादित्र्यृचेन च सकृन्मणिके अप आसिञ्चति। ततो ब्राह्मणमेकं भोजयेत्। इति मणिकावधानम् ॥ ५ ॥

सरला

१. (मणिक अर्थात् कटोरे के आकार का जल रखने का पात्रविशेष। इसे ही अलिञ्जर भी कहते हैं। इसकी स्थापना भी आवसथ्याधान के अनन्तर उसी दिन होती है। नित्य-होम, पञ्चमहायज्ञ, पाक, पर्युक्षण आदि क्रियायें मणिकोदक के बिना नहीं हो सकतीं) इसीलिए—अब 'मणिकावधान' कर्म (का विधान किया जा रहा है)।

२. (शाला के) उत्तर-पूर्व अर्थात् ईशान कोण में यूप के सदृश ही गड्ढा खोदकर, (पूर्व दिशा में मिट्टी फेंककर, गड्ढे के ऊपर) कुश-राशि बिछाकर, अक्षत-पुष्प-कोडियाँ इत्यादि अन्य मंगलमयी वस्तुयें डालकर, 'समुद्रोऽसि·····' मंत्र पढ़कर मणिक (उदकधानी) उसमें रखे।

३. 'आपो रेवती·····' मंत्र पढ़ते हुए उसमें जल डाले (हरिहर का कथन है कि यह जल शूद्र के द्वारा लाया गया न हो)।

४. 'आपो हिष्ठा·····' प्रभृति तीन ऋचायें पढ़कर (एक बार पुनः मणिक में जल डाले)।

५. तदनन्तर ब्राह्मण-भोजन।

टिप्पणी—१. हरिहर—एक ब्राह्मण को भोजन कराये।

विश्वनाथ—५ ब्राह्मणों को जिमाना चाहिए।

मंत्रार्थ

१. आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं विभृथामृतं च। रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नी सरस्वती तद्गृणते वयोधात् ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, जल।

हे जलदेव ! तुम्हारे अन्दर धन का निवास है, अतः तुम धनवान हो; तुम श्रेष्ठ यज्ञ और अमृत फल धारण करते हो। तुम धन और श्रेष्ठ सन्तानें देने में समर्थ हो—हम तुम्हारे उक्त स्वरूप की स्तुति करते हैं, अतः सरस्वती देवी हमें दीर्घायु बनायें।

षष्ठकण्डिका—शीर्षरोगभेषजम्

अथातः शीर्षरोगभेषजम् ॥ १ ॥ पाणी प्रक्षाल्य भ्रुवौ मिमार्ष्टि। चक्षुर्भ्या ँ श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यंरराटाद्विवृहामीममिति ॥ अर्द्धं चेदवभेदक विरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः। अथो चित्रपक्ष शिरो माष्याभिताप्मीदिति ॥ ३ ॥ क्षेम्यो ह्येव भवति ॥ ४ ॥ ६ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथातः शीर्षरोगभेषजम्—अथ मणिकावधानानन्तरं यतः शिरोरोगवान् किञ्चित्कर्म कर्तुं न शक्नोति अतो हेतोः शीर्षणि मूर्द्धनि रोगस्तस्य भेषजं प्रतीकारः, वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। पाणी प्रक्षाल्य भ्रुवौ विमार्ष्टि चक्षुर्भ्या ँ श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि। यक्ष्म ँ शीर्षण्य ँ रराटाद्विवृहामीममिति—यदि स्वस्य परस्य वा पीडा भवति तत्र पाणी स्वकीयौ हस्तौ प्रक्षाल्य अद्भिरवनेज्य भ्रुवौ युगपत् ताभ्यां पाणिभ्यां विमार्ष्टि प्रोक्षति। अन्यस्य वा स्वयं करोति चक्षुर्भ्यामित्यादि विवृहामीममित्यन्तेन मन्त्रेण। अर्द्धं चेदवभेदक विरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः। अथो चित्रपक्ष शिरो मास्याभिताप्सीदिति—अर्द्धं चेत् शीर्षं व्यथते तदा पूर्ववत्पाणी प्रक्षाल्य दक्षिणेन पाणिना यदि शिरसो दक्षिणभागे रुक् तर्हि दक्षिणाम्, वामे वामाम् अवभेदकेत्यादिना मास्याभिताप्सीदित्यन्तेन मन्त्रेणैकां भ्रुवं विमार्ष्टि। क्षेम्यो ह्येव भवति—हि ततः क्षेम्यः शिरोरोगरहित एवासौ भवतीति ॥ ६ ॥

सरला

१. (शिरोवेदना से पीड़ित व्यक्ति कोई भी कार्य नहीं कर सकता) इसीलिए अब शिरो रोगों की चिकित्सा-विधि (बतला रहे हैं)।

२. (यदि अपने या किसी अन्य के शिर में पीड़ा हो, तो) दोनों हाथों को पानी में गीले कर 'चक्षुर्भ्याम्....' मंत्र पढ़ते हुए उनसे भौंहों को पोंछना चाहिए।

३. यदि आधे शिर में पीड़ा हो रही हो (अर्थात् अधौकी—अर्धावभेदक—हो) तो पहले की ही भाँति हाथ गीले कर, दाहिनी ओर व्यथा हो तो दाहिने हाथ से और बायीं ओर हो तो बायें हाथ से 'अवभेदक....' मंत्र पढ़ते हुए पीड़ित भौंह को पोंछे।

४. (इससे वह) शिरोवेदना से मुक्त हो ही जायेगा।

मंत्रार्थ

१. चक्षुर्भ्यांᳬ श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुबुकादधि । यक्ष्मं शीर्षण्यं रराटाद्विवृहामीमम् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, वायु ।

आँखों, कानों, शिर, ठोढ़ी, ललाट आदि अंगों से मैं इस कष्टदायक शिरोरोग का निवारण करता हूँ !

२. अवभेदक विरूपाक्ष श्वेतपक्ष महायशः । अथो चित्रपक्ष शिरो मास्याभिताप्सीत् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, विरूपाक्ष ।

अंगों को झुकाकर उनका भेदन करनेवाले हे विरूपाक्ष ! तुम श्वेतपक्षवाले और महायशस्वी हो । तुम्हारी कृपा से इस रोगी का सिर न दुखे; तुम इसके सिर को संतापग्रस्त न करो ।

सप्तमकण्डिका—उतूल-परिमेहः

उतूलपरिमेहः ॥ १ ॥ स्वपतो जीवविषाणे स्वं मूत्रमासिच्यापसलवि-त्रिः परिषिञ्चन्परीयात् । परि त्वा गिरेरह परिमातुः परिस्वसुः परिपित्रोश्च भ्रात्रोश्च सख्येभ्यो विसृजाम्यहम् । उतूलपरिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्य-सीति ॥ २ ॥ स यदि भ्रम्याद्वावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयात् । परि त्वा ह्वलनो ह्वलनिवृंत्तेन्द्रवीरुधः ॥ इन्द्रपाशेन सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्यमानयेदिति ॥ ३ ॥ क्षेम्यो ह्येव भवति ॥ ४ ॥ ७ ॥

हरिहरभाष्यम्

उतूलपरिमेहः—उतूलस्य दुर्विनीतस्य दासस्य परि समन्तात् मेहः सेचनं वशी-करणाभिषेक इति यावत्, कर्म्म कथ्यते । तद्यथा स्वपतो जीवविषाणे स्वं मूत्रमासि-च्यापसलवि त्रिः परिषिञ्चन्परीयात् परि त्वा गिरेरहं परि मातुः परि स्वसुः । परि पित्रोश्च भ्रात्रोश्च सखिभ्यो विसृजाम्यहम् । उतूलपरिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्य-सीति-यदा स दासः स्वपिति तदा गवादेः पशोः जीवतो विषाणे शृङ्गे स्वं मूत्र-मासिच्य सिक्त्वा तस्य स्वपतो दासस्य अपसलविः अप्रादक्षिण्येन विषाणस्थं मूत्रं परि समन्तात्सिञ्चन् उक्षन् त्रिः त्रीन् वरान् परीयात् परिभ्रमेत् परि त्वा गिरेरित्यादि क्व गमिष्यसीत्यन्तेन मन्त्रेण । स यदि भ्रम्याद्वावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयात् परि त्वा ह्वलनोह्वल निवृंत्तेन्द्रवीरुधः । इन्द्रपाशेन सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्य-मानयेदिति-स दासो यदि अस्मिन्कर्मणि कृतेऽपि भ्रम्यात् स्वेच्छया विचरेत् तदा

तद्वश्यार्थमिदं कर्मान्तरं कुर्यात् । तद्यथा—पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं दावाग्निं वनदहनं स्थापयित्वा ब्रह्मोपवेशनादिपर्युक्षणान्ते आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतिसर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा कुशेण्ड्वानि कुशानामिण्ड्वानि कुण्डलाकाराणि घृताक्तानि त्रीणि परित्वेत्यादिना अथान्यमानयेदियन्तेन मन्त्रेण सकृदेव जुहुयात् । इदमिन्द्रायेति त्यागः । ततः संस्रवप्राशनादि ब्रह्मणे दक्षिणादानान्तं कर्म कुर्यात् । क्षेम्यो ह्येव भवति—अस्मिन्कर्मणि कृते हि स्फुटं क्षेम्यः वश्य एव दासो भवति सम्पद्यते । इत्युतूलदासवश्यकर्म ॥ ७ ॥

सरला

१. (भ्रमणशील दुर्विनीत दास के वशीकरण हेतु अभिषेक कर्म या) 'उतूल परिमेह' (की विधि बतला रहे हैं) ।

२. (जब वह दास) सो रहा हो, तो जीवित पशु के सींग को अपने मूत्र में डुबोकर छिड़कते हुए 'परि त्वा····' मंत्र पढ़कर तीन बार बायें से दाहिने घूमे ।

३. (इसके अनन्तर भी यदि) उसका स्वच्छन्द विचरण बन्द न हो तो (उसे वश में करने के लिए यह दूसरा कर्म करे । पञ्चभूसंस्कारपूर्वक) अरण्याग्नि की स्थापना कर (आघारादि १४ आहुतियां डालने के बाद) तीन कुश-कुण्डलों को घृताक्त कर 'परि त्वा ह्वलन····' मंत्र पढ़ते हुए उनकी आहुति दे ।

४. ऐसा करने पर वह दास वश में हो ही जायेगा ।

टिप्पणी—१. 'जीवित पशु' से सूत्रकार का अभिप्राय कर्क और जयराम के मत से पशुमात्र, हरिहर के अनुसार गवादि और विश्वनाथ के मत से छाग है ।

२. विश्वनाथ का कथन है कि संस्रव-प्राशन के अनन्तर 'उतूलपरिमेह' का समापन भी ब्राह्मण भोजन से ही होगा ।

मंत्रार्थ

१. परि त्वा गिरेरह परिमातुः परिस्वसुः परिपित्रोश्च भ्रात्रोश्च सख्येभ्यो विसृजाम्यहम् । उतूल परिमीढोऽसि परिमीढः क्व गमिष्यसि ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, वायु ।

ओ दास ! मैं तुम्हें पर्वत से खींचकर माता-पिता, भगिनी, भ्राता और मित्र सबसे पृथक् कर अपने में अनुरक्त करता हूं । अब तुम मंत्र-शक्ति से पाशबद्ध हो—कहां जाओगे ? अर्थात् अब तुम कहीं नहीं जा सकते ।

२. परि त्वा ह्वलनो ह्वल निवृत्तेन्द्र वीरुधः । इन्द्रपाशेन सित्वा मह्यं मुक्त्वाऽथान्यमानयेत् ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, इन्द्र ।

ओ चंचलपुरुष ! तुम चूंकि स्वामी के नियन्त्रण से निकल गये हो, अतः यह प्रज्वलित अग्नि इन्द्रपाश से तुम्हें बांधकर अन्य स्थान में लगे तुम्हारे मन को वहां से हटाकर मुझमें केन्द्रित कर दे ।

अष्टमकण्डिका—शूलगवः

शूलगवः ॥ १ ॥ स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः ॥ २ ॥ औपासनमरण्यं हृत्वा वितानं साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत ॥ ३ ॥ साण्डम् ॥ ४ ॥ गौर्वा शब्दात् ॥ ५ ॥ वपाँ श्रपयित्वा स्थालीपाकमवदानानि च रुद्राय वपामन्तरिक्षाय वसाँ स्थालीपाकमिश्रान्यवदानानि जुहोत्यग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतये उग्रायाशनये भवाय महादेवायेशानायेति च ॥ ६ ॥ वनस्पतिस्विष्टकृदन्ते ॥ ७–८ ॥ दिग्व्याघारणम् ॥ ९ ॥ व्याघारणान्ते पत्नीः संयाजतन्तीन्द्राण्यै रुद्राण्यै शर्वाण्यै भवान्या अग्निं गृहपतिमिति ॥ १० ॥ लोहितं पालाशेषु कूर्चेषु रुद्रायसेनाभ्यो बलिं हरति यास्ते रुद्र पुरस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमो यास्ते रुद्रदक्षिणतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमो यास्ते रुद्र पश्चात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमो यास्ते रुद्रोत्तरतः सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमो यास्ते रुद्रोपरिष्टात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमो यास्ते रुद्राधस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नाम इति ॥ ११ ॥ ऊवध्यं लोहितलिप्तमग्नौ प्रास्यत्यधो वा निखनति ॥ १२ ॥ अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्रैरुपतिष्ठते प्रथमोत्तमाभ्यां वाऽनुवाकाभ्याम् ॥ १३ ॥ नैतस्य पशोर्ग्रामं हरन्ति ॥ १४ ॥ एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः ॥ १५ ॥ पायसेनानर्थलुप्तः ॥ १६ ॥ तस्य तुल्यवया गौर्दक्षिणा ॥ १७ ॥ ८ ॥

हरिहरभाष्यम्

शूलगवः–स्वर्ग्यः पशव्यः पुत्र्यो धन्यो यशस्य आयुष्यः–अथ स्वर्गादिकामस्य शूलगवाख्यं कर्म यागविशेषमनुविधास्यन्नाह–शूलगव इति । स च स्वर्ग्यः स्वर्गाय हितः, पशव्यः पशुभ्यो हितः, पुत्र्यः पुत्रेभ्यो हितः, धन्यः धनाय हितः, यशस्यः यशसे हितः, आयुष्यः आयुषे हितः । अयमर्थः । यदा यजमानः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुषामन्यतमकामो भवति तदाऽनेन शूलगवाख्येन यागेन यजेत । अनेककामानां युगपदुत्पत्त्यसम्भवात् । औपासनमरण्यठं हृत्वा वितानँ साधयित्वा रौद्रं पशुमालभेत साण्डम्–औपासनमावसथ्याग्निम् अरण्यमटवीं नीत्वा तत्र वितानं त्रेताग्निविन्यासं साधयित्वा शुल्वोक्तप्रकारेण विरचय्य, रौद्रं रुद्रो देवता अस्येति रौद्रं, तं पशुं छागम् आलभेत सञ्ज्ञपयति । कथम्भूतं साण्डम् अण्डाभ्यां सह वर्तत इति साण्डस्तम् अनपुंसकमित्यर्थः । गौर्वा शब्दात्–वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । नैव छागः पशू रौद्रः अपि तु साण्डो गौः, कुतः, शब्दात् शूलगव इत्येतस्माच्छब्दात् । वपाँ श्रपयित्वा स्थालीपाकमवदानानि च रुद्राय वपामन्तरिक्षाय वसाँ स्थालीपाकमिश्राण्यवदनानि जुहोति अग्नये रुद्राय शर्वाय पशुपतय

उग्रायाशनये भवाय महादेवायेशानायेति–वपां पक्त्वा स्थालीपाकमवदानानि च हृद-यादीनि सहैव श्रपयित्वा। ननु पशुतन्त्रे विहृत्य शामित्रेऽग्नाववदानश्रपणं वपाश्रपणं चाहवनीये दृष्टम्। अत्र तन्मा भूदिति सहश्रपणमुच्यते स्थालीपाकमवदानानि चेति। तत्र रुद्राय वपां जुहोति, अन्तरिक्षाय वपां जुहोति, अत्र जुहोतीत्युभयत्राध्याहारः। स्थाली-पाकमिश्राण्यवदानानि। अवदानहोमावसरे हृदयादीन्यवदानानि स्थालीपाकेन चरुणा संयुतानि जुहोति नवकृत्वः अग्नये स्वाहेत्येवमादिभिर्नवभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमग्नौ प्रक्षिपति। कथम्। अग्नये स्वाहा १। रुद्राय स्वाहा २। शर्वाय स्वाहा ३। पशुपतये स्वाहा ४। उग्राय स्वाहा ५। अशनये स्वाहा ६। भवाय स्वाहा ७। महादेवाय स्वाहा ८। ईशानाय स्वाहा ॥ ९॥ यथामन्त्रत्यागाः। वनस्पतिस्विष्टकृदन्ते दिग्व्याघारणम्— वनस्पतिश्च स्विष्टकृच्च वनस्पतिस्विष्टकृतौ तयोरन्तः वनस्पतिस्विष्टकृदन्त तस्मिन् दिशां व्याघारणं कर्तव्यमिति। सूत्रशेषः। तत्तु व्याघारणं वसयैव भवति। तत्र वनस्पतिहोमः स्विष्टकृद्धोमादर्वाक् पृषदाज्येन भवति, पशौ तथा दृष्टत्वात्। स्विष्टकृद्धोमश्च सर्वावदान-पक्षे त्र्यङ्गेभ्यः असर्वावदानपक्षे तेभ्य एवावशिष्टेभ्यः। अत्र सूत्रे व्याघारणमेव निबद्धम्, तत्र द्रव्यदेवतापेक्षायां सर्वपशुप्रकृतिभूताग्नीषोमीये दर्शनात् वसाद्रव्यं दिशो देवता व्याघारणधर्मतया लभ्यते। व्याघारणान्ते पत्नीः संयाजयन्तीन्द्राण्यै रुद्राण्यै शर्वाण्यै भवान्या अग्निं गृहपतिमिति—व्याघारणं दिशामभिघारणं तस्यान्ते अवसाने पत्नीः पञ्च वक्ष्यमाणाः संयाजयन्ति जाघन्या पश्वङ्गे। कथम्, इन्द्राण्यै रुद्राण्यै इत्यादिपञ्चभि-र्मन्त्रैः स्वाहाकारान्तैः प्रतिमन्त्रम्। लोहितं पालाशेषु कूर्चेषु रुद्राय सेनाभ्यो बलिं हरति यास्ते रुद्रेत्यादि–ततो महाव्याहृत्यादि, लोहितं तस्यैव पशो रुधिरं पालाशेषु पलाशपत्रेषु कूर्चेषु आसनेषु प्राक्संस्थेषु उदक्संस्थेषु वा, रुद्रायसेनाभ्यः रुद्रायदेवतायै सनो रुद्रायसेनाः अलुक्समासः ताभ्यो बलिमुपहारं हरति ददाति यास्त इत्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः षट्सु पालाशकूर्चेषु प्रतिमन्त्रमेकैकम्। ऊवध्यं लोहितलिप्तमग्नौ प्रास्यत्यधो वा निखनति—ऊवध्यं पुरीषाधानं, पोटीति प्रसिद्धम्। लोहितेन रक्तेन लिप्तं संसृष्टं लोहितलिप्तमग्नौ आहवनीये प्रास्यति प्रक्षिपति अधो भूमौ वा निखनति निदधाति। अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्रैरुपतिष्ठते प्रथमोत्तमाभ्यां वाऽनुवाकाभ्याम्–अनुवातं वातमनु लक्षीकृत्य वाताभिमुखमित्यर्थः। पशुमवशिष्टं पशुशरीरमवस्थाप्य निधाय रुद्रैर्नमस्त इत्यध्यायाम्नातै रुद्रमन्त्रैरुपतिष्ठते स्तौति। यद्वा–प्रथमोत्तमाभ्यामनुवाकाभ्यां मन्त्र-समुदायाभ्याम्। तत्र प्रथमोऽनुवाको नमस्त इत्यारभ्य षोडशर्चः, उत्तमोऽन्तिमः द्रापे अन्धसस्पत इत्यारभ्य विंशतिकण्डिकात्मकः। नैतस्य पशोर्ग्रामꣳ हरन्ति–एतस्य रौद्रस्य पशोर्मांसं ग्रामं न हरन्ति ग्रामं प्रति न नयन्ति याज्ञिकाः, किन्तु अरण्य एवोत्सृजन्ति। एतेनैव गोयज्ञो व्याख्यातः–एतेनैव शूलगवेनैव यज्ञेन गोयज्ञो गोयज्ञनामधेयो यागो व्याख्यातः कथितः। तत्र द्रव्यविशेषमाह—पायसेनानर्थलुप्तः–पायसेन पयसा संसिद्धेन चरुणा अनर्थलुप्तः शूलगवप्रधानदेवताहोमलोपरहितः। तस्य तुल्यवया गौर्दक्षिणा–तस्य

शूलगवपशोर्वयसा तुल्यं समं वयो जन्मातिक्रान्तकाल यस्य गोः स तुल्यवया गौः गोपुङ्गवः, दक्षिणा परिक्रयद्रव्यं ब्रह्मणे देयमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

अथ प्रयोगः । स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामानां शूलगवपशुबन्धो विहितः, तत्र मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा औपासनाग्निमादायारण्यं गच्छेत् । तत्र शुचौ देशे गार्हपत्यायतनं सप्तविंशत्यङ्गुलं वृत्तं विधाय तन्मध्यनिखातशङ्कोरष्टौ एकादश द्वादश वा स्वकीयपदानि प्राचीं दिशं गत्वा तदन्ते शङ्कुं निखाय तयोः शङ्क्वोरुभयतः स्पाशां रज्जुं प्रसार्याहवनीयायतनं रचयेत् । तद्यथा—"यावत्प्रमाणा रज्जुः स्यात्तावानेवागमो भवेत् । आगमार्द्धे च शङ्कुः स्यात्तदर्द्धे च निरञ्छनम्" इति शुल्ववचनानुसारेण । अत्रायं रचनाप्रकारः । पूर्वस्माच्छङ्कोर्द्वादशाङ्गुष्ठपर्वपरिमितं देशं पूर्वतः पश्चिमतश्च परित्यज्य तत्र शङ्कुद्वयं निखाय चतुर्विंशत्यङ्गुलीं रज्जुं परिमाय तावतीमेवाधिकां गृहीत्वा उभयतःपाशवतीं कृत्वा तस्या रज्जोरागमार्द्धे शङ्कुस्थानं सूत्रादिनाऽङ्कयित्वा अपरागमार्द्धे निरञ्छनम्, आकर्षणसूत्रगुणमोप्य पूर्वार्द्धापरार्द्धान्तियोः शङ्क्वोः तस्या रज्जोः पाशद्वयं निक्षिप्य निरञ्छनेन गुणेन दक्षिणत आकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखनेत् । ततस्तामेव रज्जुमुत्तरतो नीत्वा तथैवाकृष्य शङ्कुस्थान अपरं शङ्कुं निखनेत् । अथ रज्जोः पाशौ परिवर्त्य पूर्ववन्निरञ्छनगुणेन दक्षिणत आकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखाय पुनस्तामेव रज्जुमुत्तरतो नीत्वा तथैवाकृष्य शङ्कुस्थाने शङ्कुं निखनेत् । एवं चतुरस्रं चतुर्विंशत्यङ्गुलायामविस्तारमाहवनीयायतनं सम्पद्यते । ततो गार्हपत्याहवनीयान्तरालसम्मितां रज्जुमागमय्य तां च षड्गुणां सप्तगुणां वा विधाय षष्ठांशं सप्तमं वा तत्राधिकं निक्षिप्य प्रसार्य त्रिगुणीकृत्य अपरवितृतीये शङ्कुस्थानज्ञानार्थमङ्कयित्वा गार्हपत्याहवनीयमध्यगतयोः शङ्क्वोः पाशौ प्रतिमुच्य गार्हपत्यायतनाद्दक्षिणत आकृष्य अपरवितृतीयाङ्के शङ्कुं निखाय तस्मिन् शङ्कौ अन्यरज्जुपाशं प्रतिमुच्य षोडशाङ्गुलानि परिमाय वृत्तं मण्डलं विरचय्य तन्मध्यमशङ्कोश्चत्वार्यङ्गुलान्युत्तरतः परित्यज्य तत्र पूर्वापरायतां मण्डलसम्मितां रज्जुं निपात्य रेखामुल्लिखेत् । एवं धनुराकृति दक्षिणाग्न्यायतनं सम्पद्यते । तथा तामेव रज्जुं परिवर्त्याहवनीयादुत्तरतो वितृतीयेनाकृष्य वितृतीयस्थाने उत्करं कुर्यात् । एवं वितानं साधयित्वा तेषु पञ्चभूसंस्कारान्कृत्वा गार्हपत्यायतने औपासनाग्निं संस्थाप्य मृन्मयेन पात्रेण गार्हपत्यैकदेशमादायाहवनीयायतने आहवनीयं प्रणयेत् । एवमेव गार्हपत्याद्दक्षिणाग्निखरे दक्षिणाग्निम् आहवनीयस्य दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य शूलगवेन रौद्रेण पशुनाऽहं यक्ष्ये । तत्र मे त्वं ब्रह्मा भवेति सुब्राह्मणं प्रार्थ्य, भवामीति तेनोक्ते, आसने तमुपवेश्य उत्तरतः प्रणीताः प्रणीय पवित्रच्छेदनानि, पवित्रे, प्रोक्षणीपात्रम्, वज्रम्, अन्तर्द्धानतृणं चेत्येतानि पञ्च आसादयेत् । ततः रज्जुम्, शङ्कुम्, शम्याम्, अभ्रिम्, पुरीषाहरणम्, उदकम्, सिकताः, आच्छादनवस्त्रमित्यष्टौ उपकल्पयेत् । ततः पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्य वज्रमन्तर्द्धानतृणं च प्रोक्ष्य प्रोक्षणीं निधाय वज्रमादाय वेदिं मिमीते स्फ्येन । आहवनीयस्य दक्षिणतः प्राचीं त्र्यरत्निं, पश्चिमतश्चतुररत्निम्, उत्तरतस्त्र्यरत्निं, पूर्वतश्च त्र्यरत्निम् इति एवं परिमितां

वेदिं त्रिभिः कुशैः परिसमुह्य उत्तरतो वज्रेणोत्करं परिलिख्य तदन्तिके वज्रं निधाय तदुपरि वेदितृणं कृत्वा सतृणं वज्रमादाय दक्षिणहस्तेन सव्ये पाणावाधाय दक्षिणे-नालभ्य तेन वज्रेण पृथिवीमात्मानं वा संस्पृशन् वेद्यामुदगग्रं तृणं निधाय तदुपरि तेन प्रहृत्य तदग्रेण पुरीषमादाय वेदिं प्रेक्ष्य पुरीषमुत्करे कृत्वा पुनस्तथैव प्रहृत्य पुरीषमादाय वेदिं प्रेक्ष्यामुं पुरीषमुत्करे करोति, एवमेव द्वितीयं करोति, पुरीषकरणान्ते दक्षिणोत्त-राभ्यां पाणिभ्यामुत्करेऽभिन्यासं करोति। ततस्तृतीयं प्रहरणादि तथैव चतुर्थं कृत्वा ब्रह्मन् पूर्वं परिग्रहं परिग्रहीष्यामीत्यामन्त्रितेन ब्रह्मणा परिगृहाणेत्यनुज्ञातः स्फ्येन वेदिं दक्षिणतः प्राचीं परिगृह्य पश्चिमत उदीचीम् उत्तरतः प्राचीं परिगृह्णाति। अथ वेद्यां प्राचीस्तिस्रो लेखा उल्लिख्य अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां दक्षिणाप्रभृतिभ्यो लेखाभ्यः पृथक् पृथक् पुरीषमादायोत्करप्रक्षिप्य क्रमेण लेखाः सम्मृशति। तत्रैते वेदिमानादिपदार्थाः स्वकर्तृका मन्त्ररहिताश्च, ऋत्विगन्तराभावात्समाम्नायाभावाच्च। अथाहवनीयस्य पुरस्तादुत्तरवेदिस्थाने पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा पूर्वार्द्धे शङ्कुं निखाय द्वात्रिंशदङ्गुलां शम्या-मादाय चतुरस्रामुत्तरवेदिं शम्यामात्रीं मिमीते, ततस्तथैव शम्यया उत्तरवेदेरुत्तरतश्चा-त्वालं मिमीते। तद्यथा पश्चादुदीचीं शम्यां निपात्य स्फ्येन तावतीं लेखामुल्लिख्य तथैव पुरस्तादुदीचीं दक्षिणतः प्राचीम् उत्तरतः प्राचीं शम्यां निपात्य लेखामुल्लिखेत्। एवं चतुरस्रशम्याप्रमाणं चात्वालं सम्पद्यते। ततश्चात्वालमध्ये स्फ्याग्रेण प्रहृत्य पुरीषमादा-योत्तरवेदौ शङ्कुसमीपे प्रक्षिप्याभिन्यासं विधाय पुनरेवं द्विरपरं प्रहृत्य पुरीषमादायो-त्तरवेदौ प्रक्षेपमभिन्यासं च कृत्वा चतुर्थवेलायामभ्र्या चात्वालं खात्वा यावता पुरीषेण शम्यामात्री उत्तरवेदिरूर्द्ध्वा पूर्यते तावत्पुरीषं पुरीषाहरणेन चात्वालादादाय प्रक्षिपेत्, एवमुत्तरवेदिं रचयित्वा मध्ये प्रादेशमात्रीं चतुरस्रां नाभिं कृत्वा प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य सि-कतामुपकीर्य वाससाऽऽच्छादयति। अथ गार्हपत्ये पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतं गृहीत्वा आज्यप्रोक्षण्या आहवनीये सोपयमनीकाधिस्तृते इध्मस्थाग्नीनुद्यम्य उत्तरवेदि-समीपं गत्वा पुरस्तात्पश्चाद्दक्षिणत उत्तरतश्चोत्तरवेदिं प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य प्रोक्षणीशेष-मुत्तरवेदेराग्नेयकोणसमीपे बहिर्वेदीं निनीय पञ्चगृहीतेनाज्येन नाभिं व्याघारयति कोणे हिरण्यं पश्यन्। यथा पूर्ववद्दक्षिणस्यां स्रक्त्याम् आघार्योत्तरापरस्यां ततो दक्षिणा-परस्यां ततः पूर्वोत्तरस्यां मध्ये चाभिघार्य्य शेषमाज्यं स्रुवे उद्यम्योर्द्ध्वमुत्क्षिपति। ततो नाभिं पौतुदारवैः परिधिभिः परिदधाति। तद्यथा—प्रथममुदगग्रेण पश्चिमतः, ततः प्रागग्रेण दक्षिणतः, ततः प्रागग्रेणोत्तरतः। ततो नाभिमध्ये गुग्गुलुसुगन्धितेजनं वृष्णे-स्तुकाः शीर्षण्याः तदभावेऽन्या निदधाति। तदुपरि उपयमनीगतमग्निं स्थापयति, उपयमनी च तत्समीपे निवपदि चात्वाले वा, प्रणीयमानमग्निं ब्रह्माऽनुगच्छति। ततो यजमानः प्रणीता उत्तरवेदेरुत्तरेण कुशासने प्रणीयाहवनीयं परिस्तीर्य गार्हपत्यं च पात्राण्यासादयति। आज्यस्थाली, सम्मार्जनकुशाः, सन्नहनावच्छादनानि, परिधयः, उपयमनकुशाः, समिधः, स्रुवः, आज्यम्, वपाश्रपण्यौ, चरुस्थाली शूलम्, उखा,

तण्डुलाः, दक्षिणार्थं तुल्यवया गौश्चेति। अथोपकल्पनीयान्युपकल्पयति। बर्हिः, प्लक्षशाखा, पलाशशाखा, त्रिगुणरशना, उपाकरणतृणम्, द्विगुणरशना, गोपशुः, असिः, पान्नेजनीः, दधि, हिरण्यशकलानि, षट् पलाशपत्राणि चेति। तत आसादनक्रमेण पात्राणि प्रोक्षति। "रुद्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" इति तण्डुलान् प्रोक्षति। आज्यस्थाल्यामाज्यं निरुप्य गार्हपत्येऽधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात्। ततो वेदिं मध्यसंगृहीतामभ्र्या खात्वा ब्रह्मन्नुत्तरं परिग्रहं परिग्रहीष्यामीति ब्रह्माणमामन्त्र्य परिगृहाणेति ब्रह्माणाऽनुज्ञातः पूर्ववत्स्फ्येन दक्षिणपश्चिमोत्तरतो वेदिं परिगृह्यानुमार्ष्टि। आहवनीयमपरेण प्रोक्षणीरासाद्य प्रणीतोदकेन पाणी अवनिज्य प्रणीतानां पश्चिमतः प्रागग्रं स्फ्यं निधाय तदुपरि इध्माबर्हिषी आसादयति। ततः स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्। आज्यमुद्वास्य प्रोक्षणीनामपरेण कृत्वोत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीरुत्पूय वेदिं प्रोक्ष्य बर्हिश्च प्रोक्ष्य प्रोक्षण्येकदेशेन बर्हिर्मूलानि सिक्त्वा बर्हिर्विस्रंस्य सन्नहनं च विस्रंस्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ निधाय सन्नहनावच्छादनैरवच्छाद्य वेदिं स्तृणाति। तद्यथा—बर्हिःपुलकं त्रिधा बिभज्य प्रथमं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा द्वितीयं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा तृतीयभागं दक्षिणेनोत्थापितं सव्येन संगृह्याङ्कस्थितं प्रथमभागं दक्षिणेनादाय वेद्यां स्तृणात्युदक्संस्थम्, तथैव द्वितीयं भागं दक्षिणेनोत्थाप्याङ्के कृत्वा सव्ये स्थितं दक्षिणेनादायाङ्कगतं सव्येन संगृह्य पूर्वस्तृतबर्हिर्मूलानि द्वितीयबर्हिर्भागाग्रैश्छादयन् स्तृत्वा तृतीयभागं दक्षिणेनादाय स्फ्योपग्रहेण तथैव स्तृणाति पश्चादपवर्गम्, तत उपरि प्लक्षशाखाः स्तृणाति। अथाहवनीयं कल्पयति। ततो मध्यमदक्षिणोत्तरान्परिधीन् आहवनीये परिदधाति, आहवनीयमवेक्ष्य अग्रेणाहवनीयं परीत्य पलाशशाखां निखनति, तां त्रिगुणरशनया त्रिः परिव्ययति, तत्र शकलमुपगूहति, रुद्राय त्वोपाकरोमीत्युपाकरणतृणेन पशुमुपाकरोति। ततो द्विगुणरशनया अन्तराशृङ्गं पशुं बद्ध्वा "रुद्राय नियुनज्मि" इति शाखायां नियुनक्ति। अथ "रुद्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" इति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्ष्य शेषमास्ये उपगृह्याधस्तादुपोक्षति। तत उपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय प्रोक्षणीभिः पर्युक्ष्य पूर्वाघारमाघार्यं उत्तराघारान्ते स्रुवाग्रेण ललाटांसश्रोणिषु पशुं समनक्ति। ततः स्रुवाग्राक्ताभ्यां स्ववंसिभ्यां पशोर्ललाटमुपस्पृशति। स्वरुमवगुह्य असिम् एकतो घृतेनाभ्यज्य निदध्यात्। अथ चात्वालस्योत्तरतः स्फ्येन शामित्राय परिलिख्य आहवनीयस्योल्मुकेन पश्चाज्यशामित्रदेशशाखाचात्वालाहवनीयान् पर्यग्नि कुर्यात्त्रिः। पुनरुल्मुकमाहवनीये प्रक्षिप्य तावत्प्रतिगच्छेत् पुनराहवनीयादुल्मुकमादय पशुं कण्ठे बद्ध्वा वपाश्रपणीभ्यामन्वारभ्य उदङ् नयेत्। तत्र वेदितृणद्वयमादाय शामित्रे उल्मुकं निधाय शामित्रस्य पश्चादेकं तृणमास्तीर्यं तत्र पशुं प्राक्शिरसम्, प्रत्यक्शिरसम्, उदक्शिरसम्, उदक्पादं वा निपात्य अवाश्यमानं मुखं संगृह्य तमनेन शामित्रेण सञ्ज्ञपयति, सत्यन्यस्मिन्पुरुषे शमितरि यजमान आहवनीयं प्रत्येत्य पूर्णाहुतिवदाज्यं संस्कृत्य "स्वाहा देवेभ्यः" इत्येकामाज्याहुतिमाहवनीये हुत्वा सञ्ज्ञप्ते पशौ

"देवेभ्यः स्वाहा" इति तेनैवाज्येनापरां हुत्वातूष्णीमपराः पञ्च जुहोति। अथ वपाश्रपणीभ्यां नियोजनीं चात्वाले प्रास्य पान्नेजनीभिः पशोः प्राणशोधनं स्वयमेव करोति। तद्यथा- मुखं, नासिके, चक्षुषी द्वे, कर्णौ द्वौ, नाभिं मेढ्रं, पायुं संहृत्य पादान् एकैकं पान्नेजनीजलेन स्पृशति, शेषेण शिरः प्रभृति कर्णपर्यन्तं पुनस्तथैवाप्याय्य ततोऽङ्गानि निषिच्य शेषं पशोः पश्चाद्भागे निषिञ्चति। तत उत्तानं पशुं कृत्वा नाभ्यग्रे तृणं निधाय घृताभ्यक्तासिधारयाऽभिनिधाय सतृणां त्वचं छित्वा तृणमूलमुभयतो लोहितेनाङ्क्त्वा तृणं भूमौ निरस्य तदुपरि स्वयं पादौ कृत्वा पुनरागत्योपविश्य वपामुत्खिद्य वपाश्रपणीभ्यां प्रोर्णू्य छित्वाऽऽज्येनाभिघार्य प्रक्षाल्य पशुं विशास्ति। हृदयादीनि सर्वाणि त्रीणि वा पञ्च वा यथाकामवदानान्यवदाय जाघनीं चावद्य श्वभ्रे ऊवध्यमवधाय लोहितं चावधाय चरौ तण्डुलानोप्य वपां शामित्रे प्रतप्य आहवनीयस्योत्तरतः स्थित्वा आहवनीये च प्रतप्य शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य दक्षिणतः स्थित्वा स्रुवेणाज्येनाभिघारयन् श्रपयति गार्हपत्ये स्थालीपाकम्। शामित्रे हृदयाद्यवदानानि प्रतप्य तत्र हृदयं शूले चरुं पर्यग्नि कृत्वा वपामभिघारयति, अथ त्रिः प्रच्युते पशोर्हृदयमुपरि कृत्वा पृषदाज्येन हृदयमभिघार्य इतराण्यवदानान्याज्येन सर्वाणि च व्यङ्गवर्जमभिघार्य स्थालीपाकमुद्वास्य उखां च वपाया अङ्गानां च प्राणदानं कृत्वा वपादीनि क्रमेणासाद्य अङ्गानि शाखाग्न्योरन्तरेणाहृत्य वेद्यामासाद्य वपामवदानानि चालभ्य ब्रह्मणाऽन्वारब्ध आज्यभागौ हुत्वा वपाहोमार्थं स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय वपां गृहीत्वा पु हिरण्यशकलं दत्त्वा द्विरभिघार्य रुद्राय स्वाहेति वपां जुहोति, वपाश्रपण्यौ विपर्यस्ते चाग्नौ प्रास्यति, तत उखातो वसां गृहीत्वा अन्तरिक्षाय स्वाहेति जुहुयात्। अथावदानहोमार्थं स्रुवे आज्यमुपस्तीर्य हिरण्यशकलमवधाय हृदयाद्यङ्गेभ्यः प्रत्येकं द्विर्द्विरवदाय स्रुवे क्षिप्त्वा स्थालीपाकाच्च सकृदवदाय छित्वा उपरि हिरण्यशकलं दत्त्वा सकृदभिघार्य असर्वाणि चेत् क्षताभ्यङ्गं कृत्वा "अग्नये स्वाहा" इति जुहोति। एवं पुनः स्रुवे उपस्तरणहिरण्यशकलावधानद्विर्द्विः प्रधानावदानग्रहणसकृत्स्थालीपाकावदानहिरण्यशकलावधानाभिघारणानि कृत्वा अग्नये, रुद्राय, शर्वाय, पशुपतये, उग्राय, अशनये, भवाय, महादेवाय, ईशानायेत्येतैर्नाममन्त्रैः स्वाहाकारान्तैरेकैकस्मै जुहोति। एवमग्न्यादयो नवप्रधानहोमाः सम्पद्यन्ते। ततः पृषदाज्येन "वनस्पतये स्वाहा" इति होमं विधाय स्विष्टकृद्धोमार्थं स्रुवमुपस्तीर्य हिरण्यशकलं दत्त्वा सर्वावदानपक्षे व्यङ्गेभ्यो द्विर्द्विरवदाय असर्वावदानपक्षे तेभ्य एव प्रधानार्थेभ्यो द्विर्द्विरवदाय सकृच्चरोरवदाय हिरण्यशकलमवधाय द्विद्विरभिघार्य "अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा" इत्यग्नेरुत्तरप्रदेशे जुहुयात्। यथामन्त्रं सर्वत्र त्यागाः। ततः स्रुवेण वसां गृहीत्वा आहवनीयस्य पुरस्ताद्दिशः स्वाहा इदं दिग्भ्यः। दक्षिणतः प्रदिशः स्वाहा इदं प्रदिग्भ्यः। पश्चिमत आदिशः स्वाहा इदमादिग्भ्यः। उत्तरतो विदिशः स्वाहा इदं विदिग्भ्यः। मध्यत उद्दिशः स्वाहा इदमुद्दिग्भ्यः पूर्वार्द्धे दिग्भ्यः स्वाहा इदं दिग्भ्यः। ततो जाघनीं गृहीत्वा गार्हपत्यं

प्रत्येत्य जाघन्या: स्रुवेणावदायावदाय इन्द्राण्यै स्वाहा इदमिन्द्राण्यै। रुद्राण्यै स्वाहा इदं रुद्राण्यै। शर्वाण्यै स्वाहा इदं शर्वाण्यै। भवान्यै स्वाहा इदं भवान्यै। अग्नये गृहपतये स्वाहा इदमग्नये गृहपतये। एता: पञ्च पत्नीसंयाजाहुतीर्जुहुयात्। तत आहवनीये महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यान्ता नवाहुतीर्हुत्वा संस्रवं प्राश्य शूलगवपशुना तुल्यवयसं वृषं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात्। तत: पलाशपत्रेषु षट् प्राक्संस्थेषु उदक्संस्थेषु वा पशुलोहितेन "यास्ते रुद्र पुरस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम:। यास्ते रुद्र-दक्षिणत: सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम:। यास्ते रुद्र पश्चात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम:। यास्ते रुद्रोत्तरत: सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम:। यास्ते रुद्रोपरिष्टात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम:। यास्ते रुद्राधस्तात्सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नम:।" इदं रुद्राय, सेनाभ्य इति सर्वबलिषु त्यागा:। ऊवध्यस्य लोहितलिप्तस्याग्नौ प्रक्षेपणमधस्तान्निखननं वा कृत्वा अनुवातं पशुमवस्थाप्य रुद्राध्यायेन नमस्त इत्यादिना, अस्य प्रथमोत्तमाभ्यामनुवाकाभ्यां वा रुद्रानुपस्थाय उदकमुपस्पृशेत्। एतस्य पशोर्मांसं ग्रामं नानयेत्। इति समाप्त: शूलगव:। अथ गोयज्ञपद्धति:। तत्र विहितमातृपूजाऽऽभ्युदयिकश्राद्ध:, स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्यफलानामन्यतमफलकाम औपासनमरण्यं नीत्वा तत्र परिसमूहनादिभि: संस्कृतायां भूमौ स्थापयेत्। तत्र ब्रह्मोपवेशनान्ते विशेष:। सक्षीरं प्रणयनं कृत्वा पायसं श्रपयित्वा आज्यभागाविष्ट्वा शूलगवदेवताभ्य: अग्निरुद्रशर्वपशुपत्युग्राशनिभवमहादेवेशानेभ्य: स्वाहाकारान्तैर्नामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नवभिर्मन्त्रै: पायसेन प्रत्येकं जुहुयात्। तत: पायसादेव स्विष्टकृते हुत्वा महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यहोमान्ते संस्रवं प्राश्य पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दद्यात्। इति गोयज्ञपद्धति:॥ ८॥

सरला

१. (अब स्वर्गादिकामियों के लिए) शूलगव (नामक याग विशेष की विधि आचार्य बतला रहे हैं)।

२. (इसके अनुष्ठान से यजमान को) स्वर्ग, पशु, पुत्र, धन, यश और आयु (प्राप्त होते हैं)।

३. गृह्याग्नि को वन में जाकर, वितान तान कर, रुद्रदेवता के पशु का आलभन करना चाहिए।

४. वह पशु अण्डमान् हो (अर्थात् नपुंसक न हो)।

५. शब्दश: गो (का) ही (आलभन हो, छाग का नहीं, क्योंकि 'शूलगव' में स्पष्ट रूप से 'गो' का ही उल्लेख है)।

६. वपा (वसा—चर्बी) को पकाकर, स्थालीपाक और हृदयादि को साथ ही पकाकर 'अन्तरिक्षाय वसाम्' मंत्र पढ़कर रुद्र के लिये वपा की आहुति दे; अग्नि, रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान के लिए स्थालीपाकमिश्रित

हृदयादि खण्डों का होम करे (९ आहुतियां—१. अग्नये स्वाहा २. रुद्राय स्वाहा ३. शर्वाय स्वाहा ४. पशुपतये स्वाहा ५. उग्राय स्वाहा ६. अशनये स्वाहा ७. भवाय स्वाहा ८. महादेवाय स्वाहा ९. ईशानाय स्वाहा)।

७–९. वनस्पति और स्विष्टकृत् आहुतियों के मध्य में दिशाओं का व्याघारण (होना चाहिए अर्थात् दिशाओं के नाम पर छह आहुतियाँ—१. दिशः स्वाहा २. प्रदिशः स्वाहा ३. आदिशः स्वाहा ४. विदिशः स्वाहा ५. उद्दिशः स्वाहा ६. दिग्भ्यः स्वाहा—डाली जायें। ये आहुतियाँ भी वसा की ही होंगी)।

१०. दिशाभिघारण के अनन्तर पशु की जंघा से पत्नीकृत ५ आहुतियाँ डाली जायें—१. इन्द्राण्यै स्वाहा २. रुद्राण्यै स्वाहा ३. शर्वाण्यै स्वाहा ४. भवान्यै स्वाहा ५. अग्नये गृहपतये स्वाहा।

(इसके बाद महाव्याहृति से प्रजापत्यान्त नौ आहुतियाँ भी आहवनीयाग्नि में डाली जायें; फिर संस्रव–प्राशन और दक्षिणा–दान)।

११. (तदनन्तर) उसी पशु के रक्त को पलाश के पत्तों और कुशासनों पर डालकर 'यास्ते.....' प्रभृति छह मंत्र पढ़कर रुद्रदेवता की सेना को छह बलियाँ प्रदान की जायें।

१२. रक्ताक्त ऊवध्य (पोटी–पुरीषाधान) को अग्नि में डाल दे या जमीन में गाड़ दे।

१३. पशु के अवशिष्ट शरीर को वाताभिमुख कर रुद्राध्याय के मंत्रों से या उसके प्रथम और अन्तिम अनुवाकों से उसकी स्तुति करें।

१४. इस (रौद्र) पशु के (मांस को याज्ञिक) गाँव (बस्ती) में नहीं लाते, (वहीं अरण्य में ही छोड़ देते हैं)।

१५. इसी 'शूलगव' के विधान से गोयज्ञ की व्याख्या भी हो गई अर्थात् वह कर्म भी इसी भाँति होगा।

१६. पायस चरु से 'शूलगव' के प्रधान देवता का होम लुप्त नहीं होता।

१७. दक्षिणा में शूलगव–पशु के तुल्य आयुवाली गौ (दी जाये; हरिहर का कथन है कि यदि गौ न हो तो उसे खरीदने योग्य द्रव्य ब्राह्मण को दे दिया जाये)।

टिप्पणी—१. नामकरण का हेतु—बोधायन गृह्यसूत्र के अनुसार 'शूलगव' का नामकरण इस याग में गौ के भागों (गवयानी) को शूलों (Spites) पर पकाने के कारण हुआ। आश्वलायन गृह्यसूत्र के टीकाकार नारायण का कथन है कि रुद्र को अर्पित की जाने के कारण इसका नाम 'शूलगव' पड़ा।

२. विश्वनाथ ने बर्हिहोम और ब्राह्मण-भोजन से ही इस कर्म का समापन माना है।

३. १६वें सूत्र में उल्लिखित पायस चरु का उल्लेख हरिहर ने गोयज्ञ–पद्धति के अन्तर्गत किया है।

नवमकण्डिका—वृषोत्सर्गः

अथ वृषोत्सर्गः ॥ १ ॥ गोयज्ञेन व्याख्यातः ॥ २ ॥ कार्तिक्यां पौर्णमास्याᳪं रेवत्यां वाश्वयुजस्य ॥ ३ ॥ मध्येगवाᳪं सुसमिद्धमग्निं कृत्वाज्यं संस्कृत्येहरतिरिति षट् जुहोति प्रतिमन्त्रम् ॥ ४ ॥ पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः स्वाहा, इति पौष्णस्य जुहोति ॥ ५ ॥ रुद्रान् जपित्वैकवर्णं द्विवर्णं वा यो वा यूथं छादयति यं वा यूथं छादयेद्रोहितो वैव स्यात्सर्वाङ्गैरुपेतो जीववत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो यूथे च रूपस्वितमः स्यात्तमलंकृत्य यूथे मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यस्ताश्चालंकृत्य एतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण ॥ मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेत्येतयैवोत्सृजन् ॥ ६ ॥ नभ्यस्थमभिमन्त्रयते मयोभूरित्यनुवाकशेषेण ॥ ७ ॥ सर्वासां पयसि पायसᳪं श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ ८ ॥ पशुमप्येके कुर्वन्ति ॥ ९ ॥ तस्य शूलगवेन कल्पो व्याख्यातः ॥ १० ॥ ९ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथ वृषोत्सर्गः—अथ शूलगवानन्तरं वृषोत्सर्गः वृषस्य वक्ष्यमाणस्योत्सर्गः उत्सर्जनं वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। स च कामाधिकारात्फलस्य वाऽनभिधानात् किं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलः कल्प्यते, उत पूर्वोक्तशूलगवानन्तराभिधानात्तत्फल इति सन्देहः। तत्र विश्वजिन्न्यायस्य सर्वथाऽश्रुतफलकर्मविषयत्वान्नात्र प्रवृत्तिः। कुतः सन्निधिश्रुतस्य शूलगवफलस्य स्वर्गादेरत्रान्वययोग्यत्वात्, तस्मादयमपि पशुः स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामस्यैवेत्यभिप्रेत्याह—गोयज्ञेन व्याख्यातः—स च गोयज्ञेन गवा रौद्रेण पशुना यज्ञः गोयज्ञस्तेन व्याख्यातः। गोयज्ञसाध्यफलेतिकर्तव्यतावानित्यर्थः। ततश्चास्मिन्नपि स्वर्गपशुपुत्रधनयशआयुष्कामस्याधिकारः। स कदा कर्तव्य इत्यपेक्षायामाह—कार्त्तिक्यां पौर्णमास्याᳪं रेवत्यां वाऽऽश्वयुजस्य-कार्त्तिक्यां पूर्णिमायाम्, आश्विनस्य रेवत्यां रेवतीनक्षत्रे वा कर्तव्य इति सूत्रशेषः। शास्त्रान्तरे तु "चैत्र्यामाश्वयुज्यां वा" इति कालान्तरमुक्तम्। मध्ये गवाᳪं सुसमिद्धमग्निं कृत्वाऽऽज्यᳪं संस्कृत्येह रतिरिति षड् जुहोति प्रतिमन्त्रम्—मध्ये गवां गोष्ठे पञ्चभूसंस्कारपूर्वकमावसथ्याग्निं सुसमिद्धं प्रज्वलितं कृत्वा आज्यं संस्कृत्य पर्युक्षणान्ते इह रतिरित्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं षडाज्याहुतीर्जुहोति। अत्र मध्ये गवामिति देशविशेषनियमानुविधानात् देशान्तरस्येह यागानङ्गत्वम्। पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजᳪं सनोतु न इति पौष्णस्य जुहोति—पौष्णस्य पूषा देवता अस्येति पौष्णस्तस्य चरोः पूषा गा इत्यादिमन्त्रेण सकृज्जुहोति होमसंख्यानभिधानात् तस्य च श्रपणानुपदेशात् सिद्ध एवोपादीयते। अयं पौष्णश्चरुः पिष्टमयो भवति। कुतः "तस्माद्यं पूष्णे चरुं कुर्वन्ति प्रपिष्टानामेव कुर्वन्ति" इति श्रुतेः। रुद्रान् जपित्वैकवर्णं द्विवर्णं वा यो वा यूथं छादयति यं वा यूथं छादयेद्रोहितो वैव स्यात्सर्वाङ्गैरुपेतो

जीववत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो यूथे च रूपस्वित्तमः स्यात्तमलंकृत्य यूथे मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यस्ताश्चालंकृत्यैतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण। मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेत्येतयैवोत्सृजेरन्—रुद्रान्नमस्त इत्यध्याया-म्नातान् जपित्वा (सप्तजन्म) जपधर्मेण पठित्वा, अत्र शूलगवातिदेशप्राप्तोऽपि रुद्रजप-विधिः प्रथमोत्तमानुवाकजपविकल्पनिवृत्त्यर्थः जपावसरज्ञापनार्थो वा। तन्न। अपूर्व एवायम्, जप्यत्वेनाप्राप्तत्वात्। प्रकृतौ हि रुद्राणां पशूपस्थाने करणत्वेन विहितत्वात्। एक एव शुक्लादिवर्णो रूपं यस्य स एकवर्णः तम्। अथवा द्वौ वर्णौ यस्य स द्विवर्णः तं वृषम्। एवं वर्णविशेषनियममभिधायाधुना वृषस्य परिमाणविशेषनियममाह—यो वृषो यूथं कृत्स्नं वर्गं छादयति स्वपरिमाणेनाधःकरोति तं वा, यं वृषं यूथं वर्गश्छा-दयेत् अधःकुर्यात् तं वा यूथादधिकपरिमाणं वा न्यूनपरिमाणं वेत्यर्थः। रोहितो लोहित एव वा यः स्यात्, एवकारेण लोहितस्य एकवर्णद्विवर्णाभ्यां प्राशस्त्यमुच्यते, पुनः कीदृक्, सर्वैरङ्गैरुपेतः समन्वितः न पुनर्हीनाङ्गोऽधिकाङ्गो वा, तथा जीवाः प्राणवन्तो वत्साः प्रसूतिर्यस्याः सा जीववत्सा तस्या गोः पुत्रः। तथा पयः क्षीरं बहुलं विद्यते यस्याः सा पयस्विनी तस्या गोः पुत्रः। तथा यूथे वर्गविषये रूपमस्या-स्तीति रूपस्वी अतिशयेन रूपस्वित्तमः वृषः स्यात्, तमुक्तगुणविशिष्टं वृषमलंकृत्य वस्त्रमाल्यानुलेपहेमपट्टिकाग्रैवेयकघण्टादिभिर्वृषोचितभूषणैर्भूषयित्वा न केवलं वृषमात्रम्, ताश्च वत्सतरीरप्यलंकृत्य, कीदृशीः याः यूथे स्ववर्गे मुख्याः गुणैः श्रेष्ठवत्सतर्यः, कति चतस्रः चतुःसंख्योपेतास्ताः, एतं युवानमित्येतया उत्सृजेरन् त्यजेयुः। नभ्यस्थमभि-मन्त्रयते मयोभूरित्यनुवाकशेषेण—नभ्यस्थं वत्सतरीणां मध्ये तिष्ठन्तममिम त्रयते स्त्राभिमुख्येन मन्त्रैः स्तौति। केन मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेत्यारभ्य स्वर्णसूर्यः स्वाहेत्यन्तनानुवाकशेषेणेति वृषोत्सर्गसूत्रार्थः। अथ पायसप्राशनं नाम कर्मान्तरम्। सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेत्—यस्य यावन्त्यो गावः दोग्ध्र्यः सन्ति स तासां सर्वासां पयसि दुग्धे पायसं परमान्नं श्रपयित्वा पक्त्वा ब्राह्मणान् त्रिप्रभृतीन् यथाशक्ति भोजयेत् तर्पयेत्। पशुमप्येके कुर्वन्ति। तस्य शूलगवेन कल्पो व्याख्यातः—एके आचार्याः पशुमपि छागं च कुर्वन्ति आलभन्ते उक्तविधिना पायस-श्रपणपूर्वकं ब्राह्मणान् भोजयन्ति च, तस्य पशोः शूलगवेन शूलगवाख्येन कर्मणा कल्पः इतिकर्तव्यताकलापो व्याख्यातः कथितः। इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

अथ पद्धतिः। तत्र स्वर्गादीनामन्यतमफलप्राप्तिकामः कार्त्तिक्यां पौर्णमास्याम्, आश्वयुजस्य रेवत्यां वा शाखान्तराच्चैत्र्यामाश्वयुज्यां वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिक-श्राद्धं कृत्वा गोष्ठे गत्वा गवां मध्ये पञ्च भूसंस्कारान् कृत्वा आवसथ्याग्निं स्थापयेत्। प्रणीताप्रणयनकाले प्रणीतापात्रमध्ये पिष्टादिना अन्तर्द्धानं विधाय मूलदेशे पयः इतरत्र जलं प्रक्षिप्य प्रणयेत्। तण्डुलानन्तरं पौष्णं पिष्टमयं चरुसिद्धमेवासादयेत्। प्रणीतेन पयसा पायसं श्रपयेत्, पर्युक्षणान्ते सुसमिद्धेऽग्नौ "इह रतिः स्वाहा १। इह

रमध्वꣳस्वाहा २। इह धृतिः स्वाहा ३। इह स्वधृतिः स्वाहा ४। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्स्वाहा ५। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा ६। इदमग्नये इति षट्सु त्यागाः। एवं षडाहुतीर्हुत्वा आज्यभागान्ते पायसेन शूलगवदेवताभ्योऽग्न्यादिभ्य ईशानान्ताभ्यो नवाहुतीः प्रत्येकं हुत्वा पिष्टचरोः पूषा गा अन्वेतु न इत्यादिना सनोतु न इत्यन्तेन स्वाहाकारयुतेन मन्त्रेणैकामाहुतिं हुत्वा "इदं पूष्णे" इति त्यागं विधाय पायसपौष्णाभ्यां स्विष्टकृतं हुत्वा महाव्याहृत्यादिहोमसंस्रवप्राशनान्ते पूर्णपात्रवरयोरन्यतरं ब्रह्मणे दक्षिणां दद्यात्। अथ नमस्ते रुद्रमन्यव इत्यारभ्यासमाप्ते रुद्राञ्जपित्वा एकवर्णादिगुणविशिष्टं वृषभं चतसृभिर्वत्सतरीभिः सहितं वस्त्रमाल्यानुलेपहेमालंकारादिभिरलंकृत्य एतं युवानमित्याद्या समिषामदेमेत्यन्तया ऋचा उत्सृजेरन्। ततो वत्सतरीमध्ये स्वं वृषभं मयाभूरभि मा वाहि स्वाहेत्यारभ्य स्वर्णसूर्यः स्वाहेत्यन्तेनानुवाकशेषेणाभिमन्त्रयते। इति वृषोत्सर्गः। अत्र यत्प्रेतकृत्यं तदन्योक्तं लिख्यते। तत्र प्रेतपित्रादिगतनानाविधसमुच्चितस्वर्गादिफलकामस्य स्वगतपुण्यातिशयाशोकमोक्षगतिकामस्य वाऽधिकारः। तत्र प्रथमसंवत्सराभ्यन्तरे कृतसपिण्डीकरणस्याकृतसपिण्डीकरणस्य च मातृस्थापनपूजनाभ्युदयिकश्राद्धानि न भवन्ति। सूतकान्तं द्वितीयमहरेवास्य परं वृषोत्सर्गस्य कालो न कार्त्तिक्यादिः प्रथमसंवत्सरे काम्यकर्माभ्युदयिकयोरनधिकारात्। कुतः "तथैव काम्यं यत्कर्म' वत्सरात्प्रथमादृते" इति वचनात्। सूतकान्ते द्वितीयेऽहनि इति यद्वचनं तत्, तथैव काम्यं यत्कर्म' इति वचनं बाधित्वैव प्रवर्तते अनन्यविषयत्वात्। कार्त्तिक्यादिवचनं तु संवत्सरोत्तरकालिककार्त्तिक्यादौ सङ्कोच्यम्, अन्यथा बाधसापेक्षत्वाभ्यां वैषम्यापत्तेः। ततश्च संवत्सरानन्तर कार्त्तिक्यादिकाले पित्रादिगतनानाविधतृप्त्यादिकामेन क्रियमाणो वृषोत्सर्गो मातृस्थापनपूजनश्राद्धपूर्वक एव कर्तव्यः। तस्य च कार्त्तिकीचैत्र्याश्वयुजीरेवत्यः कालाः।

अथ फलश्रुतिः—"उत्सृष्टो वृषभो यस्मिन् पिबत्यथ जलाशये। शृङ्गेणोल्लिखते भूमिं यत्र क्वचन दर्पितः। पितॄणामन्नपानं तत् तत्प्रभृत्युपतिष्ठते। वृषोत्सर्गादृते नान्यत्पुण्यमस्ति महीतले॥" तथा—"वृषभस्य तु शब्देन पितरः सपितामहाः। आवर्तमाना दृश्यन्ते स्वर्गलोके न संशयः॥ जले प्रक्षिप्य लाङ्गूलं तोयं यद्धरते वृषः। दशवर्षसहस्राणि पितरस्तेन तर्पिताः॥ कूलात्समुद्धृता यावच्छृङ्गे तिष्ठति मृत्तिका। भक्ष्यभोज्यमयैः शैलैः पितरस्तेन तर्पिताः॥ गवां मध्ये यदा चैष वृषभः क्रीडते तु यत्। अप्सरौघसहस्रेण क्रीडन्ति पितरस्ततः॥ लाङ्गूलयुग्मं यावत् तोयेषु क्रीडते तु सः। अप्सरोगणसङ्घैश्च क्रीडन्ति पितरः सदा॥ सहस्ररत्नपात्रेण कनकेन यथाविधि। तृप्तिः स्याद्या पितॄणां वै सा वृषेण समोच्यते॥" एतानि चार्थवादफलानि समुच्चितान्येव कामनाविषयः। अथ वृषस्वरूपम्—"जीववत्सायाः पयस्विन्याः पुत्रो मुखपुच्छपादेषु सर्वशुक्लो नीलो लोहितो वा वृषः।" तथा—"उन्नतस्कन्धककुद ऋजुलाङ्गूलभूषणः। महाकटितटस्कन्धो वैदूर्यमणिलोचनः। प्रवालगर्भशृङ्गाग्रः सुदीर्घर्जुवालधिः।

नवाष्टदशसंख्यैस्तु तीक्ष्णाग्रैर्दशनैः शुभैः ।। मल्लिकाख्यश्च मोक्तव्यस्तथा वर्णेन ताम्रकः। कपिलो वृषभः श्रेष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते ।। श्वेतो रक्तश्च कृष्णश्च गौरः पाटल एव च ।'' तथा–''पृथुकर्णो महास्कन्धः सूक्ष्मरोमा च यो भवेत् । रक्ताक्षः कपिलो यश्च रक्तशृङ्गगलस्तथा । श्वेतोदरः कृष्णपृष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते ।। स्निग्धवर्णेन रक्तेन क्षत्रियस्य प्रशस्यते । काञ्चनाभेन वैश्यस्य कृष्णः शूद्रस्य शस्यते ।। यस्य प्रागायते शृङ्गे स्वमुखाभिमुखे सदा । सर्वेषामेव वर्णानां स वै सर्वार्थसाधकः ।।'' तथा–''मार्जरपादः कपिलस्तथा कपिलपिङ्गलः । श्वेतो मार्जारपादः स्यात्तथा मणिनिभेक्षणः ।।'' तथा–गौरतित्तिरिकृष्णतित्तिरिसन्निभौ । तथा आकर्णमूलात् श्वेतं यस्य मुखं स नान्दीमुखः । विशेषतो रक्तवर्णः । तथा यस्य जठरं श्वेतवर्णं पृष्ठं च स समुद्रनामा अतसीवर्णो जघन्यः । तथा–''भूमौ कर्षति लाङ्गूलं पुनश्च स्थूलबालधिः । पुरस्तादुन्नतो नीलः स श्रेयान्वृषभः स्मृतः ।।'' तथा–''रक्तशृङ्गाग्रनयनः श्वेतदन्तोदरस्तथा । प्रवालसदृशास्येन वृषो धन्यतरः स्मृतः ।।'' एते सर्वे धनधान्यविवर्द्धनाः । तथा–''चरणाग्रमुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः । लाक्षारससवर्णश्च तं नीलमिति निर्दिशेत् ।।'' तथा–''लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः । श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स वृषो नील उच्यते'' तथा नीलाधिकारे–''एवं वृषं लक्षणसम्प्रयुक्तं गृहोद्भवं क्रीतमथापि राजन् । मुक्त्वा न शोचेन्मरणं महात्मा मोक्षे मतिं चाहमतो विधास्ये'' इति । गाथाऽपि तदर्थेयम् । ''एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् । यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।'' अथ वर्जनीया वृषाः–''कृष्णताल्वोष्ठदशना रूक्षशृङ्गशफाश्च ये । असक्तदन्ता ह्रस्वाश्च व्याघ्रभस्मनिभाश्च ये ।। ध्वाङ्क्षगृध्रसवर्णाश्च तथा मूषकसन्निभाः । कुब्जाः काणाश्च खञ्जाश्च केकराक्षास्तथैव च ।। अत्यन्तश्वेतपादाश्च उद्भ्रान्तनयनास्तथा । नैते वृषाः प्रमोक्तव्या गृहे धार्याः कथञ्चन ।।'' उपादेयश्च वृषस्त्रिहायणः । तथा वत्सतर्योऽपि त्रिहायण्य एव । अथ स्नात आचान्तः प्रेतपुत्रादिरन्यो वा होता ब्रह्मा च, तत्रान्यपक्षे ''ॐ अद्यामुकमासिकामुकतिथौ पित्रादिगतस्वर्गकामो वृषोत्सर्गमहं करिष्ये'' इति प्रतिज्ञाय ''अद्य कर्तव्ये वृषोत्सर्गहोमकर्मणि भवान्मया निमन्त्रितः'' ''तथैव होमकर्मणि कृताकृतावेक्षकत्वेन मया भवान्निमन्त्रित'' इति वस्त्रचन्दनताम्बूलादिभिः होतृब्रह्माणौ वृणुयात् । ततः स्वयं गवां मध्ये गोष्ठे पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा आवसथ्याग्निं स्थापयेत् । होतृब्रह्मप्रणीतानामासनदानम् । ब्रह्माणमुपवेश्य प्रणीतासु क्षीरोदकप्रणयनम् । उदकमात्रप्रणयनमिति केचित् । आज्यं, तण्डुलाः, पौष्णः पिष्टमयः सिद्ध एव चरुः । होतुर्वस्त्रयुगं सुवर्णकांस्यादिदक्षिणा च । ब्रह्मणः पूर्णपात्रं वरो वा दक्षिणा । प्रोक्षण्युदकेन पात्रप्रोक्षणम्, पवित्रस्य च प्रणीतासु निधानम्, प्रणीतेन पयसा यथाविधि पायसचरुश्रपणम्, उद्वासनादि, प्रोक्षण्युदकेन पर्युक्षणान्तमाज्येन इह रतिरित्याद्याः षडाहुतयः, इदमग्नय इति षट् त्यागाः । तत आघारावाज्यभागौ, ततः पायसेनाग्नये इत्यादीशानान्तः शूलगवदेवताभ्यो होमः । ततः पिष्टचरुणा ''पूषा गा अन्वेतु नः

पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजꣳ सनोतु नः स्वाहा" इत्येकाऽऽहुतिः पूष्णे। ततः पायसपिष्टचरुभ्यां स्विष्टकृद्धोमः। ततो भूराद्या नवाहुतयः, संस्रवप्राशनम्। दक्षिणान्ते रुद्रान् जपित्वा एकस्मिन्पार्श्वे चक्रेणापरस्मिन् शूलेन वृषभमङ्कयित्वा वत्सतरीवृंपं च हिरण्यवर्णेति चतसृभिः शन्नो देवीरिति च स्नापयित्वा लोहघण्टिकानूपुरकनकपट्टादिभिः पश्चाप्यलंकृत्य वृषभस्य दक्षिणे कर्णे जपेत्। "वृषो हि भगवान्धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः। वृणोमि तमहं भक्त्या स मां रक्षतु सर्वतः" इति। तत उत्सर्गः। ॐ अद्यामुकमासिकामुकतिथौ० एतं युवानं पतिमित्यादिना समिषा मदेमेत्यन्तेनैव। पारस्करेण "एतयैवोत्सृजेरन्" इति एवकारेणान्यनिषेधात्। तथा च ऋगर्थः। हे वत्सतर्यो वो युष्माकं एतं वृषं युवानं तरुणं, पतिं भर्तारं ददामि त्यजामीत्यर्थः। हे वत्सतर्यो यूयमपि न मयोपयोक्तव्याः, किन्तु तथा त्यक्ताः सत्य उपवनेषु अनेन प्रियेण पत्या सह क्रीडन्तीः क्रीडन्त्यः चरथ स्वच्छन्दं भ्रमत चरत तृणानिख ादतेति वा। "चर गतिभक्षणयोः"। नोऽस्माकं गृहेषु साप्तजनुषा सप्तजन्मपर्यन्तं असुभगा मा चरत, किञ्च युष्मत्प्रसादाद्वयं रायस्पोषेण धनपुष्टया, इषा अन्नेन च सम्मदेम सम्यक् तृप्येम, इत्याशंसा। तदुक्तम्—"ततः प्रमुदितास्तेन वृषभेण समन्विताः। वनेषु गावः क्रीडन्ति वृषोत्सर्गप्रसिद्धिषु॥" ततो वत्सतरीनभ्यस्थमभिमन्त्रयते मयोभूरित्यनुवाकशेषेण। ततो यवतिलयुतं जलं पित्रादिभ्यः पितृतीर्थेन दद्यादनेन मन्त्रेण। "स्वधा पितृभ्यो मातृभ्यो बन्धुभ्यश्चापि तृप्तये। मातृपक्षाश्च ये केचिद्ये चान्ये पितृपक्षजाः॥ गुरुश्वशुरबन्धूनां ये कुलेषु समुद्भवाः। ये प्रेतभावमापन्ना ये चान्ये श्राद्धवर्जिताः॥ वृषोत्सर्गेण ते सर्वे लभन्तां तृप्तिमुत्तमाम्। दद्यादनेन मन्त्रेण तिलाक्षतयुतं जलम्। उत्सृष्टान्नोपयुञ्जीत स्वामी चान्योऽपि मानवः" इति। ननु यथा वापीकूपतडागादावुत्सर्गे कृते परस्मिंश्च स्वीकारिते निरिष्टिके तज्जलगोचरतया सर्वेषामौपादानिकं स्वत्वं भवति, तथेहापि त्यक्तानां वृषादीनां केनचिदप्यस्वीकृतानां निरिष्टिकानामौपादानिकं स्वत्वं कुतो न भवतीत्याह—"नैवाज्यं न च तत्क्षीरं पातव्यं केनचित्क्वचित्। न वाह्योऽसौ वृषश्चैषामृते गोमूत्रगोमये" इति। ततश्च यथेष्टविनियोगनिषेधान्मतिस्तोकत्वे न किञ्चिदप्युपादानं कार्यम्। ननु औपादानिकस्वत्वानन्तरं विक्रीय कपर्दिकादानमप्यस्त्विति चेन्न, न वाह्य इत्यस्य विनियोगमात्रोपलक्षणत्वात् विक्रयस्यापि यथेष्टविनियोगरूपत्वात्, किन्तु गोपशुविक्रयस्य निषेधश्रुतेः कथं तदर्थमुपादानम्। उल्लङ्घितमर्यादो विक्रयं करोत्विति चेत् तस्योच्छृङ्खलत्वेन हेयत्वात्। शास्त्राण्यनधिकृत्य शास्त्राप्रवृत्तेः, सङ्कल्पविरोधाच्च। तर्ह्यनेन प्रियेण वनेष्वनवच्छिन्नकालं चरथेति सङ्कल्पो न तु परोपेतं गोबलीवर्द्दरूपं मुञ्चतामिति। वाप्यादौ तु सर्वभूतानि स्नानपानावगाहनादि यथेष्टमिह कुर्वन्त्वित्येतावानेव सङ्कल्पः। यदि तु वत्सतरीणामपत्यानि केनचिदुपादाय दोह्यन्ते तदाऽस्य न दोषः। तत्पर्यन्तमेव दोहनवाहननिषेधवाक्यस्य तात्पर्यात् भवेद्वचनमिति न्यायाच्च। अथ पायसप्राशनं नाम कर्मान्तरं प्रकरणेनपात्स्वर्गाद्यन्यतमकामस्याभिधीयते। तत्र कालविशेषानभि-

धानात्प्रकृतोत्सर्गकाल एव गृह्यते। ततश्च वृषोत्सर्गविहितकार्त्तिक्याद्यन्यतमसमये मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वाऽऽवसथ्याग्नौ स्वकीयानां सर्वासां गवां दोग्ध्रीणां पय आदाय तत्र पयसि तण्डुलान्प्रक्षिप्य पायसं श्रपयित्वा त्रिप्रभृतीन् यथाशक्ति यथासम्भवं ब्राह्मणान्भोजयेत्। अथवा शूलगवविधिना छागं पशुं च कुर्यादिति पायसप्राशनम्। एष वृषोत्सर्गविधिः स्वर्गादिकामस्यौपासनाग्नौ साग्नेर्भवति। यः पुनः प्रेतगतस्वर्गादिफलसाधनभूतो ब्राह्मणादीनां वर्णानामेकादशत्रयोदशषोडशैकत्रिंशत्तमेष्वस्ति वृषोत्सर्गः स्मृत्यन्तरे विहितः, तत्रापि द्विजातीनां साग्निनिरग्नीनां काण्वमाध्यन्दिनशाखानुसारिणां लौकिकाग्निनाऽनेनैव विधानेन कर्तव्यो मातृपूजाऽऽभ्युदयिकश्राद्धं विना प्रेतसपिण्डानां प्रथमेऽब्दे काम्याभ्युदयिकयोर्निषेधात्। शूद्रस्य तु मन्त्रवर्जं क्रियामात्रम्। निरग्नीनां तु स्वर्गादिकामानां कार्त्तिक्याद्यन्यतमकाले लौकिकाग्नौ कर्तव्यो भवतीति विशेषः।

अत्र केचिदाहुः एकादशेऽह्नि सम्प्राप्ते यस्य नोत्सृज्यते वृषः। प्रेतत्वं हि स्थिरं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि" इत्यादिस्मृतिवचनात्, क्षत्रियवैश्यशूद्रैरप्येकादशेऽह्न्येव आशौचमध्येनियतकालिकत्वात् वृषोत्सर्गः कर्तव्य इति। तदयुक्तम्। अत्र प्रकरणे एकादशाहादिशब्दा आशौचसूतकान्तकालोपलक्षकाः। अन्यथा "अहन्येकादशे नाम" तथा— "आनन्त्यात्कुलधर्माणामायुषश्च परिक्षयात्। अस्थितेश्च शरीरस्य द्वादशाहः प्रशस्यते" इत्यादिभिर्वचनैर्नामकरणसपिण्डनादिक्रिया क्षत्रियादीनामशुद्धावेवापद्येत। न तदिष्यते। "शुचिना कर्म कर्तव्यम्" इति कर्माधिकारे शुद्धेरपेक्षितत्वात्, सा च शुद्धिः क्षत्रियादीनां त्रयोदशे षोडशे एकत्रिंशत्तमे दिने भवति। तस्मादेकादशाहादिशब्दाः सूतकान्तमुपलक्षयन्ति ॥ ९ ॥

सरला

१. अब 'वृषोत्सर्ग' (का विधान आचार्य कर रहे हैं)।

२. इसका फल भी गोयज्ञ के सदृश ही समझ लेना चाहिए।

३. कार्त्तिक की पूर्णिमा को या आश्विन मास के रेवतीनक्षत्र में (इसका अनुष्ठान करना चाहिए। शाखान्तरीय ग्रन्थों में चैत्र का रेवती नक्षत्र भी विहित है)।

४. गायों के मध्य में अग्नि प्रज्वलित कर आज्य-संस्कार करके 'इहरति,' इत्यादि छह मंत्रों से छह आहुतियाँ दे।

५. 'पूषा गा....' मंत्र पढ़कर एक आहुति पूषन् को दी जाये (—यह आहुति पिष्टमय चरु की होनी चाहिए)।

६. रुद्राध्याय के मंत्रों का जप करने के अनन्तर 'एतं....' मंत्र पढ़ते हुए यूथ (झुण्ड) में मुख्य चार बछियों के साथ ऐसे वृषभ को अलङ्कृत कर त्याग दे जो इकरंगा या दुरंगा हो, (महत्त्व की दृष्टि से) झुण्ड को आच्छादित करनेवाला हो,

लाल-लाल हो, सर्वाङ्गपूर्ण हो, उसकी मां जीववत्सा और पयस्विनी रही हो, अपने झुण्ड में सर्वाधिक रूपवान् हो।

७. बछिओं के मध्य में स्थित उस वृषभ के सामने खड़े होकर 'केन मयोभू····स्वर्णसूर्यः' इत्यादि शेष अनुवाक् से स्तवन करे।

(वृषोत्सर्ग की विधि तो यही है। अब 'पायस-प्राशन' नामक अन्य कर्म का विधान कर रहे हैं—)

८. जिसके जितनी गायें हों, उन सबके दूध की खीर पकाकर (यथाशक्ति) ब्राह्मणों को तृप्त करे।

९. कुछ (आचार्यों का मत है कि छाग) पशु (का आलभन भी) किया जा सकता है।

१०. 'शूलगव' के प्रसंग में आलभन-विधि का उल्लेख हो चुका है।

मंत्रार्थ

१. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा व्वाजं सनोतु नः॥

प्रजापति, गायत्री, पूषन्।

पूषन् देव हमें गायें और अन्न प्रदान करें। वे हमारे प्राणों को सर्वथा स्वस्थ बनाये रखें।

२. एतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण। मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेमेत्येतयैव॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्, गायें।

ओ बछियों! इस वृषभ के रूप में हम तुम्हें एक युवक पति प्रदान करते हैं। तुम अपने इस प्रियपति के साथ उछल-कूद या अन्य क्रीडायें करती हुई स्वच्छन्द विहार करो। यह तुम्हारा सात जन्मों का साथी है—तुम सौभाग्यवती हो। तुम्हारी कृपा से हम भी अन्न-धन प्राप्त करें।

दशमकण्डिका—उदककर्म

अथोदककर्म॥ १॥ अद्विवर्षे प्रेते माता-पित्रोराशौचम्॥ २॥ शौचमेवेतरेषाम्॥ ३॥ एकरात्रं त्रिरात्रं वा॥ ४॥ शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति॥ ५॥ अन्तःसूतके चेदोत्थानादाशौचं सूतकवत्॥ ६॥ नात्रोदककर्म॥ ७॥ द्विवर्षप्रभृति प्रेतमाश्मशानात्सर्वेऽनुगच्छेयुः॥ ८॥ यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके॥ ९॥ यद्युपेतो भूमिजोषणादिसमानमाहिताग्नेरोदकान्तस्य गमनात्॥ १०॥ शालाग्निना दहन्त्येनमाहितश्चेत्॥ ११॥ तूष्णीं ग्रामाग्निनेतरम्॥ १२॥ संयुक्तं मैथुनं वोदकं याचेरन्नुदकं करिष्यामह इति॥ १३॥

कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्यशतवर्षे प्रेते ॥ १४ ॥ कुरुध्वमित्येवेतरस्मिन् ॥ १५ ॥ सर्वे ज्ञातयोऽपोभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा ॥ १६ ॥ समानग्रामवासे यावत्संबन्धमनुस्मरेयुः ॥ १७ ॥ एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः ॥ १८ ॥ सव्यस्यानामिकयाऽपनोद्यापनः शोशुचदघमिति ॥ १९ ॥ दक्षिणामुखा निमज्जन्ति ॥ २० ॥ प्रेतायोदकं सकृत्प्रसिञ्चन्त्यञ्जलिनाऽसावेतत्त उदकमिति ॥ २१ ॥ उत्तीर्णाञ्छुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टांस्तत्रैतानपवदेयुः ॥ २२ ॥ अनवेक्षमाणा ग्राममायान्ति रीतीभूताः कनिष्ठपूर्वाः ॥ २३ ॥ निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपांस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति ॥ २४ ॥ त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणोऽधः शायिनो न किञ्चन कर्म कु (र्युः ?-र्वन्ति) र्न प्रकु (र्वीरन् ? र्वन्ति) ॥ २५ ॥ क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैवान्नमश्नीयुरमाꣳसम् ॥ २६ ॥ प्रेताय पिण्डं दत्त्वाऽवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु नामग्राहम् ॥ २७ ॥ मृन्मये ताꣳ रात्रीं क्षीरोदके विहायसि निदध्युः प्रेतात्रस्नाहीति ॥ २८ ॥ त्रिरात्र शावमाशौचम् ॥ २९ ॥ दशरात्रमित्येके ॥ ३० ॥ न स्वाध्यायमधीयीरन् ॥३१॥ नित्यानि निवर्तेरन्वैतानवर्जम् ॥ ३२ ॥ शालाग्नौ चैके ॥ ३३ ॥ अन्य एतानि कुर्युः ॥ ३४ ॥ प्रेतस्पर्शिनो ग्रामं न प्रविशेयुराचनक्षत्रदर्शनात् ॥ ३५ ॥ रात्रौ चेदादित्यस्य ॥ ३६ ॥ प्रवेशनादि समानमितरैः ॥ ३७ ॥ पक्षं द्वौ वाऽऽशौचम् ॥ ३८ ॥ आचार्ये चैवम् ॥ ३९ ॥ मातामह्योश्च ॥ ४० ॥ स्त्रीणां चाप्रत्तानाम् ॥ ४१ ॥ प्रत्तानामितरे कुर्वीरन् ॥ ४२ ॥ ताश्च तेषाम् ॥ ४३ ॥ प्रोषितश्चेत्प्रेयाच्छ्रवणप्रभृतिकृतोदकाः कालशेषमासीरन् ॥ ४४ ॥ अतीतश्चेदेकरात्रं त्रिरात्रं वा ॥ ४५ ॥ अथ कामोदकान्यृत्विक् श्वशुरसखिसम्बन्धिमातुलभागिनेयानाम् ॥ ४६ ॥ प्रत्तानां च ॥ ४७ ॥ एकादश्यामयुग्मान्ब्राह्मणान्भोजयित्वा माꣳसवत् ॥ ४८ ॥ प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति ॥ ४९ ॥ पिण्डकरणे प्रथमः पितॄणां प्रेतः स्यात्पुत्रवांश्चेत् ॥ ५० ॥ निवर्तेत चतुर्थः ॥ ५१ ॥ संवत्सरं पृथगेके ॥ ५२ ॥ न्यायस्तु न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतेः ॥ ५३ ॥ अहरहरन्नमस्मै ब्राह्मणायोदकुम्भं च दद्यात् ॥ ५४ ॥ पिण्डमप्येके निपृणन्ति ॥ ५५ ॥ १० ॥

हरिहरभाष्यम्

अथोदककर्म—अथ पुरुषसंस्कारकर्म, क्रमप्राप्तमुदककर्म उदकेन जलेन कर्म क्रिया अञ्जलिदानमित्यर्थः। वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। उपलक्षणमेतत्। येनाशौचादियमनियमा अपि वक्ष्यन्ते। अद्विवर्षे प्रेते मातापित्रोराशौचꣳ शौचमेवेतरेषामेकरात्रं त्रिरात्रं वा—द्वे वर्षे वयो यस्य स द्विवर्षः, न द्विवर्षः अद्विवर्षस्तस्मिन् प्रेते प्रकर्षेण इतो गतः प्रेतो मृतः तस्मिन्निमित्ते, माता च पिता च मातापितरौ तयोर्मातापित्रोराशौचमशुद्धिः वर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठानसंकोचावस्थेति यावत्। इतरेषां मातापितृभ्यामन्येषां शौचमेव

नाशुद्धिः। पित्रोः कियन्तं कालमाशौचम् एकरात्रम् एकमहोरात्रम्। अथवा त्रिरात्रम्। अयं विकल्पः प्रेतस्याकृतकृतचूडत्वेन व्यवस्थितः। इतरेषां सद्यःशौचमिति गृह्यकारस्यैव मतम्। स्मृत्यन्तरे तु तेषामप्याशौचस्य विहितत्वात् "आदन्तजननात्सद्यः" इत्यादिना। यच्च पुंस उपनयनात्प्राक् स्त्रियाश्च विवाहात्प्राक् वयोऽवस्थाविशेषेण सद्य एकरात्रत्रिरात्रादिकमाशौचमुक्तम्, तत्सर्ववर्णसाधारणम्। विशेषावगमस्याशक्यत्वात्। शरीरमदग्ध्वा निखनन्ति—ऊनद्विवर्षस्य प्रेतस्य शरीरं कुणपमदग्ध्वा अग्निदाहमकृत्वा निखनन्ति गर्ते प्रक्षिपन्ति। अन्तःसूतके चेदोत्थानादाशौचं सूतकवत्—चेद्यदि अन्तःसूतके सूतकस्य जननिमित्ताशौचस्य अन्तर्मध्ये औत्थानात् उत्थानं सूतकान्तं यावत् आशौचं जननाशौचान्तरमापतति तदा सूतकवत् पूर्वसूतकशेषेणैवोत्तरस्य शुद्धिः। यद्वा—अन्तर्मध्ये सूतके सूतकान्तरे जाते औत्थानात् शुद्धिः। आशौचं मरणाशौचं सूतकवत्। मरणाशौचमध्ये मरणाशौचे जाते पूर्वशेषेणोत्तरस्य शुद्धिरित्यर्थः। एतच्च सपिण्डविषयम्। मातापित्रोस्तु विशेषः। मातरि पूर्वमृतायां यद्याशौचमध्ये पिता म्रियेत तदा पितृमरणनिमित्ताशौचान्ते शुद्धिः। यदा पुनः पितरि मृते माता म्रियेत तदा पितृमरणनिमित्ताशौचान्तात्पक्षिण्यन्ते द्वादशप्रहरान्ते शुद्धिः। किंच यदि सूतके रात्रिमात्रावशिष्टे सूतकान्तरमापद्येत शावे वा रात्रिमात्रावशिष्टे शावान्तरमापद्येत तदा द्व्यहमधिकं वर्द्धते। यदि पुनर्याममात्रावशिष्टे सूतके शावे वा सूतकं शावं वा सजातीयमापतति तदा त्र्यहमधिकं वर्द्धते। तथा च स्मृतिः—"मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता। न पूर्वशेषाच्छुद्धिः स्यान्मातुः कुर्याच्च पक्षिणीम्॥ रात्रिशेषे द्व्यहाच्छुद्धिर्यामशेषे शुचिस्त्र्यहात्" इति। अन्ये तु इदं सूत्रमन्यथा व्याचक्षते। अन्तःसूतके चेद्यदि बालस्य मरणमापद्यते तदा आ उत्थानादाशौचमशुद्धिः सूत्रकवद्भवति न त्वाशौचनिवृत्तिः। बालमरणनिमित्ताशौचस्याल्पकालिकत्वेन बहुकालिकजननिमित्ताशौचशोधनासमर्थत्वात्, यतः समानजातीयस्य समानकालिकस्यैव पूर्वोत्पन्नस्य अन्तराऽऽपतितस्य वा शोधकत्वम्। नात्रोदककर्म—अत्र ऊनद्विवार्षिके प्रेते उदककर्म उदकाञ्जलिदानं न भवति। द्विवर्षप्रभृति प्रेतमाश्मशानात्सर्वेऽनुगच्छेयुर्यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्त इत्येके—द्विवर्षः द्विवर्षवयस्कः तत्प्रभृतिस्तदादिर्यः प्रेतः तम् आ श्मशानात् श्मशानावधि सर्वे सपिण्डा अनुगच्छेयुः पश्चाद्व्रजेयुः। श्मशानानुगमनविधानात् दाह उपलक्ष्यते। श्मशानशब्देन हि प्रेतदाहभूमिरुच्यते। तस्माद्दाहमपि कुर्युः, दाहसन्नियोगशिष्टमुदकं च दद्युः। एके आचार्याः यमगाथां यमदेवत्यायामृचि गीतं साम गायन्तः पठन्तः, तथा यमसूक्तं यमदेवत्यानामृचां समुदायं सूक्तशब्दवाच्यं जपन्तोऽनुगच्छेयुरित्याहुः। यद्युपेतो भूमिजोषणादिसमानमाहिताग्नेरोदकान्तस्य गमनात्—यदि उपेतः उपनीतः प्रेतः स्यात्, गृह्योक्तसंस्कारेषु तस्याधिकारात् वैतानिकस्य च मन्त्रब्राह्मणकल्पसूत्रेषु पृथक् संस्काराम्नातात् तदा भूमिजोषणादिकर्म समं तुल्यं, केन आहिताग्नेः कर्मणा, यथा आहिताग्नेः औपासनिकस्य भवति, किम्पर्यन्तम् आ उदकान्तस्य उदकसमीपस्य गमनात्, एतदुक्तं

भवति यद्युपनीतः प्रेतो भवति तदाऽस्याहिताग्नेर्भूमिजोषणादि उदकाञ्जलिदानपर्यन्तं कर्म यथा भवति तथैव कुर्यादिति। शालाग्निना दहन्त्येनमाहितश्चेत्—चेद्यद्यसौ प्रेत आहितः कृतावसथ्याधानः स्यात् तदैनं प्रेतं शालाग्निना औपासनेन दहन्ति पुत्रादयः। तूष्णीं ग्रामाग्निनेतरम्—तूष्णीं मन्त्रवर्जं ग्रामाग्निना लौकिकेन पावकेन इतरमकृतावसथ्याधानं दहन्तीत्यनुषङ्गः। संयुक्तं मैथुनं वोदकं याचरेन्नुदकं करिष्यामह इति—संयुक्तं केनचित् यौनेन सम्बन्धेन सम्बद्धम्। मैथुनः मिथुनस्यैकदेशलक्षणया मैथुनशब्दवाच्याया भार्यायाः भ्राता श्याल इत्यर्थः, तं वोदकं जलं याचेरन् प्रार्थयेरन् उदकं करिष्यामहे इत्यनेन मन्त्रेण। कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्यशतवर्षे प्रेते—एवं पृष्टः संयुक्तः श्यालो वा प्रतिब्रूयात्। किम्, कुरुध्वं मा चैवं पुनरिति। क्व अशतवर्षे प्रेते शतवर्षेभ्योऽर्वाक् मृते सति। कुरुध्वमित्येवेतरस्मिन्—इतरः शतवर्षप्रभृतिः तस्मिन्मृते कुरुध्वमित्येव एतावदेव प्रतिब्रूयात्, न मा चैवं पुनरिति। सर्वे ज्ञातयोऽपोऽभ्यवयन्त्या सप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा—ज्ञातयः सपिण्डाः समानोदकाश्च सर्वं एव अपोऽभ्यवयन्ति स्नानार्थं नद्यादेर्जलं प्रविशन्ति, किं यावत् आ सप्तमात्पुरुषात् सप्तमं पुरुषमभिव्याप्य यावन्तः सपिण्डाः, दशमाद्वा दशमं पुरुषमभिव्याप्य वा यावन्तः समानोदकाश्च तावन्त इत्यर्थः। समानग्रामवासे यावत्सम्बन्धमनुस्मरेयुः—समाने एकस्मिन् ग्रामे वासः अवस्थानं समानग्रामवासः तस्मिन् सति यावत्सम्बन्धं यदवधि सम्बन्धः सापिण्ड्यं समानोदकत्वं वा सगोत्रत्वं वा अनुस्मरेयुः अस्मिन्पुरुषे वयं सम्बन्ध्यामहे इति जानीयुः तावन्तः अपोऽभ्यवयन्ति इति सम्बन्धः। एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः सव्ययानामिकयाऽपनोद्याप नः शोशुचदघमिति दक्षिणामुखा निमज्जन्ति—कथमित्यपेक्षायामाह—एकं परिधानीयमेव वस्त्रं येषां ते एकवस्त्राः। तथा प्राचीनावीतिनः प्राचीनावीतं विद्यते येषां ते प्राचीनावीतिनः कृतापसव्या इत्यर्थः। तथाभूताः सन्तः सव्यस्य वामस्य पाणेरनामिकया उपकनिष्ठिकया जलमपनोद्य अप नः शोशुचदघमित्येतावता मन्त्रेणापसार्य दक्षिणामुखाः याम्यदिगभिमुखा निमज्जन्ति युगपत्सकृत्स्नान्ति। प्रेतायोदकं सकृत्प्रसिञ्चन्त्यञ्जलिनाऽसावेतत्त उदकमिति–प्रेताय मृताय उदकं जलं सकृदेकवारम् अञ्जलिना प्रसिञ्चन्ति शुद्धायां भूमौ प्रक्षिपन्ति। कथम् असौ अमुकप्रेत एतत्ते उदकमित्यनेन मन्त्रप्रयोगेण। उत्तीर्णाञ्छुचौ देशे शाद्वलवत्युपविष्टांस्तत्रैतानपवदेयुः—उत्तीर्णान् जलाद्बहिर्निर्गतान् शुचौ देशे मूत्रपुरीषभस्मतुषाङ्गाराद्यशुचिद्रव्यरहिते देशे भूभागे, पुनः कीदृशे शाद्वलवति शाद्वलं हरिततृणम् अस्ति यस्मिन्निति शाद्वलवान् तस्मिन् शाद्वलवति उपविष्टानासीनान् तत्र तदा अन्ये लोकयात्रिकाः सुहृदः एतान् प्रेतस्य पुत्रादीन् अपवदेयुः प्रेतगुणानुकथनेनेतिहासपुराणादिविचित्रकथाभिः संसारासारताख्यापनेन तान् शोकरहितान् कुर्युः। अनवेक्षमाणा ग्राममायान्ति रीतीभूताः कनिष्ठपूर्वाः—अनवेक्षमाणाः पश्चादनवलोकयन्तः, रीतीभूताः श्रेणीभूता पङ्क्तीभूताः, कनिष्ठपूर्वाः कनिष्ठो लघीयान् पूर्वः अग्रिमो येषां ते स्वस्वकनीष्ठानुसारिण इत्यर्थः। ग्राममायान्ति आगच्छन्ति।

निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्त्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपांस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति-निवेशनस्य प्रेतपतिकस्य गृहस्य द्वारे, पिचुमन्दस्य निम्बस्य पत्राणि छदान् विदश्य दन्तैरवखण्डय, आचम्य स्मार्त्ताचमनं विधाय उदकं जलम्, अग्निम्, द्वारिघृतम्, तथा गोमयमार्द्रम्, सर्षपान् गौरान्, तैलं तिलसम्भवम् एतानि प्रत्येकमालभ्य स्पृष्ट्वा अश्मानं प्रस्तरमाक्रम्य पादेनालभ्य प्रविशन्ति गृहम् । त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणोऽधःशायिनो न किञ्चन कर्म कुर्युर्न प्रकुर्वीरन्-त्रीण्यहोरात्राणि यावद्ब्रह्मचारिणः अकृतस्त्रीप्रसङ्गाः, अधः खट्वाव्यतिरेकेण शेरत इत्येवंशीला अधःशायिनः, किञ्चन किमपि कर्म गृहव्यापारादि लौकिकं स्वयं न कुर्युः, न प्रकुर्वीरन्, अन्यैरपि न कारयेयुः । अन्तर्भूतोऽत्र णिच् ज्ञेयः । क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैवान्नमश्नीयुरमांसं प्रेताय पिण्डं दत्वाऽवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु नामग्राहम्-क्रीत्वा मूल्येनान्नं गृहीत्वा लब्ध्वा वा अयाचितमन्यतः प्राप्य, दिवैव दिवसे एव न रात्रौ, अश्नीयुः भुञ्जीरन् । किम्भूतम् अमांसं मांसवर्जितम्, किं कृत्वा प्रेताय पिण्डम् अवयवपूरकं दत्वा, कथं नामग्राहं प्रेतस्य नाम गृहीत्वा, कुत्र अवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु अवनेजनं च दानं च प्रत्यवनेजनं च अवनेजनदानप्रत्यवनेजनानि तेषु त्रिरात्रमयं धर्मः । मृन्मये ताꣳ रात्रीं क्षीरोदके विहायसि निदध्युः प्रेतात्र स्नाहीति-मृन्मये शरावादौ पात्रे कृत्वा तां यस्मिन्दिने प्रेतोऽभूत् तत्सम्बन्धिनीं रात्रीं क्षीरं च उदकं च क्षीरोदके दुग्धपानीये पात्रैकवचनसामर्थ्यादेकीकृते विहायसि आकाशे निदध्युः स्थापयेयुः । कथं प्रेतात्र स्नाहीत्यनेन मन्त्रेण ।

विज्ञानेश्वराचार्यास्तु द्रव्यद्वयनिधानसामर्थ्यात् द्वयोः पात्रयोर्भेदेन निधानं मन्यन्ते, मन्त्रं चोहति प्रेतात्र स्नाहि पिब चेदमिति । त्रिरात्रꣳ शावमाशौचं दशरात्रमित्येके-एवं प्रेतस्य मरणदिने पुत्रादीनां कृत्यमभिधायाशौचकालनिर्णयार्थमाह - त्रिरात्रं त्रीण्यहोरात्राणि, "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इत्युपपदविभक्तिर्द्वितीया, तेन सन्ततमाशौचम् अशुचित्वम् । एके आचार्या मन्वादय उपनयनप्रभृति दशाहं दशाहोरात्राणि मन्यन्ते ।

अत्र प्रकरणे अहःशब्दो रात्रिशब्दश्च अहोरात्रोपलक्षणपरः । एके त्रिरात्रम्, एके दशरात्रं चेति व्यवस्थितं वृत्तस्वाध्यायापेक्षया । यथाऽऽह-"एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः । त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः" इति । एतदपि वृत्तिसङ्कोचे व्यवस्थापकम् । तद्यथा—यदा त्र्यहैकोऽश्वस्तनिको वा स्वाध्यायाग्निसम्पन्नो भवति तदा तस्य वृत्तिसम्पादनाय सद्यःशौचं भवति । यदा तु कुशूलकुम्भीधान्यः केवलस्वाध्यायसम्पन्नश्च तदाऽस्य त्रिरात्रम् । यदा पुनर्दशरात्रकुटुम्बवृत्तिपर्याप्तातिरिक्तधान्यो भवति वृत्तस्वाध्यायवांश्च तदाऽस्य दशरात्रम्, वृत्तस्वाध्यायरहितस्य वृत्तिहीनस्यापि सर्वदा दशरात्रमेव, अयं च वृत्तिसङ्कोचात् । वृत्तस्वाध्यायापेक्षया य आशौचकालसङ्कोचः स वृत्तिसम्पादनविषय एव, न पुनः कर्मान्तराधिकारसम्पादनपरः, तेन यस्याशौचिनो या आपद्भवति तदपाकरणार्थम् । वृत्तस्वाध्यायसम्पन्नस्य च आशौचसङ्कोचो नेतरेषाम्, जननाशौचेऽप्येवमेव । न स्वाध्यायमधीयीरन्-स्वाध्यायं वेदं नाधीयीरन् न

पठेयुः, न चाध्यापयेयुः येषां यावदाशौचम् । नित्यानि निवर्तेरन् वैतानवर्जम्—नित्यान्यावश्यकानि सन्ध्यावन्दनादीनि निवर्तेरन् अनधिकारान्न प्रवर्तन्ते । कथम्, वैतानवर्जं वितानो गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नीनां विस्तारस्तत्र साध्यम् अग्निहोत्रादि कर्म तद्वैतानम्, तद्वर्जयित्वाऽन्यन्निवर्तते इत्यर्थः । शालाग्नौ चैकेऽन्य एतानि कुर्युः—शालाग्निरावसथ्याग्निः तत्र शालाग्नौ साध्यानि सायम्प्रातर्होमस्थालीपाकादीनि तानि वर्जयित्वा नित्यानि निवर्तेरन्नित्येके आचार्याः मन्यन्ते, तस्मिन्पक्षे न स्वयं कुर्युः किन्त्वन्येन कारयेयुः । गृह्यकारपक्षे "न कुर्युर्न च कारयेयुः" यथाऽऽह कात्यायनः—"सूतके मृतके चैव स्मार्तं कर्म निवर्तते । पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ॥ वैतानिकं स्वयं कुर्यात् तत्त्यागो न प्रशस्यते" । तथा – "स्मार्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके । श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात्" इति स्मरणात् । राहुदर्शने तु "राहोरन्यत्र सूतके" इति वचनात् यावद्राहुदर्शनं तावद्राहुदर्शननिमित्तकं स्नानतर्पणदेवतार्चनजपहोमदानादि स्मार्त्तं कर्म कुर्यात् । प्रेतस्पर्शिनो ग्रामं न प्रविशेयुरानक्षत्रदर्शनात्-प्रेतस्पर्शो विद्यते येषां ते प्रेतस्पर्शिनः सपिण्डा ग्रामं न प्रविशेयुर्न गच्छेयुः, किं यावत् आ नक्षत्रदर्शनात् नक्षत्राणां दर्शनं नक्षत्रदर्शनं तस्मात् आ अवधेः । रात्रौ चेदादित्यस्य—चेद्यदि रात्रौ निशि प्रेतस्पर्शः स्यात्तदा आदित्यस्य सूर्यस्य दर्शनात्प्राक् न प्रविशेयुरित्यनुषङ्गः । प्रवेशनादि समानमितरैः—प्रवेशनमादौ यस्य निम्बपत्रादिदंशनस्य तत्प्रवेशनादि कर्म इतरैरसपिण्डैः समानं तुल्यं कार्यम् । अयमसपिण्डानां नियमः । यतोऽसपिण्डानामेव "प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि । इच्छतां तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात् ॥" इति याज्ञवल्क्योक्तेरिच्छतां विकल्पः । संयमः प्राणायामः । एवं ब्राह्मणस्याशौचमभिधायेदानीमितरवर्णानामाशौचकालनिर्णयमाह—पक्षं द्वौ वाऽऽशौचम्—पक्षं पञ्चदशाहोरात्राणि वैश्यस्याशौचं भवति, द्वौ पक्षौ त्रिंशदहोरात्राणि शूद्रस्य, वाशब्दात् द्वादशाहोरात्राणि क्षत्रियस्याशौचम् । तथा च स्मृत्यन्तरम्—"शुध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति" इति । आचार्ये चैवं मातामह्योश्च—आचार्ये उपनयनपूर्वकं वेदाध्यापके चैवमेवोदकदानादि कर्तव्यम्, मातामही च मातामहश्च मातामहौ तयोः, द्विवचनं मातामह्यपेक्षया, चकारादेवमेवोदकदानादि सर्वं कर्तव्यम् । स्त्रीणां चाप्रत्तानाम्—अप्रत्तानामपरिणीतानां स्त्रीणां कन्यानां चकारादेवमेव एवैव निखननदहनोदकदानप्रभृतीतिकर्तव्यता । आशौचेऽपि विशेषो नास्ति गृह्यकारमते । अनभिधानात् । स्मृत्यन्तरे तु पुनर्दृश्यते "अहस्त्वदत्तकन्यासु" इति । एतच्च चूडाकरणानन्तरं दानात्प्राक्, कुतः, "स्त्रीणां चूडात्तथा दानात्संस्कारादप्यधः क्रमात् । सद्यःशौचमथैकाहं त्र्यहं स्यात् पितृबन्धुषु ॥" इति स्मृतेः । तस्मादपरिणीतानां स्त्रीणां चूडाकरणात्प्राक् सद्यःशौचम्, चूडाकरणादुपरि दानात्प्राक् एकाहम्, तत उपरि विवाहात्प्राक् त्र्यहमिति निर्णयः । प्रत्तानामितरे कुर्युस्ताश्च तेषाम्—प्रत्तानां परिणीतानां स्त्रीणामितरे भर्त्रादयो दाहादि कर्म कुर्युः, न पित्रादयः । ताश्च प्रत्ताः स्त्रियः तेषां भर्त्रादीनां यथाधिकारमुदकदानादि कर्म कुर्युः । पित्रादीनामत्र विशेषः । "दत्ता नारी पितुर्गेहे

सूयते म्रियतेऽपि वा । तद्बन्धुवर्गस्त्वेकेन शुध्यते जनकस्त्रिभिः" इति वचनात् प्रत्तानामपि पितुर्बन्धूनां चाशौचापत्तिमात्रम् । प्रोषितश्चेत्प्रेयाच्छ्रवणप्रभृति कृतोदकाः कालशेषमासीरन्—प्रोषितः प्रवासं गतश्चेद्यदि प्रेयात् म्रियेत तदा तत्पुत्रादयः तन्मरणश्रवणकालमारभ्य कृतं दत्तं स्नानपूर्वकमुक्तविधिना उदकं यैस्ते कृतोदकाः सन्तः, कालशेषम् आशौचसमयशेषम् आसीरन् आशौचधर्मेण वर्तेरन्नित्यर्थः । अतीतश्चेदेकरात्रं त्रिरात्रं वा—चेद्यदि आशौचकालोऽतीतः ततः प्रोषितमरणं च श्रुतं तदा एकरात्रमाशौचं त्रिरात्रं वा । अत्र यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषोऽवगन्तव्यः । कथम् "मासत्रये त्रिरात्रं स्यात् षण्मासे पक्षिणी भवेत् । अहस्तु नवमादर्वाक् सद्यःशौचमतः परम् ॥" तथा—"पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्" इति । अथ कामोदकान्यृत्विक्श्वशुरसखिसम्बन्धिमातुलभागिनेयानां प्रत्तानाम्—अथ नियमेन कृत्यमभिधायाधुना कामतः कृत्यमाह—कामोदकानि कामेन इच्छया उदकानि उदकदानानि भवन्तीति सूत्रशेषः । केषाम् ऋत्विजः याजकाः, श्वशुरौ भार्यायाः मातापितरौ, सखायो मित्राणि, सम्बन्धिनो वैवाह्याः, मातुला मातृभ्रातरः, भागिनेया भगिनीपुत्राः एतेषां प्रत्तानाम् ऊढानां दुहितृभगिन्यादीनां स्त्रीणां चकारादिच्छयोदकदानम् अकोऽदाने प्रत्यवायो नास्ति । एकादश्यामयुग्मान् ब्राह्मणान् भोजयित्वा मांसवत्प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति—एकादश्यामेकादशेऽहनि ब्राह्मणः कर्ता चेत् अयुग्मान् त्रिप्रभृतिविषमसंख्याकान् द्विजोत्तमान् भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा एकोद्दिष्टश्राद्धविधिना मांसेन सहितं पायसौदनादि भवति । एके आचार्याः प्रेतमुद्दिश्य गामपि घ्नन्ति इति । शाखापशुविधानेन तन्मांसेन श्राद्धं कुर्वन्ति तच्छ्राद्धमग्रे वक्ष्यति "नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा" इति । पिण्डकरणे प्रथमः पितॄणां प्रेतः स्यात्पुत्रवांश्चेत्—पिण्डानां करणं पिण्डकरणं तस्मिन् अमावस्यायां साग्नेः पुत्रस्य पिण्डपितृयज्ञे तत्र पितॄणां प्रथम आद्यः प्रेतः स्यात् तत्प्रभृति पिण्डदानमित्यर्थः । चेद्यदि स प्रेतः पुत्रवान् अधिकृतेन साग्निना पुत्रेण पुत्री भवति । अयमर्थः । साग्नेः पुत्रस्य यदि पिता म्रियेत तदा पिण्डपितृयज्ञानुष्ठानानुरोधेन द्वादशेऽहनि सपिण्डीकरणं विधाय अमावास्यायां तत्प्रभृति पिण्डपितृयज्ञे पिण्डदानं पिण्डान्वाहार्यकं च तत्प्रभृति पार्वणमेव श्राद्धं भवतीति । एकोद्दिष्टं तु निरग्निविषयम् । निवर्तेत चतुर्थः—सपिण्डने कृते पित्रादिभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डादिदानं, चतुर्थः पिण्डो निवर्तेत "पिण्डास्त्रिषु" इति श्रुतेः । "त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते" इति स्मृतेश्च । संवत्सरं पृथगेके—एके आचार्याः साग्नेरपि पुत्रस्य संवत्सरं यावत् पृथगेकस्यैव पितुः पिण्डदानमिच्छन्ति । "संवत्सरे सपिण्डीकरणम्" इति वचनात् । न वा असपिण्डीकृतस्येतरैः सह दानं युज्यते, सपिण्डीकरणमिति शब्दः पूर्वजैः सह सपिण्डीकरणं मेलनमिति व्युत्पत्त्या अन्वर्थः । तेन संवत्सरं यावदसपिण्डीकृतस्य पितुः प्रेतस्य पृथग्दानमिच्छन्त्येके । एवं सति "संवत्सरे सपिण्डीकरणम्" इति स्मृतेरनुग्रहः कृतो भवति,

एवं प्राप्त उच्यते—न्यायस्तु—तुशब्देन पूर्वपक्षव्यावृत्तिः, नैतदेवम्, यत्स्मृत्यनुग्रहन्यायेनेदं परिकल्प्यते कुतः श्रुतिविरोधात् । काऽसौ श्रुतिः ? न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतिः—कथं श्रुतिविरोधः, शृणु, अधिकृतस्य पुत्रस्य साग्नेः पृथक् क्रियमाणे चतुर्णामपि पिण्ड-निर्वपणेऽधिकारो भवति अमावास्यायां पृथक् प्रेतस्य पृथक् क्रियमाणे पार्वणं च त्रयाणामिति भवति श्रुतिविरोधः । तेनाधिकृतस्य साग्नेः पुत्रस्य सपण्डीकरणा-दूर्ध्वमेकोद्दिष्टं नैव कर्तव्यं भवति, सपिण्डीकरणं तु द्वादशाह एव नियतम् । अनधि-कृतस्य निरग्नेस्तु संवत्सरादिषु सपिण्डीकरणकालेषु कृतसपिण्डनस्यापि पितुः संवत्सरा-दूर्ध्वमपि प्रतिसंवत्सरमेकोद्दिष्टमेव । अहरहरन्नमस्मै ब्राह्मणायोदकुम्भं च दद्यात्—अहरहः प्रतिदिनमस्मै प्रेतायोद्दिश्य ब्राह्मणाय सम्प्रदानभूताय अन्नं भोजनपर्याप्त-मुदकुम्भं च जलपूर्णघटं च संवत्सरं यावद्दद्यात् प्रयच्छेत् । पिण्डमप्येके निपृणन्ति—एके आचार्या अहरहः पिण्डनिर्वणमपीच्छन्ति तच्चानधिकृतनिरग्निविषयम्, अधिकृतस्य हि साग्नेः पार्वणमेव भवति, नैकः पिण्डः, न चैतत्प्रतिदिनमन्नोदककुम्भदानं संवत्सरः सपिण्डीकरणपद्ध एव "प्रागपि संवत्सरात् यदि वा वृद्धिरापद्यते" इत्यादिस्मृति-विहितकालान्तरे सपिण्डीकरणेऽपि तदूर्ध्वं संवत्सरं यावद्भवत्येव । यतः स्मरन्ति—"अर्वाक् संवत्सराद्यस्य सपिण्डीकरणं भवेत् । तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजे ॥" इति । तस्मात् साग्निना, निरग्निना च पुत्रेणाहरहरन्नोदकुम्भदानं कर्तव्यम् । पक्षे यत्पिण्डदानं तन्निरग्नेरेव, इतरस्य तु त्रिभ्यः पिण्डदानं प्रसज्येत एकपिण्डनिर्व-पणनिषेधात्, तर्हि त्रिभ्योऽपि ददातु, न, प्रेतस्य हि तत् स्मर्यते—याज्ञवल्क्यः—"मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् । प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥" इत्येतदेकोद्दिष्टं साग्नेः सपिण्डीकरणात्प्राक् ऊर्ध्वं तु पार्वणमेव । यथाऽऽह मनुः—"असपिण्डक्रिया कर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥" तथा—"सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः । अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥" इति । स्मृत्यन्तरं च—"यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक् पिण्डेन योजयेत् । विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥" इति । एतच्चौरसक्षेत्रजसाग्नि-पुत्रविषयम् । यतः स्मरन्ति—"औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ विधिना पार्वणेन तु । दद्यात्तामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥" इति । अत्राशौचप्रसङ्गात् स्मृत्यन्तरोक्त आशौचापवादो लिख्यते । "ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् । सत्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृ-ब्रह्मविदां तथा ॥ कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥" इति । एतच्च यज्ञादौ आरब्ध एव, कुतः "आरब्धे सूतकं नास्ति अनारब्धे तु सूतकम्" इति वचनात् । आरम्भश्चैवम् । "आरम्भो वरणं यज्ञे सङ्कल्पो व्रतसत्रयोः । नान्दीश्राद्धं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया" इति सूत्रार्थः ॥१०॥

अथ पद्धतिः । तत्र ऊनद्विवार्षिकं प्रेतमरण्यं नीत्वा भूमौ निखनेत् । द्विवर्ष-प्रभृति उपनयनात्प्राक् प्रेतं श्मशानं नीयमानं सर्वे सपिण्डा यथाज्येष्ठपुरःसरं पङ्क्तीभूता

अनुगच्छन्ति । पक्षे यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्तः । ततस्तत्र तं प्रेतं भूमिजोषणादिरहितं दग्ध्वा वक्ष्यमाणविधिना स्नात्वा उदकाञ्जलिं च दत्त्वा गृहमागता यथोक्तमाशौचमाचरेयुः । उपनयनादूर्ध्वं भूमिजोषणाद्युदकान्तगमनपर्यन्तं यथाऽऽहिताग्नेः कर्म तथैव यथासम्भवं भवति । अत्र चोपासनिकं पुत्रादिरधिकारी दुर्बलं ज्ञात्वा स्नापयित्वा शुद्धवस्त्रेणाच्छाद्य दक्षिणाशिरसंदर्भवत्यां भूमौ सन्निवेशयेत् । "पूर्वपक्षे तु रात्रौ चेन्मृत्युशङ्काऽग्निहोत्रिणः । हुतावशिष्टाः पक्षेऽस्मिन् जुहुयात्सकलाहुतीः" । दार्शं तत्र पिण्डपितृयज्ञं विना आकृष्य कुर्यान्न तु पौर्णमासं शुक्लपक्षे आकृष्य कुर्यात् । दिवा सायनाहुतिं च । तत्कर्मणोरप्रारब्धत्वात् । अथ तत्र वैतरणीं यथाशक्ति यथाश्रद्धं हिरण्यभूम्यादिकं सर्वपापक्षयार्थं दापयित्वा अथ गतासुं ज्ञात्वा घृतेनाभ्यज्य उदकेनाप्लाव्य सवस्त्रमुपवीतिनं चन्दनोक्षितसर्वाङ्गं पुष्पमालाविभूषितं मुखनासिकाचक्षुःश्रोत्ररन्ध्रेषु निक्षिप्तहिरण्यशकलं वस्त्रेणाच्छाद्य पुत्रादयो निर्हरेयुः । एतच्चावसथ्याग्निसन्निधौ गृहमरणपक्षे । यदा तु गङ्गादितीर्थेऽग्निसन्निधौ अर्द्धजले मरणं तदा तत्राप्येवं स्नपनादि हिरण्यशकलनिधानान्तं कर्म कुर्यात् । निर्हरणपक्षे तु आमपात्रे सन्तापाग्निमादायाग्निपुरःसरं प्रेतं यमगाथां गायन्तो यमसूक्तं च जपन्तः पुत्रादयः श्मशानं नयन्ति, तत्राधिकारी पुत्रादिराप्लुत्य भूमिजोषणपूर्वकं दक्षिणोत्तरायतं दारुचयं विधाय चितौ कृष्णाजिनं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोममास्तीर्य तत्रोत्तानं दक्षिणशिरसमेनं निपात्य दक्षिणनासारन्ध्रे आज्यपूर्णं स्रुवं निधाय पादयोरधरारणिमुरस्युत्तरारणिं च प्रागग्रां पार्श्वयोः सव्यदक्षिणयोः शूर्पचमसौ मुसलमुलूखलं च न्युब्जमूर्वोरन्तराले तत्रैव चात्रमोविलीं च अरुदन् भयरहितो निदध्यात्, अपसव्येन वाग्यतो दक्षिणामुखः सन् अथोपविश्य सव्यं जान्वाच्यौपासनाग्निं गृहीत्वा "अस्मात्त्वमधिजातोऽसि" इत्यनयर्चा स्वाहान्तया दक्षिणतो मुखे वा शनैरग्निं दद्यात् । अनावसथिकं तु एवमेव ग्रामाग्निना सपिण्डाद्यास्तेनामन्त्रकं दहति । ततो दाहान्ते नद्याद्युदकसमीपं गत्वा समीपस्थितं योनिसम्बद्धं श्यालकं वा "उदकं करिष्यामहे" इत्यनेन मन्त्रेणोदकं याचेरन् सपिण्डादयः । एवं याचिते यदि शतवर्षादर्वाक् प्रेतो भवेत्तदा कुरुध्वं मा चैवं पुनरित्येवं प्रतिवचनं दद्यात्, अथ शतवर्षादूर्ध्वं प्रेतो भवेत्तदा कुरुध्वमित्येतावदेव, ततः सप्तपुरुषसम्बन्धिनः सपिण्डाः, दशपुरुषसम्बन्धाः समानोदकाश्चैकग्रामनिवासे यावत्स्मृतं जलं प्रविशन्ति एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः सन्तः, ततः सव्यहस्तस्यानामिकाङ्गुल्या उदकमपनोद्य अप नः शोशुचदघमित्येतावता मन्त्रेण दक्षिणामुखास्तूष्णीं निमज्जन्ति । ततः प्रेतमुद्दिश्यामुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेत एतत्त उदकमित्युच्चार्य एकैकमञ्जलिं सकृद्भूमौ प्रक्षिपन्ति । तत उदकादुत्तीर्य शुचौ देशे शाद्वलवत्युपविष्टान् सपिण्डादीनन्ये सुहृद इतिहासपुराणादिविदग्धकथाभिः संसारानित्यतां दर्शयन्तोऽपवदेयुः । तथाहि—"कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाद्वलसंस्थितान् । स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥ मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारे सारमार्गणम् । करोति यः स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे ॥ पञ्चधा सम्भृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः । कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥ गन्त्री वसुमती

नाशमुदधिर्दैवतानि च। फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥ श्लेष्माश्रुवान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः। अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः। इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं वालपुरःसराः। विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः॥ मा शोकं कुरुतानित्ये सर्वस्मिन्प्राणधारिणि। धर्मं कुरुत यत्नेन यो वः सङ्गतिमेष्यति ॥' तथा च विष्णुः—यदुदगयनं तदहर्देवानाम्, दक्षिणायनं रात्रिः, संवत्सरोऽह्यहोरात्रं, तत्त्रिंशता मासो, द्वादश वर्षं, द्वादश वर्षशतानि दिव्यानि कलियुगम्, द्विगुणानि द्वापरम्, त्रिगुणानि त्रेतायुगम्, चतुर्गुणानि कृतयुगम्, एवं द्वादशसहस्राणि दिव्यानि चतुर्युगम्, तत्सहस्रं तु कल्पः, स च पितामहस्याहस्तावती चास्य रात्रिः। एवंविधेनाहोरात्रेण मासवर्षगणनया सर्वश्रेष्ठस्यैव ब्रह्मणो वर्षशतमायुः, एवं ब्रह्मायुषा च परिच्छिन्नः पौरुषो दिवसस्तस्यान्ते महाकल्पः, तावत्येव चास्य निशा, पौरुषाणामहोरात्राणामतीतानां सङ्ख्यैव नास्ति, न च भविष्यमाणानाम्, अनाद्यन्तत्वात्कालस्य। "एवमस्मिन्निरालम्बे काले सन्ततयायिनि। न तद्रूपं प्रपश्यामि स्थितिर्यस्य भवेद् ध्रुवा॥ गङ्गायाः सिकता धारास्तथा वर्षति वासवे। शक्या गणयितुं लोके न व्यतीताः पितामहाः॥ चतुर्दश विनश्यन्ति कल्पे कल्पे सुरेश्वराः। सर्वलोकप्रधानाश्च मनवश्च चतुर्दश॥ बहूनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्रनियुतानि च। विनष्टानीह कालेन मनुष्याणां तु का कथा॥ राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः। देवर्षयश्च कालेन सर्वे ते निधनं गताः॥ ये समर्था जगत्त्राणे सृष्टिसंहारकारिणः। तेऽपि कालेन नीयन्ते कालो हि बलवत्तरः॥ आक्रम्य सर्वः कालेन परलोकाय नीयते। कर्मपथ्योदनो जन्तुस्तत्र का परिदेवना॥ जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। अर्थे दुष्परिहार्येऽस्मिन् नास्ति शोकसहायता॥ शोचन्तो नोपकुर्वन्ति मृतस्येह जना यतः। अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः॥ सुकृतं दुष्कृतं चोभे सहायौ यस्य गच्छतः। बान्धवैस्तस्य किं कार्यं शोचद्भिरथवा तथा॥ बान्धवैर्नाम शोचद्भिः स्थितिं प्रेतो न विन्दति। अस्वस्थपतितानेष पिण्डतोयप्रदानतः॥ अर्वाक् सपिण्डीकरणात्प्रेतो भवति वै मृतः। प्रेतलोकं गतस्यान्नं सोदकुम्भं प्रयच्छति॥ देवतायतनस्थाने तिर्यग्योनौ तथैव च। मनुष्येषु तथा प्रैति श्राद्धं दत्तं स्वबान्धवैः॥ प्रेतस्य श्राद्धकर्तुश्च पृथक् श्राद्धे कृते शुभम्। तस्माच्छ्राद्धं सदा कार्यं शोकं त्यक्त्वा निरर्थकम्॥ एतावदेव कर्तव्यं सदा प्रेतस्य बन्धुभिः। नोपकुर्यान्नरः शोचन् प्रेतस्यात्मन एव च॥ दृष्ट्वा लोकमनानन्दं म्रियमाणांश्च बान्धवान्। धर्ममेकं सहायार्थे चरयध्वं सदा नराः॥ मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं मृतं नरम्। जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विभिद्यते॥ धर्म एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचन गामिनम्। ततोऽसारे त्रिलोकेऽस्मिन्धर्मं कुरुत मा चिरम्॥ श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे वाऽपराह्णिकम्। न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वाऽकृतम्॥ क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्रगतमानसम्। वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥ न कालस्य प्रियः कश्चिदप्रियो वाऽपि विद्यते। आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम्॥ नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि। कुशाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः। त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया वाऽपि मानवम्। यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुविन्दति ॥ आगामिनमनर्थं हि प्रतिष्ठानशतैरपि। न निवारयितुं शक्तस्तत्र का परिदेवना॥" भारते-"यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ। समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः॥" रामायणे च-"शोचमानास्तु सस्नेहा बान्धवाः सुहृदस्तथा। पातयन्ति जनं स्वर्गाद-श्रुपातेन राघव॥ श्रूयते हि नरव्याघ्र पुरा परमधार्मिकः। भूरिद्युम्नो गतः स्वर्गं राजा पुण्येन कर्मणा॥ स पुनर्बन्धुवर्गस्य शोकव्याजन राघव। कृत्स्ने च क्षयिते धर्मे पुनः स्वर्गान्निपातितः॥ अतः शोकाग्निना दग्धः पिता ते स्वर्गतः प्रभो। शपेत्त्वां मन्युनाऽऽविष्टस्तस्मादुत्तिष्ठ मा शुचः॥" ततः पश्चादनवलोकयन्तः कनिष्ठानग्रतः कृत्वा पंक्तीभूता ग्राममायान्ति, आगम्य च गृहद्वारे स्थित्वा निम्बपत्राणि दन्तैरवखण्डचा-चम्योदकमग्निं, गोमयं, गौरसर्षपांस्तैलं चेति क्रमेणालभ्य पादेनाश्मानमाक्रम्य गृहं प्रविशन्ति। ततः प्रभृति त्रिरात्रं यावत् ज्ञातीनां यमनियमा उच्यन्ते। ब्रह्मचर्यमधःशयनं लौकिककर्माकरणमन्येषां कुर्वित्यप्रेरणं क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैव भोजनं मांसवर्जम्, एते च नियमा ज्ञातीनां पुत्रादीनां यावदाशौचम्। अथ यस्तेषां मध्ये प्रेतक्रियाधिकारी पुत्रादिः स दशरात्रं यावत्प्रत्यहमेकैकमवयवपूरकं पिण्डं प्रेताय दद्यात्। आशौचदिनहानौ वृद्धौ वा दशैव पिण्डान् दिनानि विभज्य दद्यात्। कथममुकसगोत्रामुकशर्मन् प्रेत अवनेनिक्ष्व, ततो दर्भानास्तीर्य अमुकसगोत्रामुक-शर्मन् प्रेत एष ते शिरःपूरकः पिण्डो मया दीयत इति पिण्डं दत्त्वा पूर्ववत्पुनरवनेजनं दत्त्वा ततोऽनुलेपनं, ततो पुष्पधूपदीपशीतलतोयोर्णातन्तुदानं पिण्डे स्मृत्यन्तरोक्तमपि कुर्यात्। अथ यस्मिन्नहोरात्रे स मृतो भवति तस्यां रात्रौ मृन्मये पात्रे क्षीरोदके कृत्वा यष्ट्यादिकमवलम्ब्याकाशे धारयेत् "प्रेतात्र स्नाहि पिब चेदम्" इति मन्त्रेण। ततो द्वितीयादिषु प्रत्यहमनेनैव विधिना एकैकं पिण्डमवयवपूरकं दद्याद् ब्राह्मणः। क्षत्त्रियश्चेन्नवमेऽहनि नवमं पिण्डं दत्त्वाद्वादशेऽहनि दशमं पिण्डं दद्यात्। वैश्यश्चेत्पञ्चदशेऽहनि, शूद्रश्चेत्त्रिंशत्तमे इति विशेषः। तथैव एकैकमञ्जलिमेकैकं जलपात्रम्। वृद्धिपक्षे त्वञ्जलीनां पात्राणां च दिनसंख्याया एकैकं वर्द्धयेत्। तत्र वाक्यम्। अमुकसगोत्रा-मुकशर्मन् प्रेतैष ते तिलतोयाञ्जलिर्मया दत्तस्तवोपतिष्ठताम्। अमुकसगोत्र प्रेत एतत्ते तिलतोयपात्रं मया दत्तं तवोपतिष्ठताम्। सद्यःशौचपक्षे त्वेकस्मिन्दिन एव क्रमेण दशा-वयवपूरकान् पिण्डान् तथा पञ्चपञ्चाशत्तोयाञ्जलीन् पञ्चपञ्चाशत्तोयपत्राणि च दद्यात्। त्र्यहाशौचपक्षे तु प्रथमदिने-त्रीन् पिण्डान्, षडञ्जलीन्, षट् पात्राणि च दद्यात्। द्वितीयदिने-चतुरः पिण्डान्, द्वाविंशत्यञ्जलीन्, द्वाविंशतिपात्राणि। तृतीयदिने-पुनस्त्रीन् पिण्डान्, सप्तविंशत्यञ्जलीन्, सप्तविंशतिपात्राणि च दद्यात्। यतः स्मरन्ति-"प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः। द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसञ्चयनं तथा॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्ततः" इति। केचित्तु प्रथमेऽह्नि एकं पिण्डम्, एक-

मञ्जलिम्, एकं पात्रम् द्वितीयदिने—चतुरः पिण्डान् चतुर्दशाञ्जलीन्, चतुर्दशपात्राणि। तृतीयदिने—पञ्च पिण्डान्, चत्वारिंशदञ्जलीन्, चत्वारिंशत्पात्राणीति मन्यन्ते। एतत्प्रेतकृत्यकरणानन्तरं न पुनः स्नायात्, स्मरणाभावात्। पिण्डैरवयवपूरणम्। तथा-शिरः प्रथमेन, कर्णाक्षिनासिका द्वितीयेन, गलांसभुजवक्षांसि तृतीयेन, नाभिलिङ्गगुदानि चतुर्थेन, जानुजङ्घापादाः पञ्चमेन, सर्वमर्माणि षष्ठेन, नाडिकाः सप्तमेन, लोमान्यष्टमेन, वीर्यं नवमेन, शरीरपूर्णत्वं दशमेनेति। एतत् प्रेतनिर्हरणादिकं यतिव्यतिरिक्तानां त्रयाणामाश्रमिणां कुर्यात्। यतेस्तु न किंचित्। तथाच स्मृतिः—"त्रयाणामाश्रमाणां च कुर्याद्दाहादिकाः क्रियाः। यतेः किञ्चिन कर्तव्यं न चान्येषां करोति सः" इति। तथा—"एकोद्दिष्टं जलं पिण्डमाशौचं प्रेतसत्क्रियाम्॥ न कुर्यात्पार्वणादन्यद् ब्रह्मीभूताय भिक्षवे। अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते" इति। ब्रह्मचारी तु आचार्योपाध्यायपितृव्यतिरिक्तानां प्रेतानां निर्हरणादिकं न कुर्यात्।

यथाऽऽह मनुः—"आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्। समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्" इति। तथा—"आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती। शकटान्नं न चाश्नीयान्न च तैः सह संविशेत्" इति। यदि मोहात्करोति तदा ब्रह्मचर्यव्रताच्च्यवते पुनरुपनयनेन शुध्यति। तथाऽस्थिसञ्चयनं ब्राह्मणस्य चतुर्थेऽहनि, क्षत्रियस्य पञ्चमे, वैश्यस्य षष्ठे, शूद्रस्यैकादशेऽहनि कुर्यात्। त्र्यहाशौचे द्वितीयेऽहनि सर्वेषाम्, सद्यशौचे पुनर्दाहानन्तरमेव। तत्रास्थिसञ्चयननिमित्तमेकोद्दिष्टश्राद्धं विधाय पुष्पधूपदीपनैवेद्यानि सम्भृत्य "ॐ क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यो नमः" इति मन्त्रेणार्घादिना पूजां कुर्यात्, श्मशाने ततो "नमः क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यः" इति बलिदानम्। तत्र मन्त्रः। "देवा येऽस्मिन् श्मशाने स्युर्भगवन्तः सनातनाः। तेऽस्मत्सकाशाद्गृह्णन्तु बलिमष्टाङ्गमक्षयम्॥ प्रेतस्यास्य शुभाँल्लोकान्प्रयच्छन्त्वपि शाश्वतान्। अस्माकं चायुरारोग्यं सुखं च ददताक्षयम्" इति॥ एवं बलिं दत्त्वा विसर्जयेत्। ततोऽपसव्यं कृत्वा पलाशवृन्तेनास्थीनि परिवृत्याङ्गुष्ठाकनिष्ठाभ्यामादाय पलाशपुटे धारयति। तत्र शमीशैवालं कर्दमं च धारयति। ततो घृतेनाक्तसर्वौषधीमिश्राण्यस्थीनि दक्षिणपूर्वायतान् यवाकारान् कर्पून् खात्वा तत्र कुशानास्तीर्य हरिद्रया पीतवस्त्रखण्डमावृत्य तत्र वक्ष्यमाणमन्त्रेण निक्षिपेत्, "ॐ वाचा मनसा आर्तेन ब्रह्मणा त्रय्या विद्यया पृथिव्या मक्षिकायामपाᳬ रसेन निवपाम्यसौ" इति मन्त्रेण, असौस्थाने प्रेतनामादेशः। ततः कुम्भे तूष्णीं निधाय तं कुम्भमरण्ये वृक्षमूले वा भूमौ खात्वा धारयेत्। चितास्थितं भस्म तोये सर्वमेव प्रक्षिपेत्, चिताभूमिं च गोमयेन विलिप्य तत्र तेनैव पूर्वोक्तबलिमन्त्रेण बलिं दद्यात्। तं च बलिं क्षीरेणाभ्यज्य देवता विसर्जयेत्। चिताभूमिच्छादनार्थं तत्र वृक्षं पट्टकं वा कारयेत्। सभाविश्रामार्थं काष्ठपाषाणविन्यासविशेषः। पट्टकः "पट्टहर" इति कान्यकुब्जे प्रसिद्धः, लोकाचारादेव कुड्यं वा। ततः कदाचिदस्थिकुम्भमुत्थाप्यादाय तीर्थं गच्छेत्। "अस्थीनि मातापितृवंशजानां नयन्ति गङ्गामपि ये कदाचित्। सद्बान्धवोऽत्रापि दयाभिभूतास्तेषां च तीर्थानि फलप्रदानि॥" ततश्च गङ्गां गत्वा स्नात्वा पञ्चगव्येना-

स्थीनि सिक्त्वा हिरण्यमध्वाज्यतिलैश्च संयोज्य ततो मृत्पिण्डपुटे निधाय दक्षिणां दिशं पश्यन् नमोऽस्तु धर्मायेति वदन् जलं प्रविश्य स मे प्रीतोऽस्तु इत्यभिधाय गङ्गाम्भसि प्राक्षिप्य जलादुत्तीर्य सूर्यमवेक्ष्य विप्रमुख्याय यथाशक्ति दक्षिणां दद्यात् । एवं कृते प्रेतक्रियाकर्त्रोः स्वर्गः स्यात् । तथा चोक्तम्—"विगाह्य गङ्गां समियाय तोयमिहास्थिराशिं सकलैश्च गव्यैः । हिरण्यमध्वाज्यतिलैस्तु युक्तं ततस्तु मृत्पिण्डपुटे निधाय ॥ यस्यां दिशि प्रेतगणोपगूढो विलोकयंस्तां सलिले क्षिपेत्तम् । उत्तीर्य दृष्ट्वा रविमात्मशक्त्या सुदक्षिणां मुख्यद्विजाय दद्यात् ॥ एवं कृते प्रेतपुरःस्थितस्य स्वर्गे गतिः स्याच्च महेन्द्रतुल्या ॥ क्षीणेषु पुण्येष्वपतन्दिविष्ठा नैवं व्युदस्य च्यवनं द्युलोकात् ॥ यावदस्थि मनुष्याणां गङ्गातोयेषु तिष्ठति । तावद्वर्षसहस्राणि ब्रह्मलोके महीयते ॥" तथा यमः—"गङ्गातोयेषु यस्यास्थि प्लवते शुभकर्मणः । न तस्य पुनरावृत्तिर्ब्रह्मलोकात्कदाचन ॥ गङ्गातोयेषु यस्यास्थि नीत्वा संक्षिप्यते नरैः । युगानां तु सहस्राणि तस्य स्वर्गगतिर्भवेत् ॥ मातुः कुलं पितृकुलं वर्जयित्वा नराधमः । अस्थीन्यन्यकुलोत्थस्य नीत्वा चान्द्रायणाच्छुचिः ॥" एतच्च द्रव्यादिलोभेन नयतो न श्रेयोऽर्थिनः । अथ साग्नेः पत्नी यदि जीवद्भर्तृका म्रियेत तदा केचिद्देशाचारात्क्षौरं नाहुः । अन्यो विधिः सर्वोऽप्युक्तो भवति भर्तरि मृते यदि म्रियते तदा अरण्यन्तरं सम्पाद्य ततो निर्मन्थ्येनाग्निना पात्रैर्विना तां दहेत् । तदलाभे लौकिकाग्निना । एवं पश्चान्मृतस्य पुंसो भवति । अन्वारोहणे तु पृथगाहुतिस्तन्मुखे इति विशेषः । पात्रासादनं तु यजमानदेह एव, अथ यदि साग्नेः शवस्य दाहे क्रियमाणे वृष्ट्याद्युपघातेनाग्निनाशेऽर्द्धदग्धदेहशेषं वृष्टौ शान्तायामर्धदग्धारणी निर्मथ्य तदलाभेऽर्द्धदग्धकाष्ठं निर्मथ्य तदलाभे अश्वत्थादिपवित्रकाष्ठमथनोत्थेनाग्निना पुनर्दहेत् । अथ प्रोषिते तु मृतेऽग्निहोत्रिणि तदस्थीन्यानीयोक्तविधिना त्रेतया पुनर्दहेत् । अस्थ्नामप्यलाभे षष्ट्यधिकत्रिशतमितपलाशवृन्तान्युच्चित्य कृष्णसारचर्मणि पुरुषाकारेण प्रसारिते तदुपरि पुरुषाकारं प्रसार्य तत्र पलाशवृन्तानां चत्वारिंशता शिरः, दशभिर्ग्रीवा, त्रिंशता उरः, विंशत्योदरम्, शतेन भुजद्वयम्, दशभिर्हस्ताङ्गुलीः, षड्भिर्वृषणौ, चतुर्भिः शिश्नम्, शतेनोरुद्वयम्, त्रिंशता जानुनी जङ्घे च, दशभिः पादाङ्गुलीः परिकल्प्योर्णासूत्रेण सम्यग्बद्ध्वा तेनैव मृगचर्मणा संवेष्ट्य ऊर्णासूत्रेणैव बद्ध्वा यवपिष्टजलेन सम्प्रलिप्य मन्त्रपूर्वकं पूर्ववत्पात्रैर्दहेत् । एवं पर्णशरे दग्धे त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । द्वितीयेऽह्नि तु तदस्थ्नां वृन्तरूपाणां दग्धानां सञ्चयनम् । एवं मृतबुद्ध्या पर्णशरे दग्धे तस्य दैवात्पुनरागमने पुनराधानं कृत्वा आयुष्यार्थामिष्टिं कुर्यात् । पर्णशरदाहानन्तरं तु तदस्थ्नां लाभेऽर्द्धदग्धकाष्ठानामलाभे त्वस्थ्नां महाजले प्रक्षेपः । बुद्धिपूर्वमात्मघातिनां तु व्यासोक्तनारायणबल्यनन्तरं संस्कारः । एवं साग्नेर्दहनदिनान्निरग्नेर्मरणदिनादगणना । अथैषां प्रेतदेहानां रजस्वलादिस्पर्शे मृन्मये कुम्भे पूर्णजले पञ्चगव्यं प्रक्षिप्य कृतस्नानं शवं तेनोदकेनाभिषिञ्चते । आपो हि ष्ठेत्यादिभिरब्लिङ्गैर्मन्त्रैर्वामदेव्यादिभिर्ऋग्भिस्तिसृभिरभिषिञ्चेत् । एवं सूतिकां रजस्वलां चापि एकादशे चतुर्थे वाऽहनि प्रायश्चित्तं कृत्वा पञ्चगव्येन प्रक्षाल्य वाससा संवेष्ट्य उक्तविधिना दहेदिति ॥ १० ॥

सरला

१. अब 'उदक कर्म' (अञ्जलि-दान) (का विधान कर रहे हैं) ।

२. दो वर्ष से कम आयुवाले की मृत्यु होने पर माता-पिता को अशुद्धि बनी ही रहती है ।

३. अन्य लोगों की (तत्क्षण स्नान मात्र करने से) शुद्धि हो जाती है ।

४. माता-पिता की एक या तीन दिन तक अशुद्धि रहती है—(जिस मृतक का चूडाकरण नहीं हुआ, उसके सन्दर्भ में एक दिन का और जिसका चूडाकरण हो गया है, उसके मरने पर तीन दिन तक आशौच रहता है) ।

५. (दो वर्ष से कम आयु के मृतक का) अग्नि-संस्कार नहीं किया जाता, उसे भूमि-दान ही करते हैं ।

६. प्रसवजन्य अशुद्धि के मध्य में ही यदि अन्य अशुद्धि सूतक उठने तक आ पड़े तो पूर्वसूतक शेष से ही बाद वाले की भी शुद्धि हो जाती है (उसके लिए पृथक् से शुद्धिविधान नहीं है) ।

(माता-पिता के विषय में कुछ भिन्नता है—माता के पहले मर जाने पर यदि अशुद्धि के मध्य में ही पिता की मृत्यु हो जाये तो पितृ-मरण के निमित्त हुई अशुद्धि के समाप्त होने पर ही शुद्धि होती है । यदि पिता पहले मर जाये, बाद में माता मरे तो पिता की मृत्युजन्य अशुद्धि समाप्त होने के १२ प्रहर बाद शुद्धि हो जाती है । इस विषय में, स्मृतियों में विपुल विचार हुआ है, उसे वहीं देखना चाहिए) ।

७. (मृतक की आयु दो वर्ष से कम होने पर) जलाञ्जलि नहीं दी जाती ।

८. दो वर्ष की आयुवाले की मृत्यु हो जाने पर उसे श्मशान–भूमि को ले जाया जाये–सभी सपिण्ड और सम्बन्धी जन भी श्मशान तक उसके पीछे-पीछे जायें ।

(हरिहर—श्मशान-भूमि का अभिप्राय है दाह-भूमि—अतः मृतक का दाह-संस्कार होगा)।

९. कुछ (आचार्यों का मत है कि) यमगाथा को गाते हुए और यमसूक्त का जप करते हुए श्मशान जाना चाहिए ।

१०. यदि मृतक का उपनयन संस्कार हो चुका हो, तो उसके भूमिजोषण (भूमि-संस्कार) से उदकाञ्जलि-दान पर्यन्त कर्म वैसे ही करने चाहिए, जैसे आहिताग्नि व्यक्ति के होते हैं ।

११. यदि मृतक गृह्याग्नि की स्थापना कर चुका हो तो उसे शाला की अग्नि से दग्ध करना चाहिए ।

१२. अन्य मृतकों को यों ही, बिना मंत्र के, लौकिक अग्नि दे देनी चाहिए ।

१३. कोई यौनतः सम्बद्ध व्यक्ति अर्थात् पत्नी का भाई (साला) हो तो उससे 'उदकं करिष्यामहे' मंत्र पढ़कर बन्धुजन जल-दान की आज्ञा माँगें ।

१४. इस प्रकार से आज्ञा माँगने पर, यदि मृतक की आयु १०० वर्ष से कम हो तो, वह उत्तर दे—'कुरुध्वं मा चैवं पुनः'—(यह कर्म आपको पुनः न करना पड़े)।

१५. यदि मृतक १०० वर्ष की आयु भोगकर मरा हो, तो प्रत्युत्तर में कहा जाये—'कुरुध्वम्'—(करो)।

१६. (उपर्युक्त दाह-संस्कार के अनन्तर नदी या जलाशय के समीप जाकर स्नान किया जाये।) सातवें या १०वें पुरुष तक सभी सम्बन्धी (स्नान करने के लिए) जल में प्रवेश करें।

१७. एक ही गाँव में निवास करने के कारण जिनका सम्बन्ध है, सगोत्रीयता है—यदि उन्हें अपने सम्बन्ध का स्मरण हो, तो वे भी स्नानार्थ जल में उतरें।

१८. (ये सभी लोग) एक ही वस्त्र पहने हों, जनेऊ को दाहिने कंधे से लटकाये हों—(सामान्य स्थिति में जनेऊ बायें कंधे से लटकता है, उसके विपरीत)।

१९–२०. बायें हाथ की अनामिका उँगली से पानी को 'अपनः शोशुचदघम्...' मंत्र पढ़कर खँगार कर दक्षिणाभिमुख स्नान करें।

२१. 'असौ अमुकप्रेत एतत्ते उदकम्' मंत्र पढ़कर (स्नानानन्तर) मृतक को एक बार अञ्जलि से जल-दान (–हरिहर—शुद्ध भूमि में जलप्रक्षेप) करें।

२२. जल से निकलकर पवित्र और हरित तृणयुक्त भूमि पर बैठे हुए मृतक के सम्बन्धियों को अन्य लोग मृतक के गुणों का उल्लेख करते हुए संसार की असारता का वर्णन कर शोकरहित करें!

२३. (तदनन्तर) पीछे न देखते हुए पंक्तिबद्ध होकर और छोटों को आगे करके सभी लोग गाँव को आयें।

२४. गृह-द्वार पर नीम की पत्तियों को दाँत से कुचलकर, आचमन करके, जल-अग्नि-घृत-गोबर-सरसों और तिल के तेल का स्पर्श कर पत्थर को लंघकर घर में प्रवेश करें।

२५. तीन दिन तक भूमि पर शयन करें, मैथुन न करें, न तो स्वयं किसी लौकिक कर्म को करें और नाही अन्य व्यक्ति से करायें।

२६. खरीदकर या यों ही बिना माँगे कहीं से अन्न पाकर दिन में ही खा लें; मांस न खायें।

२७. मृतक का नाम स्मरण कर उसे पिण्डदान कर, पिण्डदान की वेदी बिछाये हुए कुशों पर जल छिड़के। (जितनी बार पिण्ड-दान और जल छिड़कने का कार्य होगा उतनी बार नाम लिया जाये। यह कार्य तीन दिन तक होगा। पिण्डदान प्रेतक्रियाधिकारी पुत्रादि करे। हरिहर का कथन है कि वह १० दिन तक प्रतिदिन एक-एक पिण्ड देता जाये; साथ में कहे—'अमुकगोत्र अमुक शर्मन्! प्रेत अवनेनिक्ष्व'—

फिर कुछ बिछाकर 'अमुक गोत्रामुक शर्मन् प्रेत एष ते शिरः पूरकः पिण्डो मया दीयते' कहकर पिण्ड दे। पहले की ही भाँति जल छिड़के)।

२८. जिस दिन मृतक की मृत्यु हुई हो, उस दिन मिट्टी के किसी पात्र में दूध-पानी एक साथ रखकर 'प्रेतात्र स्नानाहि' मंत्र पढ़कर आकाश में (लकड़ी आदि पर) टांग दें।

२९. मरणाशौच तीन दिन तक रहता है।

३०. कुछ (आचार्यों का मत है कि) इस अशुद्धि-काल की अवधि १०दिन है।

३१. जब तक शुद्धि न हो जाये, तब तक न तो वेद पढ़ना चाहिए और ना ही पढ़ाना चाहिए।

३२. (अग्निहोत्रादि) गार्हपत्याग्निसाध्य कर्म छोड़कर नित्य कर्म (सन्ध्या-वन्दनादि) करते रहना चाहिए।

३३–३४. कुछ (आचार्यों का मत है कि) शालाग्निसाध्य (अग्निहोत्रादि कर्म) स्वयं तो न करे किन्तु दूसरे से करा ले।

(हरिहर—पारस्कर को यह इष्ट नहीं है। अन्य आचार्यों में कात्यायन का दृष्टिकोण यही है कि वैतानिक कर्म स्वयं ही करना चाहिए, उसका त्याग अच्छा नहीं है—'वैतानिकं स्वयं कुर्यात्तत्त्यागो न विधीयते')।

३५. मृतक का स्पर्श करनेवाले अर्थात् उसके सम्बन्धी जन जब तक नक्षत्र न दिख जायें, तब तक गाँव में प्रवेश न करें।

३६. मृतक का यदि रात्रि में स्पर्श किया गया हो तो सूर्य-दर्शन से पहले प्रवेश न करें।

३७. प्रारम्भ में बताये गये प्रवेश के नियम सम्बन्धियों के साथ ही अन्य लोगों के लिए भी वैसे हो मान्य हैं।

३८. वैश्य का आशौच-काल १५ दिन तक, शूद्र का ३० दिन तक और क्षत्रिय का १२ दिन तक रहता है।

३९. उपनयनपूर्वक वेदाध्यापन करने वाले आचार्य की मृत्यु होने पर इसी प्रकार से जलाञ्जलि–दान प्रभृति कृत्य करने चाहिए।

४०. मातामही और मातामह के मरने पर भी ये कृत्य करने चाहिए।

४१. जिन कन्याओं का विवाह न हुआ हो, उनके मरने पर भी निखनन, दहन, उदक-दान आदि करना चाहिए।

(स्मृति-वचनों के अनुसार उन अपरिणीत बालिकाओं के सन्दर्भ में, जिनका चूडाकरण न हुआ हो, तत्क्षण शुद्धि हो जाती है; जिनका चूडाकरण हो गया है, किंतु दान नहीं, उनका एक दिन का अशुद्धि-काल और विवाह से पहलेवाली कन्याओं के सन्दर्भ में तीन दिन का आशौच-काल मान्य है)।

४२. विवाहित स्त्रियों का दाह-संस्कार उनके पति करें।

४३. विवाहित स्त्रियां इन (पतियों) का करें।

४४. यदि विवाहित स्त्री के पति प्रवास पर गये हों, तो उसके पुत्र उपर्युक्त उदकदानादि कर्म करते हुए आशौच-काल बितायें।

४५. यदि आशौच-काल बीत चुका हो और तब प्रोषित-मरण का ज्ञान हो तो एक दिन या तीन दिन तक अशुद्धि रहती है।

(यह सामान्य नियम है। स्मृतियों से इस सन्दर्भ में कुछ विशेष बातों का पता चलता है, जैसे तीन मास हो चुके हों, तो तीन दिन तक आशौच और छह मास हो चुके हों तो १५ दिन तक। एक अन्य वचन के अनुसार यदि दूरस्थ पुत्र माता-पिता की मृत्यु सुने तो उस दिन से लेकर १० दिन तक सूतक मनाया जाये)।

४६-४७. (ये तो नियमित कृत्य हो गये, अब स्वैच्छिक कर्मों का विधान कर रहे हैं)—ऋत्विकों, सास-ससुर, मित्रों, सम्बन्धियों, मामा-भांजों और विवाहित बहन-बेटियों को जलाञ्जलि देना दाता की इच्छा पर निर्भर है। (इन्हें जलाञ्जलि न देने से कोई पाप नहीं लगता)।

४८. ११वें दिन विषम संख्यक ब्राह्मणों को मांसयुक्त पायस-ओदन का भोजन कराना चाहिए।

४९. कुछ (आचार्यों) ने मृतक के उद्देश्य से गो-आलभन (का विधान भी) किया है। (किन्तु पारस्कर इसको उचित नहीं मानते)।

५०. साग्नि पुत्र के पिता की यदि मृत्यु हुई हो तो (पिण्डपितृयज्ञानुष्ठान की दृष्टि से १२ वें दिन अमावास्या को सपिण्डीकरण करके, तब से हर अमावास्या को पिण्डदान किया जाये)। पितरों में प्रथम मृतक (का उल्लेख करना चाहिए)।

५१. (सपिण्डीकरण के अनन्तर पिता आदि तीन जन ही पिण्डदान करें, इसलिए) चतुर्थ पिण्ड की निवृत्ति हो जाती है।

५२. कुछ (आचार्यों का मत है कि) साल भर (उसे) अलग से ही पिण्ड-दान देना चाहिए (क्योंकि जिसका सपिण्डीकरण नहीं हुआ है, उसे अन्य लोगों के साथ पिण्ड-दान देना अयुक्त है। यह पिण्डदान केवल पिता को ही देना चाहिए क्योंकि सपिण्डीकरण सालभर में ही होता है। पिता तबतक असपिण्डीकृत ही रहता है, सपिण्डों (पूर्वजों) के साथ मिल नहीं पाता, अतः उसे पृथक्रूप से पिण्डदान देना ही उचित है)।

५३. सालभर तक पिता को अन्य लोगों से पृथक् पिण्ड-दान करना ठीक नहीं। 'तु' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए है। पृथक् पिण्ड-दान करना श्रुति-विरुद्ध है। श्रुति-वचन है—चतुर्थ पिण्ड नहीं होता। (पार्वण (अमावास्या के श्राद्ध) में तीन का ही निक्षेप होने के कारण चौथे पिण्ड का अभाव न्यायतः प्राप्त है। श्रुतिविरोध यों

हैं : अधिकारी पुत्र पृथक् कर्म करने पर चारों के पिण्ड-निर्वाप का अधिकारी है किन्तु अमावास्या में पिण्ड-निर्वाप तीन का ही होता है—यही श्रुतिविरोध है)।

५४. साल भर तक प्रतिदिन मृतक के निमित्त ब्राह्मण को अन्न और जलपूर्ण घट दिया जाये।

५५. कुछ (आचार्यों का मत है कि) प्रति-दिन पिण्ड-दान भी होना चाहिए।

(यह पिण्ड-दान निरग्नि पुत्र ही कर सकता है, क्योंकि साग्नि पुत्र के लिए एक पिण्ड-दान करना निषिद्ध है। वह तो तीन के लिए ही पिण्ड-निर्वाप कर सकता है)।

पद्धति (हरिहर-प्रणीत)

(इसमें कण्डिका में आया विवरण नहीं दुहराया गया है)

गृह्याग्नि की स्थापना करनेवाले मरणासन्न व्यक्ति को पुत्रादि दुर्बल जानकर, स्नान करा दें, शुद्धवस्त्र ओढ़ाकर, शिर दक्षिण की ओरकर कुशमयी भूमि पर लिटा दें। यथाशक्ति सुवर्ण और भूमि का उससे दान करा दें। जब उसे प्राणहीन समझ लें तो घी का लेपकर, जल में अवगाहन कराकर, पुष्प-माला, वस्त्र, यज्ञोपवीत आदि पहनाकर मुख, नाक, आँख और कान के रन्ध्रों में सोने के टुकड़े डालकर श्मशान ले जायें। भूमि-संस्कार पूर्वक दक्षिण और उत्तर की ओर काष्ठ चुनकर, चिता पर कृष्ण मृगचर्म बिछाकर मृतक को उत्तान और दक्षिणाभिमुखलिटाकर दाहिने नासिका-रन्ध्र के पास घृतपूर्ण स्रुवा, पैरों और सीने पर लकड़ियाँ, बायीं दाहिनी ओर शूप और चमस तथा मुसल उलूखल चुपचाप रख देना चाहिए। तदनन्तर औपासनाग्नि लेकर 'अस्मात्वमधिजातोऽसि' ऋचा पढ़कर दाहिनी ओर से मुख में अग्नि-दान करे। फिर कण्डिकोक्त विधि से स्नान, जलदान आदि।

× × ×

प्रेतक्रियाधिकारी पुत्र १० दिन तक एक-एक अवयव को पूर्ण करने वाला पिण्ड दे। एक-एक अञ्जलि और एक-एक पात्र भी बढ़ता जायेगा। सद्यः शुद्धि-पक्ष में एक ही दिन क्रमशः १० पिण्ड, ५५ जलाञ्जलियाँ और ५५ जलपात्र दिए जायें। तीन दिन की अशुद्धि में पहले दिन तीन पिण्ड, छह अञ्जलियाँ और छहपात्र दिये जायें; दूसरे दिन चार पिण्ड, २२ अञ्जलियाँ और २२ पात्र दिये जायें; तीसरे दिन तीन पिण्ड, २७ अञ्जलियाँ, और २७ पात्र दिए जायें। पिण्डों से अवयवों की पूर्त्ति यों होगी—पहले पिण्ड से शिर, दूसरे से आँख नाक, कान, तीसरे से गला कन्धा भुजायें वक्षस्थल, चौथे से नाभि-लिङ्ग-गुदा, पांचवें से घुटना-जङ्घा-पैर, छठे से सभी मार्मिक अंग, सातवें से नाड़ी, आठवें से रोम, नवें से वीर्य और १० वें से सम्पूर्ण शरीर।

ये अग्निदाह प्रभृति कर्म संन्यासी के नहीं होंगे।

× × ×

अस्थि-चयन—ब्राह्मण के फूल चौथे दिन, क्षत्रिय के पाँचवें, वैश्य के छठे और शूद्र के ११ वें दिन चुनने चाहिए। श्मशान में 'क्रव्यादमुखेभ्यो देवेभ्यः' कहकर बलि-प्रदान की जाए। जनेऊ को दाहिने कन्धे पर डालकर पलाश-वृन्त से फूलों को बटोरकर अंगुष्ठा और कनिष्ठा उँगलियों से उन्हें उठाकर पलाश के पत्रपुट (दोने) में रखे शमी, शैवाल और कर्दम को भी रखे। उन्हें घृताक्त कर, अन्य वनस्पतियाँ मिलाकर, दक्षिण-पूर्व में जौ के आकार का गड्ढा खोदकर, कुश बिछाकर, पीले कपड़े के छोर में हल्दी की गाँठ बाँधकर 'ॐ वाचा मनसा आर्तेन ब्रह्मणा त्रय्या विद्यया पृथिव्यामाक्षिकायामपां रसेन निवपाम्यसौ' 'असौ' के स्थान पर मृतक का नाम) मंत्र पढ़कर रख दे। फिर उन अस्थियों को घड़े में रखकर उसे किसी वृक्ष की जड़ में गाड़ दे। चिता की भस्म पूरी तरह पानी में फेंक दी जाए। हरिहर ने इन वस्तुओं को गंगा में विसर्जित करने को बहुत महत्व दिया है।

× × ×

यदि किसी का शव न मिले तो कृष्णमृग के चर्म पर पलाश वृन्तों से उसका आकार बनाकर दग्ध करना चाहिए।

एकादशकण्डिका

पशुश्चेदाप्लाव्याग्रामग्रेणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखां निहन्ति ॥ १ ॥ परिव्ययेणापाकरणनियोजनप्रोक्षणान्यावृता कुर्याद्यच्चान्यत् ॥ २ ॥ परिपशव्ये हुत्वा तूष्णीमपराः पञ्च ॥ ३ ॥ वपोद्धरणं चाभिघारयेद्दे‌वतां चादिशेत् ॥ ४ ॥ उपाकरणनियोजनप्रोक्षणेषु स्थालीपाके चैवम् ॥ ५ ॥ वपाᳬं हुत्वाऽवदानान्यवद्यति ॥ ६ ॥ सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा ॥ ७ ॥ स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति ॥ ८ ॥ पश्वङ्गं दक्षिणा ॥ ९ ॥ यद्देवते तद्दैवतं यजेत्तस्मै च भागं कुर्यात्त च ब्रूयादिममनुप्रापयेति ॥ १० ॥ नद्यन्तरे नावं कारयेन्नवा ॥ ११ ॥ ११ ॥

हरिहरभाष्यम्

एवं तावत् "प्रेतयोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति" इति सूत्रकृता एकादशेहनि प्रेतमुद्दिश्य गोपश्वालम्भोऽभिहितस्तत्प्रसङ्गादन्येऽपि यावन्तोऽर्घ्यपशवस्तत्कर्माभिधातुमिदमारभ्यते—पशुश्चेदाप्लाव्याग्रामग्रेणाग्नीन्परीत्य पलाशशाखान्निहन्ति—चेद्यदि स्मार्तः पशुः क्रियते तदा तं पशुं गोपशुवर्जमाप्लाव्य स्नापयित्वा नियुज्यात् गोपशौ आप्लावाभावः, पशुनियोजनं च यूपे श्रूयते, अस्य तु कुत्रेत्यपेक्षायामाह—अस्य अग्रेण पुरस्ताद् अग्नीन् वितानपक्षे गार्हपत्यादीन् आवसथ्यपक्षे एकमग्निं परीत्य प्रादक्षिण्येन गत्वा पलाशस्य ब्रह्मवृक्षस्य शाखां निहन्ति निखनन्ति आसादनानन्तरं यूपकार्यत्वाच्छाखायाः। परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणान्यावृता कुर्याद्यच्चान्यत्—परिव्ययणं त्रिगुणरशनया

शाखायाः; उपाकरणं तृणेन पशोः स्पर्शनं, नियोजनं द्विगुणरशनया अन्यराश्रृङ्गवद्धस्य पशोः पलाशशाखायां बन्धनम्, प्रोक्षणं प्रोक्षणीभिरद्भिः पशोरासेचनम्। एतानि परिव्ययणोपाकरणनियोजनप्रोक्षणानि आवृता पशुप्रकरणविहितेतिकर्तव्यतया मन्त्रवर्जितया क्रियया कुर्यात् विदधीत, न केवलमेतान्येव अन्यदपि यत्पशुसंस्कारकं पशुसमञ्जनं पर्यग्निकरणादिकं तदपि तथैव कुर्यात्। परिपशव्ये हुत्वा तूष्णीमपराः पञ्च–पशुसञ्ज्ञपनं परि उभयतः हूयेते ये द्वे आज्याहुती स्वाहा देवेभ्यः, देवेभ्यः स्वाहेति ते परिपशव्ये ते हुत्वा तूष्णीं मन्त्रवर्जम् अपरा अन्याः पञ्च आज्याहुतीर्जुहुयात्। वपोद्धरणं चाभिघारयेत् पशोर्वपाया उद्धरणं यथोक्तं कृत्वा तां वपाम् अभिघारयेत् उद्धृत्यैव। देवतां चादिशेदुपाकरणनियोजनप्रोक्षणेषु–उपाकरणं च नियोजनं च प्रोक्षणं च उपाकरणनियोजनप्रोक्षणानि तेषु देवतां यद्देवत्यः पशुर्भवति तां देवतामादिशेत्, अमुष्मै त्वा उपाकरोमि अमुष्मै त्वा नियुनज्मि अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति। स्थालीपाके चैवम्–स्थालीपाके चरौ च एवं देवतामादिशेत्। चरोरुपाकरणनियोजनाभावात्तण्डुलप्रोक्षणे अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति देवतोद्देशः। वपाँ हुत्वाऽवदानान्यवद्यति सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा–वपां यथोक्तेन विधिना हुत्वा अवदानानि पशोः हृदयादीनि अवद्यति छिनत्ति, कति सर्वाणि–हृदयम्, जिह्वाम्, क्रोडम्, सव्यबाहुम्, पार्श्वद्वयम्, यकृत्, वृक्कौ, गुदमध्यम्, दक्षिणां श्रोणिमित्येकादश प्रधानार्थानि, दक्षिणबाहुं गुदतृतीयानिष्टम्, सव्यां श्रोणिमिति त्रीणि सौविष्टकृतानि। यद्वा त्रीणि हृदयम्, जिह्वां क्रोडम् इति, अथवा पञ्च हृदयजिह्वाक्रोडसव्यबाहुदक्षिणपार्श्वानि। अत्र पञ्चावदानपक्षे त्र्यवदानपक्षे वा तेभ्य एव स्विष्टकृद्भागः। वपाँ त्वाऽवदानान्यवद्यतीति वदता सूत्रकृता पशुपुरोडाशो निरस्तः। स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोति–स्थालीपाकेन चरुणा मिश्राणि संयुक्तान्यवदानानि हृदयादीनि जुहोति स्थालीपाकस्य च मिश्रणं वचनात्सहैव पाकः। पश्वङ्गं दक्षिणापशोः अङ्गं पश्वङ्गम्। अस्य पशुबन्धस्य दक्षिणा। यद्देवते तद्दैवतं यजेत्तस्मै च भागं कुर्यात्तं च ब्रूयादिममनुप्रापयेति–एतदर्घ्यपशून्प्रकृत्य कर्माभिहितं, तत्र यस्यार्घ्यस्य आचार्यादेर्या देवता तद्दैवतः स पशुयागस्तस्मिंस्तद्दैवते यागे तद्दैवतम् अर्घ्यदैवतं बृहस्पत्यादिकं च यजेत्। तत्रार्घ्यदेवता, आचार्यस्य बृहस्पतिः, ब्रह्मणश्चन्द्रमाः, उद्गातुः पर्जन्यः, अग्निर्होतुः, अश्विनावध्वर्योः, विवाह्यस्य प्रजापतिः, राज्ञ इन्द्रः, प्रियस्य मित्रः, स्नातस्य विश्वेदेवा इन्द्राग्नी वेति। तस्मै चार्घ्यायाचार्यादये भागं पशोः किञ्चिदङ्गं कुर्यात् विभजेत्। तं चार्घ्यमाचार्यादिकम् इममनुप्रापयेति ब्रूयात्। नद्यन्तरे नावं कारयेन्न वा–इदानीं प्रेतोद्देशेन गामप्येके घ्नन्तीति यदुक्तं तत्प्रदेशविधानार्थमाह–न नद्यन्तरे नद्या अन्तरे द्वीपे नावं नवम् एकादशाहश्राद्धं तदर्थमिमं नावं गोपशुं कारयेत्। अनुतिष्ठेत् कोऽर्थः, प्रेतोद्देशेन गोपशुमेकादशेऽह्नि नद्यन्तरे आलभेन न वा आलभेत इति सूत्रार्थः॥ ११॥

सरला

(ऊपर पश्वालम्भन का उल्लेख आया है —'गामप्येके घ्नन्ति ।' उसी सन्दर्भ में आचार्य अन्य कृत्यों का विधान कर रहे हैं—)

१. यदि स्मार्त्त पशु-कर्म का अनुष्ठान करना हो तो गाय को छोड़कर (अन्य पशु को) स्नान कराकर आगे से अग्नि की प्रदक्षिणा कर पलाश वृक्ष की डाल में बाँध दे ।

२. तिगुनी रस्सी से शाखा का आवेष्टन, तिनके से पशु का स्पर्श करना, दूनी रस्सी से सींगों के मध्य में बंधे पशु को पलाश-शाखा में बाँधना, प्रोक्षणी का जल छिड़कना—ये क्रियायें और अन्य पशु-संस्कार भी पशु–प्रकरण में विहित विधान से मंत्ररहित ही किये जायें ।

३. पश्वालम्भन की दो आहुतियाँ देकर मंत्ररहित अन्य पाँच आहुतियाँ दे ।

४. (यथोक्त रीति से पशु का उदर–विदारण करके) वपा निकाले, पूर्ववत् अभिघारण कर 'अमुष्मै त्वा उपाकरोमि, अमुष्मै त्वा नियुनज्मि, अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' कहकर देवता को अर्पित करे ।

५. चरु में भी इसी प्रकार से देवता को आदिष्ट करे ।

६. वपा को होम कर पशु के अन्य अंग काटे जायें ।

७. सभी या तीन या पाँच अंग काटे जायें ।

८. इन्हें स्थालीपाक में मिलाकर होम करे ।

९. दक्षिणा में पशु का अंग देना चाहिए ।

१०. जिस देवता को तुष्ट करने के लिए पशुकर्म किया गया हो, उसका यजन करे; 'इदमनुप्रापय' कहकर अर्घादि दे ।

११. इस कर्म का अनुष्ठान नदी के मध्य (द्वीप) में करे । पश्वालम्भन वैकल्पिक है (–इसे करना अनिवार्य नहीं है ।

द्वादशकण्डिका

अथातोऽवकीर्णि प्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥ अमावास्यायां चतुष्पथे गर्दभं पशुमालभते ॥ २ ॥ निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत ॥ अप्स्ववदानहोमः ॥ ४ ॥ भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम् ॥ ५ ॥ तां छविं परिदधीत ॥ ६ ॥ ऊर्ध्वंबालामित्येके ॥ ७ ॥ संवत्सरं भिक्षाचर्यं चरेत्स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ८ ॥ अथापरमाज्याहुती जुहोति ॥ कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहेति ॥ ९ ॥ अथोपतिष्ठते, सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः संबृहस्पतिः । सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन चेति ॥ १० ॥ एतदेव प्रायश्चित्तम् ॥ १२ ॥

हरिहरभाष्यम्

एवं तावन्नद्यन्तरे नावं कारयेदित्यनेन नवश्राद्धप्रयोजनपशुरुक्तस्तत्प्रसङ्गान्नैमित्तिकं पश्वन्तरं व्याख्यातुमाह—अथातोऽवकीर्णिप्रायश्चित्तम्—अथेदानीं यतः पशुरभिहितः अतस्तत्प्रसङ्गात् अवकीर्णिनः स्खलितब्रह्मचर्यस्य ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तं शुद्धिसम्पादकं कर्म वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। अमावास्यायां चतुष्पथे गर्दभं पशुमालभते—यो ब्रह्मचारी सन् स्त्रीगमनादवकीर्णी भवति स पुनः प्रायश्चित्तं चिकीर्षुरमावास्यायां कस्यांचित् कृष्णपक्षदश्यां चतुष्पथे चत्वारः पन्थानो यत्र भूभागे स चतुष्पथः तस्मिन् देशे गर्दभं रासभं पशुमालभते सञ्ज्ञपयति। निर्ऋतिं पाकयज्ञेन यजेत—निर्ऋतिं देवतां पाकयज्ञेन पाकयज्ञविधानेन पशुना यजेत। अत्रावकीर्णिनो हविर्यज्ञरूपोऽन्योऽपि पशुरस्ति तेन हेतुना पाकयज्ञेन यजेतेत्युक्तम्। अप्स्ववदानहोमः—अप्सु जले अवदानानामेव होमः देवतोद्देशेन प्रक्षेपो भवति न त्वग्नौ अवदानग्रहणात्, आघारादीनां लौकिकाग्नावेव होमः। भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम्—भूमावेव न कपालेषु पुरोडाशस्य श्रपणं पाको भवति, शाखापशौ पुरोडाशाभावात् इहापूर्वः पुरोडाशोऽर्थाद्विधीयते तस्य च संस्कार आज्येन सह क्रियते। तां छविं परिदधीतोर्द्ध्ववालामित्येके संवत्सरं भिक्षाचर्यं चरेत्स्वकर्म परिकीर्तयन्—ताम् आलब्धस्य गर्दभस्य छविं कृत्तिं परिदधीत प्रोर्णुवीत आच्छादयीतेति यावत्, एके आचार्याः ताम् ऊर्द्ध्ववालाम् उपरिपुच्छाम् परिदधीतेति वर्णयन्ति, अपरे तिर्यग्वालाम्। ततश्च विकल्पः। गर्दभपश्वालम्भानन्तरं तच्छविं परिदधानः संवत्सरं यावद्भिक्षाचर्यं चरेत्, किं कुर्वन्, स्वकर्म स्वीयमवकीर्णित्वं परिकीर्तयन् सर्वतः प्रकथयन् "अहमवकीर्णी, भवति भिक्षां देहि" इत्येवमादिना। स्वकर्मपरिख्यापनं कुत इति चेत् "निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति" इति श्रुतेः। अथापरम्—अथेदानीम् अपरमन्यत् प्रायश्चित्तान्तरमवकीर्णिनोऽभिधीयते तदाह—आज्याहुती जुहोति कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि काम कामाय स्वाहा। कामाभिदुग्धोऽस्म्यभिदुग्धोऽस्मि काम कामाय स्वाहेति—कामावकीर्णोऽस्मि कामाभिदुग्धोऽस्मीत्येताभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमेकैकाम्, एवमाज्याहुती द्वे जुहोति। इदं कामायेति उभयत्र त्यागः। ते च द्वे आगन्तुत्वाच्चतुर्दशाहुत्यन्ते, "आगन्तूनामन्ते निवेशः" इति न्यायात्। अथोपतिष्ठते सम्मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सम्बृहस्पतिः। सम्माऽयमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन चेत्येतदेव प्रायश्चित्तम्—अथ होमानन्तरमुपतिष्ठते ऊर्द्ध्वीभूय सम्मा सिञ्चन्त्वित्यादिना मन्त्रेण लिङ्गोक्ता देवताः प्रार्थयते, संवत्सरमित्यत्राप्यनुवर्तते अतः प्रतिदिनं पञ्चभूसंस्कारपूर्वकं लौकिकाग्निं स्थापयित्वा आघारादिस्विष्टकृदन्ताश्चतुर्दशाज्याहुतीर्हुत्वा कामावकीर्णोऽस्मि कामाभिदुग्धोस्मीत्येताभ्यां मन्त्राभ्यां प्रतिमन्त्रमाज्याहुतिद्वयं हुत्वा सम्मासिञ्चन्त्विति मन्त्रेणोपतिष्ठते संवत्सरं यावत्, एतदेव यदुक्तं गर्दभपश्वालम्भनरूपम् आज्याहुतिहोमात्मकं च तदवकीर्णिनः प्रायश्चित्तद्वयं विज्ञेयमिति सूत्रार्थः ॥१२॥

सरला

१. अब अवकीर्णी (जिसका ब्रह्मचर्य-भंग हो गया हो) के प्रायश्चित्त (का विधान कर रहे हैं)।

२. (ब्रह्मचर्य-काल में स्त्री-गमन कर अपने व्रत को भंग करनेवाला व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त करना चाहे तो) अमावास्या के दिन चौराहे पर गधे का आलभन करे।

३. पाक-यज्ञ के द्वारा निर्ऋति देवता का यजन करे।

४. (देवताओं के निमित्त) पानी में पशु के कटे अंगों का होम करे (फेंक दे)।

५. पृथ्वी पर ही पशु-पुरोडाश को पकाये।

६–८. मारे गये पशु का चर्म ओढ़ ले, पूँछ ऊपर रहे। कुछ आचार्यों के अनुसार पूँछ तिरछी रहनी चाहिए। साल भर तक 'मैंने अपने ब्रह्मचर्य को भंग किया है, मैं अवकीर्णी हूँ' कहता हुआ भिक्षा माँगे।

९. (प्रायश्चित्त के बाद) अन्य कर्म—

'कामावकीर्णोऽस्मि···' आदि मंत्र पढ़ते हुए दो आज्याहुतियाँ दे (—इसके पहले १४ नित्य आहुतियाँ भी पड़ेंगी)।

१०. होम के अनन्तर मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति, और अग्नि की प्रार्थना करे (—यह भी वर्षभर तक करना चाहिए।

११. यही प्रायश्चित्त हैं।

मंत्रार्थ

१. कामावकीर्णोऽस्मि अवकीर्णोऽस्मि कामकामाय।

हे काम-क्षोभक ! तुम्हारे द्वारा क्षुब्ध होकर अपने व्रत को नष्ट किया है।

२. कामाभिद्रुग्धोऽस्म्याभिद्रुग्धोऽस्मि कामकामाय।

मैं तुम्हारे द्वारा क्षुब्ध हुआ हूँ—अतः काम-शोधन के लिए हविष्मान बना हूँ॥

त्रयोदशकण्डिका—सभाप्रवेशः

अथातः सभाप्रवेशनम् ॥ १ ॥ सभामभ्येति सभाङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि तस्यै ते नम इति ॥ २ ॥ अथ प्रविशति सभा च मासमितिश्चोभे प्रजापतेर्दुहितरौ सचेतसौ। यो मा न विद्यादुव मा स तिष्ठेत्स चेतनो भवतु शंसथे जन इति ॥ ३ ॥ पर्षदमेत्य जपेदभिभूरहमागमविराडप्रतिवाश्याः। अस्याः पर्षद ईशानः सहसा सुदुष्टरो जन इति ॥ ४ ॥ स यदि मन्येत क्रुद्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते, या त एषा रराट्या तनूर्मन्योः क्रोधस्य नाशनी। तान्देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः ॥ द्यौरहं पृथिवी चाहं तौ ते क्रोधं नयामसि गर्भमश्वतर्यसहासाविति ॥ ५ ॥ अथ यदि मन्येत द्रुग्धोऽयमिति

तमभिमन्त्रयते तां ते वाचमास्य आदत्ते हृदय आदधे यत्र यत्र निहिता वाक्तां ततस्तत आददे यदहं ब्रवीमि तत्सत्यमधरो मत्तांद्यस्वेति ॥ ६ ॥ एतदेव वशीकरणम् ॥ ७ ॥ १३ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथातः सभाप्रवेशनम्—अथावसथ्याग्निसाध्यकर्मविधानानन्तरं साधारणानि कर्माणि अनुविधेयानि यतः, अतो हेतोः सभाप्रवेशनं कर्म वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। सभामभ्येति सभाऽऽङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि तस्यै ते नम इति-यदा द्विजः सभां गच्छति तदा सभाम् अभि आभिमुख्येन एति गच्छति। केन मन्त्रेण सभाऽऽङ्गिरसीत्यादिना मन्त्रेण। अथ प्रविशति सभा च मा समितिश्चोभे प्रजापतेर्दुहितरौ सचेतसौ। यो मा न विद्यादुप मा स तिष्ठेत्सचेतनो भवतु शꣳसथे जन इति—अथाभिमुखमेत्य सभा च मा समितिरित्यादिना मन्त्रेण सभां प्रविशति। पर्षदमेत्य जपेत्। अभिभूरहमागमविराडप्रतिवाश्याः। अस्याः पर्षद ईशानः सहसा सुदुष्टरो जन इति—पर्षदं सभाम् एत्य प्रविश्य अभिभूरहमिति मन्त्रं जपेत्। स यदि मन्येत क्रुद्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते या त एषा रराट्या तनुमन्योः क्रोधस्य नाशनी। तां देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः। द्यौरहं पृथिवी चाहं तौ ते क्रोधं नयामसि गर्भमश्वतर्यसहाऽसाविति-स सभां प्रविष्टः यदि चेन्मन्येत जानीयात् अयं सभापतिः क्रुद्ध इति तं क्रुद्धमभिलक्षीकृत्य क्रोधापनयनाय मन्त्रयते या त एषेत्यादिनामन्त्रेण। असाविति क्रुद्धस्य नाम। अथ यदि मन्येत द्रुग्धोऽयमिति तमभिमन्त्रयते तान्ते वाचमास्य आदत्ते हृदय आदधे यत्र-यत्र निहिता वाक् तां ततस्तत आददे यदहं ब्रवीमि तत्सत्यमधरो मत्तां द्यस्वेति—अथ यदि द्रुग्धो द्रोहकर्ताऽयमिति मन्येत तर्हि तमभिमन्त्रयते तान्ते वाचमित्यादिमन्त्रेण। एतदेव अवशस्य वशीकरणम्। इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

सरला

१. (आवसथ्याग्निसाध्य कर्मों के विधान के अनन्तर सामान्य कर्मों का विधान करना चाहिए) इसलिए अब सभाप्रवेश (कर्म का निरूपण किया जा रहा है।

२. 'सभाङ्गिरसि···' मंत्र पढ़ते हुए (द्विज) सामने से सभा में जाये।

३. (सामने पहुँचकर) 'सभा च···' मंत्र पढ़ते हुए प्रवेश करे।

४. सभा में प्रविष्ट होकर 'अभिभूरहं···' मंत्र जपे।

५. सभापति यदि क्रुद्ध प्रतीत हों (तो उनके क्रोधशमन के लिए) 'याते···' मंत्र से अभिमंत्रित करे।

६. और यदि वे द्रोह करते प्रतीत हों, तो 'तांते वाचमास्य···' मंत्र से अभिमन्त्रित करे।

७. यही वशीकरण है।

मंत्रार्थ

१. सभाङ्गिरसि नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि तस्यै ते नमः ॥

गायत्री, अङ्गिरा।

हे अङ्गिरा देव ! तुम दीप्तिमयी और नादशीला सभा के अधिष्ठाता हो—तुम्हें प्रणाम।

२. सभा च मा समितिश्चोभे प्रजापतेर्दुहितरौ सचेतसौ। यो मा विद्यादुप मा स तिष्ठेत्स चेतनो भवतु शंसथे जनः ॥

प्रजापति, त्रिष्टुप्।

सभा और समिति दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ हैं। ये उत्कृष्ट और सजीव अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करती हैं। सभा सभासदों से कहती है कि जो पुरुष सभा के शिष्टाचार को न जानता हो, वह सभा में न बैठे। सभा में बैठनेवाले को कुशाग्र-बुद्धि सम्पन्न और संभाषण-कुशल होना चाहिए।

३. अभिभूरहमागमविराड् प्रतिवाश्याः। अस्याः पर्षद ईशाना सहसा सुदुष्टरो जनः ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्।

अन्य जनों को अभिभूत करनेवाला, अकुण्ठित शक्ति और प्रतिवादि-शून्य मैं इस सभा में आ गया हूँ। इस सभा का अध्यक्ष यदि दुष्ट हो, तब भी मुझसे वह सज्जनता का ही व्यवहार करे।

४. या त एषा रराट्या तनूर्मन्योः क्रोधनाशनी। तान्देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः ॥ द्यौरहं पृथिवी चाहं तौ ते क्रोधं नयामसि गर्भमश्वतर्य्सहासौ ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्।

हे सभापति ! तुम्हारे ललाट पर अङ्कित क्रोध की रेखायें मेधावी और ब्रह्मचर्य-व्रती देवगण मिटा दें। मैं द्युलोक और पृथ्वी की समन्वित शक्ति का प्रतीक हूँ—मैं मंत्र-बल से तुम्हारा क्रोध वैसे हीं दूर कर रहा हूँ जैसे गर्भ-भार को न सह पाने के कारण घोड़ी उसे फेंक देती है।

५. तां ते वाचमास्य आदत्ते हृदय आदधे यत्र यत्र निहिता वाक्तां ततस्तत आददे यदहं ब्रवीमि तत्सत्यमधरो मत्तांद्यस्व ॥

प्रजापति, अनुष्टुप्, ईश।

ओ सभापति ! मुझसे द्रोह करनेवाली वाणी को तुम अपने हृदय में ही नष्ट कर दो । मैं सच कह रहा हूँ, (तुम्हारा कल्याण इसी में है कि) तुम अपनी नीचता को छोड़कर मेरे अपने हो जाओ ।

चतुर्दशकण्डिका—रथारोहणम्

अथातो रथारोहणम् ॥ १ ॥ युङ्क्तेति रथं संप्रेष्य युक्त इति प्रोक्ते साविराडित्येत्य चक्रे अभिमृशति ॥ २ ॥ रथन्तरमसीति दक्षिणम् ॥ ३ ॥ वृहदसीत्युत्तरम् ॥ ४ ॥ वामदेव्यमसीति कूबरीम् ॥५॥ हस्तेनोपस्थमभिमृशति अङ्कौ न्यङ्कावभिता रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमनुसंचरन्तम् । दूरेहेतिरिन्द्रियवान्पतत्रि ते नोऽग्नयः पप्रयः पारयन्त्विति ॥ ६ ॥ नमो माणिचरायेति दक्षिणं धुर्यं प्राजति ॥ ७ ॥ अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्संप्रति ब्राह्मणान्मध्ये गा अभिक्रम्य पितॄन् ॥ ८ ॥ न स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी स्याताम् ॥ ९ ॥ मुहूर्तमतीयाय जपेदिहरतिरिहरमध्वम् ॥ १० ॥ एके मास्त्विहरतिरिति च ॥ ११ ॥ स यदि दुर्बलो रथः स्यात्तमा स्थाय जपेदयं वामश्विना रथो मा दुर्गे मास्तरोरिषदिति ॥ १२ ॥ स यदि भ्रम्यात्स्तम्भमुपस्पृश्य भूमिं वा जपेदेष वामश्विना रथो मा दुर्गे मास्तरोरिषदिति ॥ १३ ॥ तस्य न काचनार्त्तिर्न रिष्टिर्भवति ॥ १४ ॥ यात्वाऽध्वानं विमुच्य रथं यवसोदके दापयेदेष उ ह वाहनस्याप्नह्व इति श्रुतेः ॥ १५ ॥ १४ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथातो रथारोहणम्—अथेदानीं कार्यार्थं जिगमिषोर्द्विजस्य यतो यानमपेक्षितमतो हेतो रथारोहणाख्यं कर्म वक्ष्यत इति सूत्रशेषः । युङ्क्तेति रथं सम्प्रेष्य युक्त इत्युक्ते सा विराडित्येत्य चक्रे अभिमृशति । रथन्तरमसीति दक्षिणं बृहदसीत्युत्तरम्—तत्र युङ्क्तेति सारथिं सम्प्रेष्याज्ञाप्य ततः प्रेषितेन सारथिना युक्तो रथ इति प्रोक्ते सति सा विराडित्येतेन मन्त्रेण एत्य रथसमीपमागत्य चक्रे रथाङ्गे अभिमृशति, कथं रथन्तरमसीत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणम्, बृहदसीत्यनेनोत्तरं चक्रम् । बृहद्रथन्तरे सामनी । वामदेव्यमसीति कूबरीम्—वामदेव्यमसीत्यनेन मन्त्रेण कूबरीम् ईषादण्डाग्रम् अभिमृशतीत्यनुवर्तते । हस्तेनोपस्थमभिमृशति—उपस्थं रथमध्यम्, उपवेशनस्थानमिति यावत् । अभिमृशति आलभते हस्तेनेति सर्वत्र सम्बध्यते । अत्र मन्त्रः । अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमनुसञ्चरन्तौ । दूरेहेतिरिन्द्रियवान्पतत्रि ते नोऽग्नयः पप्रयः पारयन्त्विति । नमो माणिचरायेति दक्षिणं धुर्यं प्राजति । गवां मध्ये स्थापयति—नमो माणिचरायेत्यनेन दक्षिणं धुर्यं दक्षिणधुरायां युक्तम् अश्वं वृषभं वा प्राजति प्रतोदेन प्रेरयति तूष्णीं वामम् । एवं गवां मध्ये रथं स्थापयति । अप्राप्य देवताः प्रत्यवरोहेत्सम्प्रति ब्राह्मणान्मध्ये गा अभिक्रम्य पितॄन्—अप्राप्य अनासाद्य दूरत एव देवता

हरिहरब्रह्मादिकाः प्रत्यवरोहेत् रथादवतरेत् । सम्प्रति ब्राह्मणान् विप्रान् सम्प्रति निकटे प्रत्यवरोहेत् मध्ये गाः सुरभीः प्राप्य मध्ये प्रत्यवरोहेत् । अभिक्रम्य पितॄन् पित्रादीन् मान्यान् अभिक्रम्य अभिमुखमेत्य प्रत्यवरोहेत् । न स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी स्याताम्—स्त्री नारी, ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च, स्त्रीब्रह्मचारिणौ सारथी न भवेताम् । मुहूर्तमतीयाय जपेदिहरतिरिह रमध्वमेके माऽस्त्विह रतिरिति च—मुहूर्तं क्षणम् अतीयाय अत्येत्य जपेत् इहरतिरित्यादिकं मन्त्रम् । स यदि दुर्बलरथः स्यात्तमास्थाय जपेत्—स रथी यदि चेदध्वानं गच्छन् दुर्बलः क्षीणो रथोऽस्येति दुर्बलरथः स्याद्भवेत् तदा त रथमास्थायारुह्य वक्ष्यमाणमन्त्रं जपेत् । अयं वामश्विना रथो मा दुर्गे मा स्तरो रिषदिति । स यदि भ्रम्यात्स्तम्भमुपस्पृश्य भूमिं वा जपेदेष वामश्विना रथो मा दुर्गे मा स्तरो रिषदिति—स रथो यदि पुनर्भ्रम्यात् चलने कुटिलो भवेत्तदा स्तम्भं रथध्वजदण्डं भूमिं वा उपस्पृश्य जपेत् एष वामश्विना रथ इति मन्त्रम् । तस्य न काचनार्तिर्न रिष्टिर्भवति—तस्य रथिनः न काचन अर्तिः पीडा न च रिष्टिरुपसर्गो भवति य एवं दुर्बलरथ उद्भ्रान्तरथो वा जपति । यात्वाऽध्वानं विमुच्य रथं यवसादके दापयेदेष उ ह वाहनस्यापह्नव इति श्रुतेः—यात्वा गत्वा अध्वानं मार्गं विमुच्य मुक्त्वा किं, रथं रथयुक्तं वाहम्, यवसं च उदकं च यवसोदके घासपानीये ते दापयेत् । अश्वेभ्यो यवसोदके दीयेतामिति भृत्यान् प्रेषयेत् । कुतः एष उ वाहनस्य अश्वादेरपह्नवः क्षमापनम् इति श्रुतेः श्रवणात्, एषः कः तस्माद्येन वाहनेन धावयेत्तद्विमुच्य ब्रूयात् पाययतैनं सुहितं कुरुतेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

सरला

१. (कहीं जाना हो, तो यान की आवश्यकता पड़ती है) इसलिए अब 'रथारोहण' (कर्म का उल्लेख किया जा रहा है) ।

२–४. सारथी से कहे—'रथ जोतो'; जब वह कहे—'जुत गया', तो 'साविराड्....' मंत्र पढ़कर रथ के समीप आये; 'रथन्तरम्....' मंत्र पढ़कर दाहिने और 'बृहदसि....' मंत्र पढ़कर बायें पहिये का स्पर्श करें ।

५. 'वामदेव्यमसि....' मंत्र पढ़ते हुए कूबरी (ईषादण्ड, बल्ली) को छुये ।

६. 'अङ्कौ....' मंत्र पढ़ते हुए हाथ से रथ के मध्यभाग का स्पर्श करें ।

७. 'नमो माणिचराय....' मंत्र पढ़कर दाहिनी धुरी में जुते अश्व को चलने के लिए प्रेरित करे । बायें अश्व को यों ही चुपचाप प्रेरित करे ।

८. देवताओं को देखकर दूर से ही रथ से उतर पड़े; ब्राह्मणों के निकट और गायों के मध्य में आ जाने पर रथ से उतर पड़े; पिता आदि मान्य जनों के सामने आ पड़ने पर रथ से उतर जाये ।

९. स्त्रियों और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को सारथी न बनाये ।

१०. (पिता आदि मान्य गुरुजनों के सम्मान हेतु उतरने पर) क्षणभर बिताकर 'इह रति....' मंत्र का जप करे।

११. कुछ (आचार्यों का मत है कि) 'इह रतिः....' मंत्र का जप न करे। (प्राचीन भाष्यकारों ने इस पंक्ति पर भाष्य नहीं रचा है—व्या०)।

१२. (मार्ग में चलते-चलते) यदि रथ क्षीण हो जाये तो वह रथी रथ पर आरूढ़ होकर 'अयं वामश्विना....' प्रभृति मंत्र को जपे।

१३. और यदि वह रथ चलने में फिर टेढ़ा हो, तो रथ के ध्वज-दण्ड या भूमि का स्पर्श कर 'एष वामश्विना' मंत्र को जपे।

१४. (तदनन्तर) उस रथी को कोई पीड़ा या हानि नहीं होती।

१५. (यथेष्ट स्थान पर) पहुँचकर, मार्ग को छोड़कर, रथ से उतर कर भृत्यों से घोड़ों को दाना-पानी दिलवाये क्योंकि श्रुति का कथन है कि इसी से अश्व की थकान मिटती है।

मंत्रार्थ

१. अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमनुसंचरन्तम्। दूरेहेतिरिन्द्रियवान्पतत्रि ते नोऽग्नयः पप्रथः पारयन्तु।

प्रजापति, त्रिष्टुप्।

रथ के चारों ओर रक्षक के रूप में वायु के आगे-आगे रहनेवाली अङ्क और न्यङ्क अग्नियाँ, बृहज्ज्वाल तथा इन्द्ररथ नाम्नी अग्नियाँ और पक्षिकुल को अनुगृहीत करनेवाली अन्य सभी अग्नियाँ हमारे रथ को निर्विघ्न यथास्थान पर पहुँचायें।

२. माणिचर।

रथ की अधिष्ठात्री देवता।

पञ्चदशकण्डिका—हस्त्यारोहणम्

अथातो हस्त्यारोहणम् ॥ १ ॥ एत्य हस्तिनमभिमृशति हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसीति ॥ २ ॥ अथोरोहतीन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ३ ॥ एतेनैवाश्वारोहणं व्याख्यातम् ॥ ४ ॥ उष्ट्रमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते त्वष्ट्रोऽसि त्वष्टृदेवत्यः स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ५ ॥ रासभमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते शूद्रोऽसि शूद्रजन्माग्नेयो वै द्विरेताः स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ६ ॥ चतुष्पथमभिमन्त्रयते नमो रुद्रायपथिषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ७ ॥ नदीमुत्तरिष्यन्नभिमंत्रयते नमो रुद्रायाप्सुषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ८ ॥ नावमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते सुनावमिति ॥ ९ ॥ उत्तरिष्यन्नभिमंत्रयते सुत्रामाणमिति ॥ १० ॥ वनमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय वनसदे

स्वस्ति मा संपारयेति ॥ ११ ॥ गिरिमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय गिरिषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ १२ ॥ श्मशानमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय पितृषदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ १३ ॥ गोष्ठमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसदे स्वस्ति मा संपारयेति ॥ १४ ॥ यत्र चान्यत्रापि नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयाद्रुद्रो ह्येवेदं सर्वमिति श्रुतेः ॥ १५ ॥ सिचाऽवधूतोऽभिमन्त्रयते सिगसि न वज्रोऽसि नमस्तेऽ अस्तु मा मा हिंसीरिति ॥ १६ ॥ स्तनयित्नुमभिमन्त्रयते शिवा नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु हेतयः। शिवा नस्ताः सन्तु यास्त्वं सृजसि वृत्रहन्निति ॥ १७ ॥ शिवां वाश्यमानामभिमन्त्रयते शिवो नामेति ॥ १८ ॥ शकुनिं वाश्यमानमभिन्त्रयते हिरण्यपर्ण शकुने देवानां प्रहितंगम। यमदूत नमस्तेऽस्तु किंत्वाकार्काारिणो ब्रवीदिति ॥ १९ ॥ लक्षण्यं वृक्षमभिमन्त्रयते मा त्वाऽशनिर्मा परशुर्मा वातो मा राजप्रेषितो दण्डः। अङ्कुरास्ते प्ररोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु। अग्निष्टेमूलं माहिंसीत्स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पत इति ॥ २० ॥ स यदि किंचिल्लभेत तत्प्रतिगृह्णाति द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्विति साऽस्य न ददतः क्षीयते भूयसी च प्रतिगृहीता भवति। अथ यद्योदनं लभेत तत्प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य द्विः प्राश्नाति ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति ॥ २१ ॥ अथ यदि मन्थं लभेत तं प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य त्रिः प्राश्नाति ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु ब्रह्मा त्वा पिबत्विति ॥ २२ ॥ अथातोऽधीत्याधीत्यानिराकरणं प्रतीकं मे विचक्षण जिह्वा मे मधु यद्वचः। कर्णाभ्यां भूरिशुश्रुवे मा त्वं हार्षीः श्रुतं मयि। ब्रह्मणः प्रवचनमसि ब्रह्मणः प्रतिष्ठानमसि ब्रह्मकोशोसि सनिरसि शान्तिरस्यनिराकरणमसि ब्रह्मकोशं मे विश। वाचा त्वा पिदधामि वाचा त्वा पिदधामीति (तिष्ठ प्रतिष्ठ) स्वरकरण कण्ठ्यौरसदन्त्यौष्ठ्यग्रहणधारणोच्चारणशक्तिर्मयि भवतु आप्यायन्तु मेऽङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम् ॥ यन्मे श्रुतमधीतं तन्मे मनसि तिष्ठतु ॥ २३ ॥ १५ ॥

हरिहरभाष्यम्

अथातो हस्त्यारोहणम्—अथ रथारोहणानन्तरं यतोऽधिकृतस्य हस्त्यारोहणमप्यपेक्षितं भवति अतो हेतोः हस्त्यारोहणं वक्ष्यत इति सूत्रशेषः। एत्य हस्तिनमभिमृशति हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसीति—एत्य हस्तिसमीपमागत्य हस्तिनं गजम् अभिमृशति आलभते, हस्तियशसमसीति मन्त्रेण। अथारोहतीन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा सम्पारयेति—अथाभिमर्शनानन्तरम् आरोहति हस्तिनम्, इन्द्रस्य त्वेति मन्त्रेण। एतेनैवाऽश्वारोहणं व्याख्यातम्—एतेनैव हस्त्यारोहणेनैव अश्वारोहणं व्याख्यातं कथितम्, अतश्चाऽश्वसमीपं गत्वाऽश्वमभिमृशति "अश्वयशसमस्यश्ववर्चसमसि" इति मन्त्रेण। ततोऽश्वमारोहति, इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा सम्पारय"

इत्यनेन मन्त्रेण। उष्ट्रमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते त्वाष्ट्रोऽसि त्वष्टृदेवत्यः स्वस्ति मा सम्पारयेति—उष्ट्रं क्रमेलकम् आरोढुमिच्छन्नभिमन्त्रयते त्वाष्ट्रोऽसीत्यादिना मन्त्रेण। रासभमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते शूद्रोऽसि शूद्रजन्माऽऽग्नेयो वै द्विरेताः स्वस्ति मा सम्पारयेति—रासभं गर्दभमारोढुमिच्छन् शूद्रोऽसीत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते अभिमुखः सन् मन्त्रं पठति। रासभोऽत्राश्वतरः प्रतीयते मन्त्रलिङ्गात्। चतुष्पथमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय पथिषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति—चतुष्पथं चत्वारः पन्थानो यस्मिन्स चतुष्पथः चतुर्मार्गाभिसरणप्रदेशस्तमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय पथिषदे इत्यादिमन्त्रेण। नदीमुत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते नमो रुद्रायाप्सुषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति—नदीं स्रवन्तीमुत्तरिष्यन् पारं जिगमिषन् नमो रुद्रायाप्सुषद इति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। नावमारोक्ष्यन्नभिमन्त्रयते सुनावमिति—नावं तरीम् आरोढुमिच्छन् सुनावमारोहेत्यनयर्चाऽभिमन्त्रयते। उत्तरिष्यन्नभिमन्त्रयते सुत्रामाणमिति—उत्तरिष्यन्नुत्तर्तुं प्रत्यवरोढुमिच्छन् तामेवाभिमन्त्रयते सुत्रामाणमित्यनयर्चा। वनमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मा सम्पारयेति—वनं काननं प्रवेष्टुमिच्छन् नमो रुदाय वनसद इत्यादिनाऽभिमन्त्रयते। गिरिमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय गिरिषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति—गिरिं पर्वतमारोढुकामोऽभिमन्त्रयते नमो रुद्राय गिरिषद इति मन्त्रेण। श्मशानमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय पितृषदे स्वस्ति मा सम्पारयेति—श्मशानं प्रेतदहनभूमिं कार्यवशात्प्राप्य नमो रुद्राय पितृषदे इति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। गोष्ठमभिमन्त्रयते नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसदे स्वस्ति मा सम्पारयेति—गोष्ठं गोवाटं, कार्यवशात्प्राप्य नमो रुद्राय शकृत्पिण्डसद इत्यादिमन्त्रेणाभिमन्त्रयते। यत्र चान्यत्रापि नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयाद्रुद्रो ह्येवेदᳫं सर्वमिति श्रुतेः—यत्र च येषु अन्यत्रापि अन्येष्वपि अनुक्तकार्येषु पूर्वं नमो रुद्रायेत्येव ब्रूयात्, पश्चात्तानि कर्माणि कुर्यात्। कुतः हि यतः इदं विश्वम् रुद्र एव इति श्रुतेर्वेदवचनात्। सिचाऽवधूतोऽभिमन्त्रयते सिगसि न वज्रोऽसि नमस्ते अस्तु मा मा हिᳫं सीरिति—सिचा वस्त्रप्रान्तेनावधूतः तद्वाताहतस्तदा तां सिचमभिमन्त्रयते सिगसीत्यादिमन्त्रेण। शिवा नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु हेतयः। शिवा नस्ताः सन्तु यास्त्वᳫं सृजसि वृत्रहन्निति—स्तनयित्नुं मेघं गर्जन्तं शिवा नो वर्षा इत्यादिना मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। शिवां वाश्यमानामभिमन्त्रयते शिवो नामेति—शिवां शृगालीं वाश्यमानां शब्दं कुर्वाणां शिवो नामेत्यादिना मा मा हिᳫंसीरित्यन्तेन मन्त्रेणाभिमन्त्रयते। शकुनिं वाश्यमानमभिमन्त्रयते हिरण्यपर्ण शकुने देवानां प्रहितङ्गम। यमदूत नमस्तेऽस्तु किन्त्वा कार्कारिणोऽब्रवीदिति—शकुनिं पक्षिणं कृष्णकाकमिति यावत्। वाश्यमानं कूजन्तं हिरण्यपर्णेत्यादिमन्त्रेणाभिमन्त्रयते। लक्षण्यं वृक्षमभिमन्त्रयते मा त्वाऽशनिर्मा परशुर्मा वातो मा राजप्रेषितो दण्डः। अङ्कुरास्ते प्ररोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु। अग्निष्टे मूलं मा हिᳫंसीत् स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पत इति—लक्षण्यं वृक्षं मङ्गल्यं तरुम् आम्रादिकमभिमन्त्रयते मा त्वाऽशनिरित्यादिमन्त्रेण। स यदि किंचिल्लभेत तत्प्रतिगृह्णाति द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णा-

द्विवति—स द्विजः यदि चेत् किंचित् गोभूहिरण्यादिकं लभेत प्राप्नुयात् तदा द्यौस्त्वेति मन्त्रेण तत्प्रतिगृह्णाति स्वीकुरुते। साऽस्य न ददतः क्षीयते भूयसी च प्रतिगृहीता भवति सा दक्षिणा एवंविधाय दीयमाना अस्य ददतः दातुः उपयुज्यमानाऽपि न क्षीयते न ह्रसति, प्रत्युत एवं प्रतिगृहीता सती भूयसी च उत्तरोत्तरमभिवर्धमाना भवति। अथ यद्योदनं लभेत् तत्प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति। तस्य द्विः प्राश्ना—त्विति ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति—अथ कदाचित् ओदनं भक्तं यदि लभेत प्राप्नुयात्तदा तत्प्रतिगृह्य आदाय द्यौस्त्वा ददात्विति मन्त्रं पठेत्। मन्त्रपाठस्तु आदानानन्तरं सर्वत्र स्वसत्तापत्तये। तस्य लब्धस्यौदनस्य द्विः द्विवारं प्राश्नाति भक्षयति। कथं ब्रह्मा त्वाऽश्नात्विति प्रथमम्, ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति द्वितीयम्। स यदि मन्थं लभेत तं प्रतिगृह्य द्यौस्त्वेति तस्य त्रिः प्राश्नाति ब्रह्मा त्वाऽश्नातु ब्रह्मा त्वा प्राश्नातु, ब्रह्मा त्वा पिबत्विति। स द्विजः यदि मन्थं दधिमन्थं लभेत प्राप्नुयात्तदातं प्रतिगृह्यादाय द्यौस्त्वा ददात्विति मन्त्रेण स्वीकृत्य तस्य दधिमन्थस्य त्रिस्त्रिवारं प्राश्नाति, कथम्, ब्रह्मा त्वाऽश्नातु इति प्रथमम्, ब्रह्मा त्वा प्राश्नात्विति द्वितीयम्, ब्रह्मा त्वा पिबत्विति तृतीयमिति त्रिभिर्मन्त्रैः। अथातोऽधीत्याधीत्यानिराकरणम्—अथेदानीं यतो द्विजानां प्रतिदिनमध्ययनं विहितम् अतः कारणात् अधीत्याधीत्य पठित्वा पठित्वा अनिराकरणम् अपरित्यागः कर्तव्यः वक्ष्यमाणनिगदेन। तद्यथा प्रतीकं मे विचक्षणं जिह्वा मे मधु यद्वचः। कर्णाभ्यां भूरि शुश्रुवे मा त्वाँहार्षीः श्रुतं मयि। ब्रह्मणः प्रवचनमसि ब्रह्मणः प्रतिष्ठानमसि ब्रह्मकोशोऽसि सनिरसि शान्तिरस्यनिराकरणमसि ब्रह्मकोशं मे विश वाचा त्वाऽपिदधामि वाचा त्वा पिदधामि [तिष्ठ प्रतिष्ठ] स्वरकरणकण्ठचौरसदन्त्यौष्ठ्यग्रहणधारणोच्चारणशक्तिर्मयि भवत्वाप्यायन्तु मेऽङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलम्। यन्मे श्रुतमधीतं तन्मे मनसि तिष्ठतु तिष्ठतु—अस्यार्थः। प्रतीकं मुखं मे मम विचक्षणं साधुशब्दोच्चारणसमर्थमस्त्विति सूत्रशेषः। मे मम जिह्वा यद्वचो वचनं मधु मधुरं रसवत् तद्वदत्विति शेषः। एवमभीप्सितः शेषः सर्वत्र पूरणीयः। कर्णाभ्यां भूरि बहु शुश्रुवे शृणुयाम्। मयि विषये यत् श्रुतमधीतम् पठितं वर्तते तत्त्वं मा हार्षीः माऽपनय। मयि विषये ब्रह्मणो वेदस्य प्रवचनं पाठनं व्याख्यानं वा असि भवेत्यर्थः। तथा ब्रह्मणो वेदस्य प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा स्थितिरित्यर्थः, असि। मयीत्यनुवर्तते। ब्रह्मकोशोऽसि ब्रह्मणः शब्दरूपस्य कोशः गोपनगृहं गुप्तिस्थानं मयि असि। तथा सनिः समं जीवनमसि। तथा शान्तिः अनिष्टस्य अनिष्टहेतोश्च शमनमसि। तथा निराकरणं परित्यागः, न निराकरणम् अनिराकरणम् असि। मे मम ब्रह्मकोशं हृदयं विश। "सर्वेषां वेदानाँहृदयमेकायनम्" इति श्रुतेः। वाचा गिरा त्वा त्वाम् अपिदधामि छादयामि। आवृत्तिरादरार्था। स्वरा उदात्तानुदात्तस्वरिताः, करणानि शब्दस्य उत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वा साधनानि उरः कण्ठशिरोजिह्वामूलदन्तनासिकोष्ठताल्वोत्यष्टौ। कण्ठे भवाः कण्ठ्याः अवर्णकेवलहकारकवर्गविसर्गाः। उरसि भवा औरसाः

सहकारवर्गपञ्चमान्तस्थाः, दन्तेषु भवाः दन्त्याः लृवर्णतवर्गसकाराः, ओष्ठे भवा ओष्ठ्याः उवर्णपवर्गोपध्मानीयाः। स्वराश्च करणानि च कण्ठ्याश्च औरसाश्च दन्त्याश्च ओष्ठ्याश्च स्वरकरणकण्ठ्यौरसदन्त्यौष्ठ्याः एतेषां ग्रहणम् उपादानम्, धारणं स्थिरीकरणम्, उच्चारणं प्रयोगः, ग्रहणं च धारणं च उच्चारणं च ग्रहणधारणोच्चारणानि तेषु शक्तिः स्वरादीनां धारणादिसामर्थ्यं मय्यस्तु। मे मम अङ्गानि गात्राणि आप्यायन्तु वर्द्धन्ताम्। न केवलमङ्गानि किन्तु वाक् गीः, प्राणः प्राणवायुः सूत्रात्मा इति यावत्। चक्षुर्नयनेन्द्रियम्, श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम्, यशः कीर्त्तिः, बलं शारीरमोजः। एतान्यपि वागादीनि आप्यायन्त्वित्यनुषङ्गः। यन्मे मया श्रुतं मीमांसादि, अधीतम् ऋगादि तत्सर्वं मे मनसि तिष्ठतु सुस्थिरमस्तु। वीप्साऽत्रार्थभूयस्त्वप्रतिपादनपरा ग्रन्थसमाप्तिज्ञापनार्था वा॥ इति सूत्रार्थः॥ १५॥

अथ परिशिष्टोक्तं पृष्टोदिविविधानं लिख्यते—केशान्तादूर्ध्वमपत्नीक उत्सन्नाग्निरनग्निको वा प्रवासी ब्रह्मचारी वा मातृपूजापूर्वकमाभ्युदयिकं श्राद्धं कृत्वा अन्वग्निरित्यनयर्चाऽग्निमाहृत्य पञ्च भूसंस्कारान्कृत्वा पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यामित्यनयर्चाऽग्नेः स्थापनम्। तत्सवितुः ताँसवितुः विश्वानि देव सवितरित्येताभिस्तिसृभिः सावित्रीभिः प्रज्वालनमग्नेः। अथ तस्मिन्नग्नौ सायम्प्रातर्होमपञ्चमहायज्ञपिण्डपितृयज्ञपक्षाद्याग्रयणादि कुर्यात्। मणिकावधानादि सर्वमावसथ्याधानादिवत्। अनुदिते च होमः। एवं कृते न वृथा पाको भवति। न वृथा पाकं पचेन्न वृथा पाकमश्नीयान्न वृथा पाकमश्नीयादिति॥ १५॥

इत्यग्निहोत्रिश्रीहरिहरविरचितायां पारस्करगृह्यसूत्रव्याख्यानपूर्वकप्रयोगपद्धतौ तृतीयः काण्डः समाप्तः॥ शुभं भवतु॥

सरला

१. (रथारोहण के अनन्तर हस्त्यारोहण की आवश्यकता को ध्यान में रखकर) अब 'हस्त्यारोहण' (बतला रहे हैं)।

२. 'हस्तियशस....' मंत्र पढ़कर समीप जाकर गज का स्पर्श करे।

३. 'इन्द्रस्य स्व....' मंत्र पढ़ते हुए हाथी पर चढ़े।

४. इसी भाँति अश्वारोहण भी होता है, (मंत्रों में 'हस्ति' के स्थान पर 'अश्व' का सन्निवेश कर देना चाहिए)।

५. ऊँट पर चढ़ना चाहे तो 'त्वाष्ट्रोऽसि' मंत्र पढ़कर उसे छुये।

६. गधे पर चढ़ना चाहे तो 'शूद्रोऽसि' मंत्र पढ़कर उसका स्पर्श करे।

७. 'नमो रुद्राय....' मंत्र से चौराहे को अभिमंत्रित करे।

८. नदी पार करने की इच्छा हो, तो 'नमो रुद्राय....' मंत्र पढ़कर उसका स्पर्श करे।

९. नाव पर चढ़ना चाहे तो उसे 'सुनावम्…' मंत्र से अभिमंत्रित करे।

१०. यदि तैरकर नदी पार करना चाहे तो 'सुत्रामाणम्…' मंत्र से अभिमंत्रित करे।

११. वन में प्रविष्ट होने की इच्छा हो, तो 'नमो रुद्राय वनसदे…' मंत्र से अभिमंत्रण करे।

१२. पर्वत पर चढ़ना चाहे तो 'नमो रुद्राय गिरिषदे…' मंत्र पढ़े।

१३. (कार्यवश यदि) श्मशान-भूमि में जाना पड़ जाये, तो 'नमो रुद्राय पितृषदे…' मंत्र पढ़े।

१४. गोशाला में जाये तो नमो 'रुद्राय…' मंत्र पढ़े।

१५. जहाँ कहीं भी जाये, 'नमो रुद्राय' मंत्र पढ़े क्योंकि श्रुति-प्रामाण्य से इन सभी के अधिष्ठाता रुद्र हैं।

१६. वस्त्र का छोर यदि हवा में उड़ जाये (जो कि आपस्तम्ब के अनुसार अमंगल है) तो 'सिगसि न वज्रोऽसि…' मंत्र पढ़ना चाहिए।

१७. गरजते हुए मेघों से (बचना चाहे) तो 'शिवा नो वर्षा…' मंत्र पढ़े।

१८. शब्द करती हुई स्यारिन को 'शिवो नाम…' मंत्र से अभिमंत्रित कर दे।

१९. काँव-काँव करते हुए कौवे को 'हिरण्यपर्ण…' मंत्र से अभिमंत्रित कर दे।

२०. 'मा त्वा…' मंत्र पढ़ते हुए मांगलिक वृक्ष को अभिमंत्रित करे।

२१. द्विज को यदि (स्वर्ण, भूमि आदि) प्राप्त हो तो 'द्यौस्त्वा' मंत्र पढ़कर ग्रहण करे—इस प्रकार से ग्रहण की गई दक्षिणा दाता और प्रतिगृहीता दोनों के लिए कल्याणकारिणी होती है। यदि उसे पका हुआ चावल (भात) प्राप्त हो, तो 'द्यौस्त्वा…' प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर ग्रहण करे।

२२. (द्विज को) यदि मट्ठा प्राप्त हो तो उसे लेकर 'द्यौस्त्वा…' मंत्र पढ़कर स्वीकार करे और 'ब्रह्मा…' प्रभृति तीन मंत्र पढ़कर तीन बार पिए।

२३. नित्य अध्ययन करके उसका परित्याग न करते हुए 'प्रतीकं मे…' प्रभृति मंत्र पढ़े।

मंत्रार्थ

१. हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसि।

ओ गजराज! तुम ऐरावत के सदृश यशस्वी और दीप्तिमान हो।

२. इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा संपारय।

इन्द्र का वज्रायुध लेकर और अपने को इन्द्र समझकर मैं इस रथ पर चढ़ रहा हूँ, तुम मुझे सकल्याण पार कराओ।

३. शूद्रोऽसि शूद्रजन्माग्नेयो वै द्विरेताः स्वस्ति मां संपारय ।

हे रासभ ! तुम शूद्र हो; शोकावह जन्म न होने के कारण तुम अग्निदेवता से सम्बद्ध हो । अश्व के वीर्य से और गधी की योनि से तुम उत्पन्न हुए हो—अतः तुम्हारे अन्दर दो प्रकार के अंश हैं—तुम मुझे सकुशल पार कराओ ।

४. शिवा नो वर्षाः सन्तु शिवा नः सन्तु हेतयः । शिवा न स्ताः सन्तु यास्त्वं सृजसि वृत्रहन् ॥

हे इन्द्रदेव ! वर्षा हमारे लिए कल्याणशीला हो; तुम्हारे आयुध हमारे लिए मंगलमय हो—तुम जिस किसी वस्तु की रचना करो, वह हमारे लिए परमकल्याणकारिणी हो ।

५. हिरण्यपर्ण शकुने देवानां प्रहितंगम । यमदूत नमस्तेऽस्तु किं त्वा कार्कारिणो ब्रवीत् ॥

हे शीघ्रगामी और सोनपंखी विहंगम ! तुम देवताओं से आदेश पाकर शुभाशुभ का ज्ञान कराते हो; मृत्यु के देवता यम के संदेशवाहक हो; तुम्हें मेरे नमस्कार अर्पित हैं । काँव-काँव करते समय यम ने तुमसे क्या कहा था ?—बोलो न !

६. मा त्वाऽशनिर्मापरशुर्मा वातो राजप्रेषितो दण्डः । अङ्कुरास्ते प्ररोहन्तु निवाते त्वाऽभिवर्षतु । अग्निष्टे मूलं माहिंसीत्स्वस्ति तेऽस्तु वनस्पते स्वस्ति मेऽस्तु वनस्पते ॥

वृक्षराज ! वज्र, कुठार, राजा के द्वारा भेजा गया दण्ड और आंधियाँ तुम्हें हानि न पहुँचायें । तुम्हारे अङ्कुर निकलें; इन्द्र निर्वात वातावरण में वर्षा कर तुम्हें बढ़ने में सहायता करे । अग्निदेव तुम्हारे मूल को नष्ट न करें । ओ वनस्पति ! तुम्हारा और हमारा सर्वथा कल्याण हो ।

७. प्रतीकं मे विचक्षण······तन्मे मनसि तिष्ठतु ॥

हे वेदपुरुष ! मेरा मुख शब्दों का शुद्ध उच्चारण करे, रसना मधुमयी हो, शब्द सरस हों, कानों की श्रवणशक्ति प्रचुर रूप से अक्षुण्ण रहे । मेरी अर्जित विद्या को तुम न छीनो । तुम वेद की प्रतिष्ठान भूमि हो, शब्दकोश हो, समजीवन हो, अनिष्टशामक हो । तुम मेरे विद्याकोश में प्रवेश कर विद्या को नष्ट होने से बचाओ । मैं, तुम्हें अपनी वाणी से आवृत करता हूँ । मुझमें उदात्तादि स्वर, हृदयादि वाणी के आठ-उत्पत्ति-स्थान, और कण्ठ्य-हृद्य-दन्त्य-ओष्ठ्य ध्वनियों को ग्रहण करने तथा

उच्चारण करने की क्षमता बनी रहे। मेरे अङ्ग, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, यश और बल सुरक्षित रहें—भरे-पूरे रहें। सुनकर अर्जित किया गया मेरा ज्ञान और पठित विद्या—सब यथावत् रूप से मेरे ज्ञान-कोश में विद्यमान रहे, नष्ट न हो।

इति त्रिवेदश्रीमन्मातृदत्तस्यान्तेवासिना, साहित्यव्याकरणादिविविधविद्या-
विभूषिताचार्य-केशवरामपाण्डेय-सुतेन ओमुप्रकाशपाण्डेयेन विरचिता
पारस्करगृह्यसूत्रस्य रहस्यप्रकाशिका 'सरला'ऽऽख्या
हिन्दी व्याख्या पूर्णा॥

तृतीयकाण्डः समाप्तः

—❀:०:❀—

प्रतीकशः उद्धृत मन्त्रों के अर्थ

प्रथम काण्ड

१. अद्भ्यः संभृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ ।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्व॑मा॒जान॒मग्रे॑ ॥

य. सं. ३१-१७

(पा० गृ० सू० १.१४)

प्रजापति, त्रिष्टुप्, आदित्य ।

—[पूर्वकल्प में सूर्य ने पुरुषमेध का अनुष्ठान किया था, उसके फलस्वरूप ही उसे वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है—प्रकृत मन्त्र में इस घटना का याज्ञिक दृष्टि से उल्लेख किया गया है ।]

पुराकाल में जल और पृथ्वी प्रभृति [पञ्चमहाभूतों से परिपुष्ट और विश्वकर्मा-काल की प्रीतिवश उत्पन्न रस रूप को धारण कर आदित्य प्रतिदिन पूर्वदिशा में उदय होता है; मर्त्यमानव ने प्रारम्भ में इसी प्रकार से पुरुषमेध का अनुष्ठान कर देवताओं के मध्य सूर्यरूप में प्रमुख स्थान प्राप्त किया था ।

२. 'आपो हि ष्ठा···' प्रभृति ३ ऋचायें । (पा. गृ. सू. १.८)

(१) आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन । म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥ य. सं. ११-५० ।

सिन्धुद्वीप, गायत्री, जल ।

—जल के अधिष्ठाता देव ! तुम सुखप्रद हो, हमें रसोपभोग का अधिकारी बनाओ । [तुम्हारे अनुग्रह और अपने श्रम से] हम महिमामय, श्रेष्ठ और ब्रह्म साक्षात्कार करने के योग्य बनें ।

(२) यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ । उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ ५१ ॥

वही ।

—जैसे पुत्र की कल्याण-कामना करती हुई माँ उसे अपने स्तनों से दूध पिलाती है, वैसे ही तुम भी हमें अपने परम मंगलमय और हितकारी रस के उपभोग का यहाँ अधिकारी बनाओ।

(३) तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ५२ ॥

वही।

—तुम्हारे रस का सेवनकर हम छक जायें; तुम हमारे आगार को स्निग्ध और आनन्दमय बनाओ। [तुम्हारी कृपा से हम] सन्तानोत्पादन में समर्थ हों।

३. आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ य. सं. १२.११ ॥

(पा० गृ० सू० १.१०)

ध्रुव, अनुष्टुप्, अग्नि।

—हे अग्निदेव ! तुम्हें यहाँ मैं लाया हूँ। इस राष्ट्र के अन्तःकरण में तुम सर्वथा अटल और अविचलित भाव से निवास करो। यहाँ की सम्पूर्ण प्रजा तुम्हें चाहती है। तुम सदैव इसके हित-साधन में तत्पर रहो, ताकि यह राष्ट्र और यह जनपद कभी श्रीहीन न हो।

अविचाचलिः—'अत्यन्तं चलनरहितः, विचलतीति विचाचलिः'-महीधर।

४. इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहा ॥

(य. सं. ८-५१)

(पा० गृ० सू० १.१०; ३.९)

देव, यजुष्, पशु।

गायों ! तुम इन्हीं यजमानों से प्रीति करती हुई सानन्द खेलो-कूदो और तुष्ट-तृप्त रहो। हम भी संतुष्ट रहें। अग्निदेव हमें पार्थिव अग्नि के समीप ले जायें। वे धरती पर उत्पन्न हविष्यान्न का भक्षण करते हुए हमें पुत्र-पौत्र और धन-समृद्धि से सम्पन्न करें। उनके लिये यह हवि समर्पित है।

५. इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये। उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्समुद्रियꣳ सदनमाविशस्व ॥ य. सं. १७-८७

(पा. गृ. सू. १.१६)

प्रजापति, त्रिष्टुप्, अग्नि।

अग्निदेव ! इस धरा पर तुम स्तनाकृति स्रुवा से बहती हुई अजस्र रसमयी घृतधार पियो। तुम्हारी सर्वत्र अप्रतिहत गति है; तुम मधुर रस का सेवन करके ही समुद्र के गर्भ में स्थित अपने आवास में पुनः प्रवेश करो।

६. एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥

य. सं. ८-२८।

(पा. गृ. सू. १.१६)

प्रजापति, महापंक्ति, गर्भ।

दस मास का पूर्ण अवयवों वाला गर्भगत बालक अपने जरायु (गर्भवेष्टन) के साथ हिले-डुले। जैसे हवा चलती रहती है, समुद्र चलायमान है, ठीक उसी प्रकार से दस महीने का यह गर्भगत बालक भी जरायु के साथ (मां के उदर से) बाहर निकल आये।

७. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ य. सं. ३६-२४।

(पा. गृ. सू. १.१७)

ब्रह्मा, त्रिष्टुप्, सूर्य।

संसार का नेत्रस्वरूप सूर्य दैवी गुणयुक्त पुरुषों का हितैषी है। यह पूर्व दिशा में उदित होता है, शुक्ल वर्ण है। इसकी सत्कृपा से हमारे नेत्र, कान और वाणी स्वस्थ रहे—हम १०० वर्ष तक किसी के सामने दैन्य-प्रदर्शन न करते हुए स्वस्थ और समृद्ध रहें।

८. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ य. सं. ३-६२

(पा. गृ. सू. १.१६)

नारायण, उष्णिक्, आशीर्देवता।

जमदग्नि और कश्यप आदि ऋषियों तथा देवताओं की तीनों अवस्थाओं का सारभूत अंश हमें प्राप्त हो।

९. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ॥

(पा. गृ. सू. १.३)

प्रजापति, गायत्री, सूर्य ।

मधुपर्क के अधिष्ठाता देव ! मैं तुम्हें ऐश्वर्य के निमित्त सूर्य की आज्ञा, अश्विनी-कुमारों की बाहुओं तथा पूषन् की भुजाओं से ग्रहण करता हूँ ।

१०. परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा ँ रीरिषो मोत वीरान् ॥

य. सं. ३५-७ ॥

(पा. गृ. सू. १.५)

संकसुक, त्रिष्टुप्, मृत्यु ।

मृत्युदेव ! तुम देवयान (देवताओं के मार्ग) से नहीं, अन्य उत्तम और हिंसारहित मार्ग (पितृयान) से जाओ । तुम (सम्पूर्ण लोक-व्यवहार के) द्रष्टा और श्रोता हो, (कुछ भी तो ऐसा नहीं जो तुमने न देखा–सुना हो) । मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम हमारी सन्तानों और अन्य स्वजनों की हिंसा न करो ।

चक्षुष्मते शृण्वते—विभक्ति-विपरिणमन का उदाहरण षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का उदाहरण ।

११. प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्प्रति प्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावा-पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ॥ य. सं. २०.१० ॥

(पा. गृ. सू. १.१०)

प्रजापति, अतिशक्वरी, विश्वेदेव ।

राष्ट्र के शूर-वीरों के मध्य मेरी प्रतिष्ठा बनी रहे; मेरी अश्व और गोसंपदा, शारीरिक अवयव, आत्मबल और प्राणशक्ति अक्षुण्ण रहे । सर्वथा स्वस्थ और सामर्थ्यसम्पन्न रहकर मैं द्युलोक और पृथ्वी के मध्य सामाजिक कल्याण-कार्यों में निरत रहूँ ।

१२. मधुमती ऋचायें

(पा. गृ. सू. १.३)

(१) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ य. सं. १३-२७ ।

गोतम, गायत्री, विश्वेदेव ।

मधुमय पवन बहे, नदियों में मधुर जल-स्राव हो, वनस्पतियाँ हमारे लिए माधुर्य-समन्वित हो उठें ।

(२) मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ य. सं. १३-२८ ॥

वही ।

रात्रि और उषस् मधुमयी हों, पृथ्वी सरस हो । हमारा पितृवत् परिपालक द्युलोक भी मधुर हो जाये ।

(३) मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँऽअस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ य. सं. १३-२९ ॥

वही ।

ओषधियों का स्वामी सोम हमारे लिए रसवान् हो; सूर्य संतापरहित और आनन्दकर हो; गायें हमें मीठा-मीठा दूध दें ।

१३. मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे ।

(यह मंत्र शुक्लयजुर्वेद संहिता में अप्राप्य है; विश्वनाथ के कथन से भी इसकी पुष्टि होती है । कात्यायन श्रौतसूत्र २.२.१२ में यह प्राशित्र-प्रतीक्षण के अन्तर्गत विनियुक्त है । वहीं से यह यहाँ लिया गया है । अर्थ सरल ही है) ।

१४. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ य. सं. ३८-५ ।

(पा. गृ. सू. १.१६)

दीर्घतमा, त्रिष्टुप्, वाक् ।

माँ सरस्वति ! तुम हमें अपने उस स्तन से दूध पिलाओ, जो अभुक्त, सुखद, रत्नराशियों का केन्द्र, धनज्ञ और उदार दानी है; जिस स्तन से तुम विश्व की सभी श्रेष्ठ और रमणीय वस्तुओं को पुष्ट करती हो । मैं तुम्हारे उसी स्तन (और अपने जीवन-स्रोत) को विशाल अन्तरिक्ष में खोज रहा हूँ ।

१५. यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी । अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमँ स्वाहा ॥ य. सं. ८-२९ ॥

(पा. गृ. सू. १–१६)

प्रजापति, अनुष्टुप्, वशा ।

यह गर्भस्थ बालक यज्ञोपयोगी है और इसका उत्पत्तिस्थान स्वर्णिम; इसके अङ्ग अक्षत रहें—हमने इसे इसकी जननी के योगदान से उत्पन्न किया है ।

(उवट और महीधर ने इस मंत्र की व्याख्या कात्यायन श्रौतसूत्र (२५.१०.११) में आये 'अवदानान्यनुजुहोति यस्यै त' अर्थात् 'वशा के देह-खण्डों का होम कर गर्भस्थ रक्त की आहुति दी जाये' के सन्दर्भ में की है, जो उचित नहीं प्रतीत होती—फिर उस अर्थ में खींच-तान भी बहुत है) ।

१६. राष्ट्रभृत् संज्ञक आहुतियों के मन्त्र (पा. गृ. सू. १-५)

(१) ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥

य. सं. १८-३८ ॥

(पा. गृ. सू. १.५)

देव ऋषि, यजुष्, पूर्वार्ध के देवता गन्धर्व, उत्तरार्द्ध की अप्सरायें ।

(यह आहुति हम) सत्यसहिष्णु (असत्य पर क्रुद्ध होनेवाले), और सत्याश्रयी अग्निगन्धर्व के निमित्त अर्पित करते हैं—वे विचारशील और सबल व्यक्तियों की रक्षा करें । वे विविध धान्यों और वनस्पतियों का उपभोग कर अप्सराओं की भाँति प्रसन्न रहते हैं ।

(२) सँहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥

वही ।

—[निरन्तर] सन्नद्ध रहने वाले और सर्वसामस्वरूप सूर्य गन्धर्व की मरीचि नाम्नी अप्सरायें सर्वत्र व्याप्त हो रही हैं । सूर्य गन्धर्व विचारकों और सैनिकों की रक्षा करें ।

(३) सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥

वही ।

—चन्द्रमा गन्धर्व सुषुम्ना नाम्नी सूर्य की प्रमुख किरण से संयुक्त है। दीप्तिमयी 'भेकुरा' नाम्नी नक्षत्रमालिका ही उसकी अप्सरायें हैं। शेष पूर्ववत् ।

सुषुम्णः—'शोभनं सुम्नं सुखं यस्मात् सुयज्ञियः यज्ञद्वारा सुखप्रदः'—महीधर ।

भेकुरयः—'भां कान्ति कुर्वन्तीति भेकुरयः'—महीधर ।

(४) इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥४१॥

वही ।

—आशुगामी वायुगन्धर्व की गति सर्वत्र अप्रतिहत है। अन्न-उत्पादन करने वाली जलीय शक्ति ही उसकी अप्सरा है।

✓इषिरः > गतौ से । औणादिक इर प्रत्यय ।

विश्वव्यचा—'विश्वस्मिन् व्यचः गमनं यस्य स विश्वव्यचाः सर्वतो गमनः'—महीधर ।

ऊर्जा—'ऊर्जयन्ति जीवयन्ति धान्योत्पादनेनेत्यूर्जः'—वही ।

(५) भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥४२॥

—यज्ञगन्धर्व सबका भरण-पोषण करता है। उसके पंख सुन्दर हैं। यज्ञ की प्रशंसिका दक्षिणा उसकी अप्सरा है।

भुज्युः—'भुनक्ति पालयति भूतानीति भुज्युः'—महीधर ।

स्तावा—'दक्षिणा वै स्तावा, दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयते'—उवट ।

यज्ञ में जो व्यक्ति पुष्कल दक्षिणा देता है, वह उसकी स्तुति ही करता है।

(६) प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४३ ॥

—मनोगन्धर्व प्रजापालक और समग्र कृत्यों का अधिष्ठाता है। अभीष्ट प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली ऋचायें और साम उसकी अप्सरायें हैं। उनके निमित्त प्रदत्त यह हवि सुहुत हो। वे हमारे ज्ञान और पराक्रम की वृद्धि करें।

एष्टयः—'इष्यते काङ्क्ष्यतेऽभीष्टं याभिस्ता एष्टयः'—महीधर।

(१७) वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ २ ।। ऋतुभिः कल्पयाति। वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ।।

य. सं. १८-३३ ।।

(पा० गृ० सू० १.१९)

प्रजापति, अनुष्टुप् (२) 'अन्नाधिष्ठात्री देवता।

—अन्न के अधिष्ठाता देव आज से अन्न-दान की दृष्टि से हमें पहचान लें; हम अन्न से यथा समय देवताओं को हवियाँ प्रदान करते हैं। अन्नमय ब्रह्म से ही हमारे सभी पुत्र-पौत्रों का जन्म हुआ है। हम अन्न-धन से समृद्ध होकर सभी दिशाओं में विजयी बनें।

१८. वात्सप्र अनुवाक् की १२ ऋचायें। य. सं. १२.१८-२८ ।।

(पा० गृ० सू० १.१६)

वात्सप्रीभालन्दन, त्रिष्टुप्, अग्नि।

(१) दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद्द्वितीयं परिजातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ।।

—अग्निदेव सर्वप्रथम द्युलोक के ऊपर सूर्य रूप में उत्पन्न हुए; हमारे समीप मनुष्य-लोक में जातवेदस् अग्नि की दूसरी उत्पत्ति हुई, तीसरी बार मानव-कल्याण कामी प्रजापति ने उन्हें समुद्र वड़वानल के रूप में प्रकट किया। स्वाधीन और सद्-बुद्धिशील मनुष्य ऐसे बहुजन्मा अग्नि को आजीवन प्रदीप्त करें।

(२) विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा। विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ।।

—अग्निदेव! [पूर्वोक्त मन्त्र में वर्णित] तुम्हारे तीनों रूपों [अग्नि, वायु और सूर्य या आदित्य, पार्थिवाग्नि और वड़वानल] को हम जानते हैं; तुम्हारे [गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्य और पाक प्रभृति] विभिन्न निवास-स्थान भी हमें ज्ञात हैं, तुम्हारे उत्कृष्ट एवं रहस्यमय नामों से भी हम परिचित हैं और हमें जल के मध्य में स्थित तुम्हारा वह स्थान भी विदित है—जहाँ से तुम विद्युत् रूप में आया करते हो।

(३) समुद्रे त्वा नमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाꣳसमपामुपस्थे महिषा अवर्धयन् ॥

—अग्निदेव ! पहले मानव-मना प्रजापति ने तुम्हें समुद्र में बड़वानल के रूप में प्रदीप्त किया था; मनुष्यों को मन्त्र का रहस्य-बोध कराने वाले प्रजापति ने तुम्हें तब प्रज्वलित किया, जब तुम मेदुर मेघ-मालाओं के मध्य बिजली के रूप में अवस्थित थे—फिर तीसरी बार भी प्रजापति ने ही तुम्हें रञ्जनात्मक तेजो-मण्डल के मध्य स्थित सूर्य के रूप में प्रज्वलित किया, जलराशि की गोद में रहते हुए तुम्हारा महाप्राण पुरुषों ने ही संवर्धन भी किया ।

(४) अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् । सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥

—अग्नि मेघ-निर्घोष की भाँति सम्पूर्ण भूमण्डल को गुंजाती हुई और अपनी ज्वालाओं से वनस्पतियों को व्याप्त करती हुई विस्फूर्जित हो रही है । अग्नि ने उत्पन्न होते ही तत्काल प्रदीप्त होकर विभिन्न पदार्थों पर अपना आलोक छिटका दिया । द्यावापृथिवी के मध्य में स्थित इस अग्नि की अर्चियाँ सूर्यरश्मियों के सब ओर फैल रही हैं ।

(५) श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः । वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्र उषसामिधानः ॥

—अग्निदेव उदारतापूर्वक सम्पत्ति-दान करने वाले, वैभवशाली, मनोकामनाओं के पूरक और यजमान के द्वारा अनुष्ठित सोमयाग के रक्षक हैं । वे ताप पाक और आलोक-दान के द्वारा मनुष्यों के उपकारक, बल-पुत्र और बादलों के मध्य बिजली बनकर चमकने वाले हैं; प्रातःकाल सूर्यरूप में वे अपनी रश्मियों से सर्वत्र आलोक बिखेर देते हैं ।

वसु—'वसुः सर्वस्य निवास हेतुः । वासयतीति वसुः । यद्वा वसुः धनरूपः यथान्यानि शयनासनरथादिधनान्युपकुर्वन्ति तथायमपि तापपाकप्रकाशैर्जनानामुपकर्ता'—महीधर ।

(६) विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत्परायन्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥

निषादसहित पाँचों वर्णों के लोगों ने जिन अग्निदेव के यज्ञ का अनुष्ठान किया था, वे प्राणिमात्र के विज्ञानस्वरूप हैं; प्राणवायु के रूप में सबके अन्तःकरण में

सञ्चरणशील और द्युलोक से पृथिवी तक सर्वत्र अपने तेज को बिखेरनेवाले हैं। अन्तरिक्ष में आरोहण कर उन्होंने ही इन्द्र के रूप में सुदृढ़ पर्वतों और मेघमालाओं को विदीर्ण किया।

(७) उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि। इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥

(देवताओं ने जिस) कान्त-कमनीय, पावयिता, दुष्टों को प्रश्रय न देनेवाले, मेधावी और अमरणधर्मा अग्नि की स्थापना मनुष्यों के अन्तःकरण में की थी, वे विश्व का भरण-पोषण कर अपने विमल प्रभा-पुञ्ज से आकाश को व्याप्त करते हुए अरुचिकर धुयें को ऊपर ले जाते हैं।

अरतिः—'अलंमतिः पर्याप्तमतिः'–उवट। 'दुष्टेष्वरतिः प्रीतिरहितः'- महीधर।

(८) दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुमर्षमायुः श्रिये रुचानः। अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥

पराक्रमी देवों के द्वारा उत्पन्न यह दृश्यमान अक्षय अग्नि आयुष्कर वस्तुओं का सेवन करने के कारण अमर हो गई है—अब यह बुझ नहीं सकती। इसके अजस्र आलोक से पृथ्वी चमक उठी है, हम समृद्धि और सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए इसे निरन्तर प्रज्वलित किए रहेंगे—कभी बुझने न देंगे।

रुक्म—उवट और महीधर ने श्रौतसूत्रगत विनियोग के सन्दर्भ में रुक्म को आभूषण विशेष मानकर सभी विशेषणों को उससे सम्बद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु उस अर्थ में खींच-तान बहुत है; कोई रमणीयता भी नहीं है—इसीलिए यहाँ 'रुक्म' का अर्थ 'अजस्र आलोक' किया गया है।

(९) यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभिसुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥

मंगलमयी अर्चियों से मण्डित और तरुणों में सर्वश्रेष्ठ तरुण अग्निदेव! आज तुम्हें जो व्यक्ति घृताक्त पुये अर्पित कर रहा है, तुम उसे उत्कृष्ट, सुखद और देवोपयोगी आगार प्रदान करो।

(१०) आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थ उक्थ आ भज शस्यमाने। प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥

अग्निदेव! कीर्तिकर यज्ञों में निष्केवल्य और प्रगाथादि उक्थों का शंसन होने पर आप उन्हें स्वीकार कीजिए, उनका सेवन कीजिए। सूर्य को यजमान प्रिय है,

अग्नि का भी उस पर अनुराग है; वह भूत और भावी पुत्रों से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों की उपलब्धि करता है; वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है।

(११) त्वाम॑ग्ने यज॑माना॒ अनु॒ द्यून्विश्वा॒ वसु॑ दधिरे॒ वार्या॑णि।
त्वया॑ स॒ह द्र॑विणमि॒च्छमा॑ना व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥

अग्निदेव ! यजमान तुमसे प्रतिदिन नानाविध श्रेष्ठ सम्पदा पाते हैं। तुम्हारे साहचर्य के साथ ही द्रव्य की भी कामना करते हुए उन मेधावी जनों ने आदित्य-मण्डल के मध्य रश्मि-संवलित देवयान मार्ग बना दिया है।

१९. हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ आसीत्।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥

य. सं. १३-४ ॥

(पा० गृ० सू० १.१४)

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, त्रिष्टुप्।

—सृष्टि से पूर्व सर्वप्रथम स्वर्णिम ब्रह्माण्ड से उत्पन्न प्रजापति ही अकेले प्राणिमात्र का पालक सिद्ध हुआ। उसी ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को धारण कर रखा है—हम उस सुखस्वरूप दीपनद्योतनशील और अन्य दैवी गुणों से युक्त पुरुष को हवियाँ अर्पित करते हैं।

—❀❀—

द्वितीय काण्ड

१. 'आयात्विन्द्र' प्रभृति अष्टर्च अनुवाक्। य. सं. २०.४७-५४।

(पा. गृ. सू. २. १६)

४७-४९ वामदेव, ५०-५२ गर्ग, ५३ विश्वामित्र, ५४ वसिष्ठ। इन्द्र। त्रिष्टुप्।

(१) आ या॒त्विन्द्रोऽव॑स॒ उप॑ न इ॒ह स्तु॒तः स॑ध॒माद॑स्तु॒ शूरः॑।
वा॒वृ॒धा॒नस्तवि॑षी॒र्यस्य॑ पू॒र्वीर्द्यौर्न क्ष॒त्रम॒भिभू॑ति॒ पुष्या॑त् ॥

जिन महावीर इन्द्र के (वृत्रवधादि) पूर्व पराक्रमों की चर्चा स्वर्ग की भांति होती है और जो हमारे पोषक हैं, वे स्तुतियों से उत्साहित होकर हमारी रक्षा-हेतु यहां आयें और अन्य देवों के साथ हमें संतुष्ट करें।

(२) आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः । ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ।। ४८ ।।

अनेक संग्रामों में एक साथ शत्रुओं के संहारक, नेता, महाशूर, अभीष्टप्रद, उग्र और हाथ में वज्र लिये हुए इन्द्रदेव यदि कहीं दूर भी हों तो हमारी रक्षा करने के लिए आयें, निकट से तो आयें ही ।

(३) आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च । तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ ।। ४९ ।।

वज्रधारी, धनवान और प्रचण्ड उत्साही इन्द्र हमारी रक्षा, समृद्धि और कीर्ति के हेतु हरे रंग के अश्वों पर आरूढ़ होकर यज्ञशाला में सामने से आयें ।

(४) त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्र ँ हवे हवे सुहव ँ शूरमिन्द्रम् । ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्र ँ स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः ।। ५० ।।

हम अपने प्रत्येक यज्ञ में रक्षक और आनन्द कर इन्द्र का आह्वान करते हैं; उनका आह्वान सुखद है; वीरों में वे अग्रणी हैं, समर्थ हैं—उन्होंने स्वयं अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया है हम उन्हें बुलाते हैं । मघवा इन्द्र हमें कल्याण की ओर प्रेरित करें ।

(५) इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ २ ।। अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ।। ५१ ।।

इन्द्रदेव उत्तम रक्षक, धनवान एवं सर्वज्ञ हैं—वे अपने रक्षा-साधनों से हम पर मँडरा रही दुर्भाग्य की छाया को दूर कर हमें निर्भय बना दें; उनके अनुग्रह से हम भी शक्तिशाली बनें ।

(६) तस्य वय ँ सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम । स सुत्रामा स्ववाँ २ ।। इन्द्रो अस्मे आराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु ।।५२।।

अपने कल्याण और मनोस्वास्थ्य के निमित्त हम यज्ञ-संपादक इन्द्र के बुद्धिवल पर विश्वास करें; वे उत्तम रक्षक और समृद्धि के अधिष्ठाता हैं—वे हमारे दुर्भाग्य को भी समाप्त कर दें ।

(७) आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः । मा त्वा केचिन्नियमन् विं न पाशिनोऽतिधन्वेव ताँ २ ।। इहि ।। ५३ ।।

इन्द्र ! तुम गम्भीर ध्वनि करनेवाले और मयूर के सदृश रोमोंवाले हरे रंग के अश्वों पर आरूढ़ होकर उसी प्रकार से यहाँ आओ, जैसे पथिक वीहड़ मरुभूमि के पार चला जाता है। तुम्हें किसी का अनुरोध यात्रा से विमुख न करे।

(८) एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः। स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५४ ॥

वृष्टि करनेवाले और वज्रबाहु इन्द्र की स्तुति वसिष्ठ की सन्तानें अपने मंत्रों से कर रही हैं इन्द्र ! अपनी इन स्तुतियों को सुनकर तुम हमें पुत्र-पौत्र और पशु-सम्पदा प्रदान करो। यज्ञ के ऋत्विजों ! तुम अपनी कल्याणमयी वाणी और यज्ञ के शुभकर्मों से निरन्तर हमें अशुभ-अमंगल की छाया से बचाते रहो।

२. एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयसा च प्यासिषीमहि ॥ य. सं. २–१४।

(पा. गृ. सू. २.४.)

प्रकृति, अनुष्टुप्, अग्नि।

अग्निदेव ! यह तुम्हारी समित् है—तुम इससे बढ़ो, हमें भी बढ़ाओ। बढ़कर अपने पुत्र-पौत्रों को विकास की दिशा में अग्रसर करें।

३. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ य. सं. ३–५५ ॥

(पा. गृ. सू. २.३)

विश्वामित्र, गायत्री, सविता।

हम उस जगत्स्रष्टा देवता के वरण करने योग्य तेज का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे।

सवितुः—'प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तरपुरुषस्य वा ब्रह्मणः'—उवट—महीधर।

'सब जगत् को उत्पन्न करनेवाला और ऐश्वर्य प्रदान करनेवाला'—दयानन्द।

भर्गः—'भर्गशब्दो वीर्यवचनः। 'वरुणाद्धवा अभिषिषिचानाद्भर्गोऽपचक्राम वीर्यं वै भर्गः'—इति श्रुतिः तेन हि पापं भृज्जति दहति। √भृजी>भर्जने। अथवा भर्गस्तेजोवचनः। यद्वा मण्डलं पुरुषो रश्मय इत्येतत्त्रितयमभिप्रेयते'—उवट।

'सर्वपापानां सर्वसंस्मरस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दादिवेदान्तप्रतिपाद्यं'—महीधर।

'शुद्ध विज्ञानस्वरूप'—दयानन्द।

धीमहि—√ध्यै>चिन्तायाम्। 'ध्यायामः चिन्तयामः निदिध्यासं तद्विषयं कुर्मः'—उवट, महीधर।

'हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय करके अपनी आत्मा में धारण करें'—दयानन्द।

४. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत्प्रण आयूंषि तारिषत्॥ य. सं. २३-३२॥

(पा. गृ. सू. २.१२)

वामदेवात्मज दधिक्राव, अनुष्टुप्, अश्व।

इस दधि-भक्षण कर छलांग लगानेवाले एवं जयिष्णु अश्व (को सुपथ पर चलाने के लिए जाने या अनजाने हमने अश्लील-भाषण) किया है, (उससे हमारे मुख दुर्गन्धित हो उठे हैं, इस दधि-भक्षण से) वे (मुख) सुगन्धित हो उठें और हमारी आयु भी बढ़ जाये।

विशेष—उवट और महीधर ने इस मंत्र की व्याख्या अश्वमेध के उस प्रसंग में की है, जब अश्व के समीप लेटी हुई यजमान-पत्नी को उठाकर अध्वर्यु आदि ऋत्विक् मंत्र-पाठ करते हैं—'महिषीमुत्थाप्य पुरुषा दधिक्राव्ण इत्याहुः'—(का. श्रौ. सू. २०. ६. २१)।

श्रौतसूत्र के सन्दर्भ में उवट और महीधरकृत अर्थ परम्परागत होने पर भी यहाँ अनुपयोगी है। पारस्करगृह्यसूत्रकार के द्वारा दधि-भक्षण के प्रसंग में इसका विनियोग करने के कारण ज्ञात होता है कि इसका कोई अर्थ इस परम्परा में भी प्रचलित रहा है—हमने उसी अर्थ के मूल तक जाने की चेष्टा की है।

५. देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥

य. सं. ११-७॥

(पा. गृ. सू. २.२)

बृहस्पति, त्रिष्टुप्, सविता।

हे सवितृदेव! आप यज्ञ-प्रवर्तन कर यजमान को सौभाग्य की कामना से यज्ञानुष्ठान हेतु प्रेरित कीजिए। स्वर्गस्थ केतपूगन्धर्व हमारी वाणी को शुद्ध-पवित्र करें। वाणी के अधिष्ठाता सवितृदेव हमारी प्रार्थना सुनें।

विशेष—यजुर्वेद में यह मंत्र तीन स्थानों पर पठित हैं—९.१;११.७;३०.१। इनमें से दो स्थानों पर 'वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु' पाठ है किन्तु एक स्थान पर

(९. १) पर 'वाचं' न होकर 'वाजं' है। वहाँ इसका अर्थ है—'प्रजापति हमारे द्वारा प्रदत्त हविष्यान्न का रसास्वादन करें।' उवट ने 'केतपूः' एवं 'भतं' का भी वहाँ भिन्न अर्थ किया है—'गवां वाचां रश्मीनां वा धारयिता केतपूः। केतशब्देनान्नमुच्यते, अन्नस्य पविता।'

महीधर भी वहाँ उवटकृत अर्थ से सहमत हैं, किन्तु ११.७ पर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से इसका अर्थ किया है—'केतं परचित्ते वर्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति केतपूः ईदृशो गन्धर्वः।'

६. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥ य. सं. २०–२९॥

(पा० गृ० सू० २.१४)

विश्वामित्र, गायत्री, इन्द्र।

—इन्द्रदेव! आप हमारी प्रातःकालीन स्तुतियों को सुनिये। स्तुति के साथ ही हम आपको धान, करम्भ (दही मिला आटा) और अपूप भी अर्पित कर रहे हैं—इनका भी आप सेवन कीजिए।

७. नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥

या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ२ऽरनु। ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ य. सं. १३.६–८॥

(पा० गृ० सू० २.१४)

प्रजापति, अनुष्टुप्, सर्प।

—उन सभी सर्पों को नमन, जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में रहते हैं।

उन्हें भी नमन जिन्हें राक्षस बाण के रूप में प्रयुक्त करते हैं, जो वृक्षों की शाखाओं और मूलों में लिपटे रहते हैं और जो बिलों में शान्तिपूर्वक सोते हैं।

[और अन्त में] हम उन सभी सर्पों को प्रणाम करते हैं जो दीप्तिमय द्युलोक और सूर्य की किरणों के अन्तराल में दिखा देते हैं, जिनका निवास जल में है।

८. विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे । विनाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥ य. सं. १२-३ ॥

(पा० गृ० सू० २.३)

प्रजापति, जगती, सविता ।

—सवितृदेव क्रान्तदर्शी, श्रेष्ठ और विद्वान् हैं; वे संसार की विभिन्न वस्तुओं पर छाये अन्धकार का निराकरण कर उन्हें आलोकित कर देते हैं—दोपाये और चौपाये सभी प्राणियों को वे कल्याणकार्यों की ओर प्रेरित करते हैं। उन्होंने स्वर्ग को विशेषरूप से प्रकाशित किया है। उषःकाल के बीत जाने पर उनका तेज प्रखर हो उठता है।

९. शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥

य. सं. ९-१६ ॥

(पा० गृ० सू० २.१०)

वसिष्ठ, विराड, अश्व ।

—वृक नामक जङ्गली अश्वों और राक्षसों का संहारकरनेवाले चमचमाते घोड़े देव-यज्ञों में देवताओं का आह्वान करते समय हमें सुख-शान्ति प्रदान करें; वे हमारे कष्टों और व्याधियों को शीघ्र दूर कर दें।

१०. शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः । निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ य. सं. ३–६३ ॥

(पा० गृ० सू० २.१)

प्रजापति, प्राजापत्या बृहती, क्षुर ।

—ऐ छुरे, तुम्हारा नाम शिव है, तुम नाम से ही शान्तिस्वरूप हो। वज्र तुम्हारा पिता है, तुम्हें नमस्कार ! [और देखो, इस शिशु के सिर में] चोट न लगने पाये। मैं दीर्घजीवन, अन्नोपभोगक्षमता, प्रजननशक्ति, समृद्धि, सन्तानों और बल-विक्रम से इसे युक्त करने के लिए इसका मुण्डन कर रहा हूं।

११. 'शुक्रंज्योति' प्रभृति सप्तर्च अनुवाक् । यः सं. १७.८०–८६ ॥

(पा० गृ० सू० २.१०)

परमेष्ठी। ८० आर्षी उष्णिक्, ८१-८२ आर्षी गायत्री, ८३ भुरिक् आर्षी उष्णिक्, ८४ निचृदार्षी जगती, ८५ स्वराड् आर्षी गायत्री, ८६ निचृद् शक्वरी। ८०-८४ मरुद्गण ८५ चातुर्मास्य, ८६ विश्वकर्मा।

(१) शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च। शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यँहाः ॥ ८० ॥

शुक्रज्योति (शुक्ल या शुद्ध ज्योति), चित्रज्योति, सत्यज्योति, ज्योतिष्मान्, शुक्र, ऋतपा और अत्यंहा [नामक सात मरुत् देवता इस यज्ञ में आकर अपना भाग ग्रहण करें]।

(२) ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ्। मितश्च संमितश्च सभराः ॥

—ईदृङ् (इधर देखनेवाले), अन्यादृङ् (अन्य ओर देखनेवाले), सदृङ् (समदर्शी), प्रतिसदृङ् (सापेक्ष समदर्शी), मित (मानयुक्त) और संमित (सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित) मरुतों [का गण यहाँ पधारे]।

(३) ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च। धर्ता च विधर्ता च विधारयः ॥ ८२ ॥

—ऋत, सत्य, ध्रुव, धरुण (धारक), धर्ता, विधर्ता और विभिन्न वस्तुओं को धारण करनेवाले विधारी मरुतों का गण [यहाँ आकर अपना अंश स्वीकार करें]।

(४) ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च। अन्तिमित्रश्च दूरे अमित्रश्च गणः ॥ ८३ ॥

—ऋतजित (यज्ञजयी), सत्यजेता, शत्रुसैन्यजयी, सैन्य-अधिष्ठाता, मित्रों से युक्त और शत्रुओं को दूर भगा देने वाले मरुतों का गण [यहाँ पधारे]।

(५) ईदृक्षास एतादृक्षासऊ षुणः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन। मितासश्च संमितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥ ८४ ॥

—ओ मरुतों ! तुम सभी सजीव-निर्जीव वस्तुओं को देखनेवाले, समदर्शी और प्रतिसमदर्शी हो; तुम एक ही प्रकार के आभूषण पहनते हो—इस यज्ञ में पधारो।

(६) स्वतवांश्च प्रघासी च सांतपनश्च गृहमेधी च। क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ ८५ ॥

—स्वाधीनवलशाली, यज्ञान्नसेवी, सूर्य से सम्बन्धित, गृहस्थ धर्म के परिपालक, खिलाड़ी, सशक्तसमर्थ एवं महाविजयी मरुतों का गण यहाँ पधारे।

(७) [उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥]

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्। एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥ ८६ ॥

(पा० गृ० सू० २.१५)

—[उग्र, भयंकर, शत्रुओं को अंधा कर देने वाले, भयकम्पित और पराजित कर पलायन के लिए उन्हें विवश कर देनेवाले मरुतों का गण यहाँ पधारे]

मरूद्गाण देवलोक की प्रजा है, उसने [पहले इन्द्र का अनुगमन किया था, जैसे मरुद्गाण इन्द्र का अनुयायी है, ठीक वैसे ही ये मानुषी प्रजायें शुभकर्म करनेवाले का अनुगमन करें।

१२. शुनᳪ सुफाला विकृषन्तु भूमिᳪ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे ॥

य. सं. १२–६९ ॥

(पा. गृ. सू. २.१३)

कुमारहारित, त्रिष्टुप्, सीता।

हलधर कृषक सुन्दरफालयुक्त हलों से बैलों को कष्ट न देते हुए आराम से धरती को जोतें। वायु और सूर्य हविष्यान्न से संतुष्ट होकर यजमान की इस फसल को पानी से सींच-सींचकर प्रचुर फल वाली कर दें।

१३. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषᳪ स्वाहा ॥ य. सं. ३२–१३ ॥

(पा. गृ. सू. २.१०)

ब्रह्मा, गायत्री, सदसस्पति।

हम उन अग्निदेव से द्रव्य और मेधा की याचना करते हैं जो यज्ञशाला के पालक, असीमशक्तिशाली तथा इन्द्र के प्रिय मित्र हैं।

१४. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥ य. सं. १२–६७ ॥

(पा. गृ. सूत्र. २.१३)

बुध, गायत्री, सीर देवता ।

धैर्यशाली कृषिविशेषज्ञ दैवीगुणों से युक्त जनों को सुखी करने के लिए पृथक्-पृथक् बैलों की जोड़ियाँ हल में नद्धें ।

—❀❀—

तृतीय काण्ड

१. अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्र प्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ य. सं. ११–८३ ॥

(पा. गृ. सू. ३.१)

प्रजापति, बृहती, यजमान और पुरोहित ।

अन्नपति अग्निदेव ! हमें अव्याधिकर और जीवनी शक्ति समन्वित अन्न प्रदान कीजिए—अन्नदानियों की संख्या बढ़ाइए । हमारे स्वजनों और पशुओं को भी आप इसी भाँति अन्न-धन से तृप्त कीजिए ।

यमगाथा—कर्क, जयराम और हरिहर ने तो यमगाथा दी नहीं है—हाँ, विश्वनाथ ने अवश्य यमगाथा के नाम पर एक अनुष्टुप् का उल्लेख किया है—

२. अहरहर्नीयमानो गामश्वं पुरुषं व्रजम् ।
वैवस्वतो न तृप्यति सुरापा इव दुर्मतिः ॥

(पा. गृ. सू. ३–१०)

—यमराज यद्यपि प्रतिदिन मृत प्राणियों को चिरविश्राम हेतु ले जाते हैं, फिर भी वह संतुष्ट नहीं होते । वे उस दुर्बुद्धि मद्यप की भाँति हैं जो सुरापान करते हुए कभी नहीं अघाता ।

३. यमसूक्त । य. सं. ३५ वां अध्याय ।

(पा. गृ. सू. ३–१०)

ऋषि—आदित्य या देव । ७,१५ संकसुक; १० सुचीक; ११ शुनःशेप; १४ प्रस्कण्व; १६–१७ वैखानस; १८ शिरिम्बिठ भारद्वाज, १९ दमन, २१ मेधातिथि ।

देवता—पितर, सविता, वायु और सविता, प्रजापति, यम, विश्वेदेव, आप, कृषीवल, सूर्य, ईश्वर, अग्नि, इन्द्र, जातवेदस्, पृथिवी।

छन्द—१–२, १६, २१–२२ गायत्री; ३,६ उष्णिक्, ४, ५, ८, ११–१४, १७–१८ अनुष्टुप्, ७,१०,१५, १९–२० त्रिष्टुप्, २,९ बृहती।

(१) अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः। अस्य लोकः सुतावतः। द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥

—सोमाभिषवन करनेवाले यजमान के इस क्षेत्र से देवद्वेषी और दुःखद परिजन दूर चले जायें; यम इस यजमान को ऋतुओं और दिन=रात का सालोक्य प्रदान करे।

पणयः—'पणन्ति परद्रव्यैर्व्यवहरन्ति इति पणयोऽसुराः' —महीधर।

(२) सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु। तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः॥

—यजमान! सूर्य इस पृथ्वी पर तुम्हारी देह के लिए स्थान दे – इस (मृत) शरीर (का संस्कार करने) के लिए बैलों को ले चलो (अर्थात् बैलगाड़ी पर रखकर इस शव को श्मशान ले चलो)।

(३) वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। विमुच्यन्तामुस्रियाः॥

—(मां वसुन्धरे!) अग्नि की अर्चियों से वायु तुम्हारे अपद्रव्य को दूर करे, सूर्य के तेज से सविता तुम्हें पवित्र करे। बैल खोल दो।

(४) अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥

—वनस्पतियों! तुम्हारा निवास अश्वत्थ और पलाश में है। फसल कट जाने पर तुम इस यजमान का पोषण करो। तुम्हारे अन्दर सूर्य-रश्मियों से मिली जीवनी-शक्ति निहित है।

(५) सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आवपतु। तस्मै पृथिवि शं भव॥

—(ओ मृतक!) सूर्य तुम्हारी अस्थियों को धरती मां की गोद में अपने इस मृत बेटे की देह को सुख से रखना।

(६) प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ । अप नः शोशुचदघम् ॥

—देवदत्त ! मैं तुम्हें जलाशय के समीप प्रजापति देवता के क्रोड में रख रहा हूं—वे हमारे पापो को भस्मीभूत कर दें ।

(७) व्याख्यात (१.५)

(८) शं वातः श ँ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः । शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभिशूशुचन् ॥

यजमान ! वायु तुम्हें सुखद सिद्ध हो, सूर्य-किरणें और इष्टकायें भी सुखकारी हों । पार्थिव अग्नियाँ भी सताये बिना तुम्हारा कल्याण करती रहें ।

(९) कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः । अन्तरिक्ष ँ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः ॥

दिशायें तुम्हारा हित-साधन करें; समुद्र, नदियाँ और सरोवर तुम्हारे लिए कल्याणकारी सिद्ध हों—आकाश तुम्हारा मंगल करे ।

(१०) अश्मन्वती रीयते स ँ रभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः । अत्रा जहीमो 'शिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभिवाजान ॥

मित्रों ! यह पहाड़ी नदी बह रही है—इसके पार उतरने के लिए उठ खड़े हो । इस प्रदेश के दुष्ट राक्षसों का हम परित्याग करते हैं। अब हमें मंगलमय अन्न-धन प्राप्त हो ।

(११) अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपोरपः ।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःस्वप्न्य ँ सुव ॥

ओ अपामार्ग ! तुम हमारे कायिक और मानसिक पाप को दूर करो—अभिचारों और दुःस्वप्नों के प्रभाव से हमें मुक्त रखो ।

(१२) सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥

जलराशि और वनस्पतियाँ हमारी मित्र बनी रहें; जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हमारा द्वेष है, उसके लिए वे शत्रु हो जायें ।

(१३) अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳ स्वस्तये । स न इन्द्र इव देवेभ्यो वह्निः संतारणो भव ॥

हम अपने कल्याण के लिए सुरभि के पुत्र बैल का स्पर्श कर रहे हैं। इन्द्र ने जैसे देवताओं को कष्टरहित किया था, ठीक उसी प्रकार से तुम हमारे दुःखों को दूर करो।

(१४) उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

हम अन्धकार के पार आ गये; अब हमें उत्तरोत्तर स्वर्गलोक दिख रहा है। देवलोक में सूर्यदेव को देखकर हमने ब्रह्मज्योति के दर्शन पा लिए हैं।

(१५) इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् । शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥

मैं समग्र प्राणियों के लिए एक मर्यादा बना रहा हूँ—कोई भी मनुष्य वेदोक्त १०० वर्ष की आयु बिना बिताये पितृलोक न जाये। सभी प्राणी विभिन्न उपयोगी और श्रेष्ठ कर्म करते हुए १०० वर्ष की सम्पूर्ण आयु जियें—हम मृत्यु को ढेले की तरह दूर फेंक दें।

(१६) अग्न आयूꣳषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥

अग्निदेव ! आप स्वतः हमारे लिए आयुष्कर कार्य किया करते हैं—इसलिए हमारी प्रार्थना है कि आप हमें व्रीहि प्रभृति धान्य प्रदान करें। कुत्ते की तरह के दुष्ट पुरुष यदि दूर पर भी हों, तो उन्हें आप नष्ट कर दें।

(१७) आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि । घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान्स्वाहा ॥

अग्निदेव ! तुम चिरञ्जीवी हो; घृत तुम्हारा मुख है और वही उत्पत्ति-स्थान भी। इस मधुर और सुगन्धित गोघृत को पीकर तुम हमारी वैसे ही रक्षा करो, जैसे पिता पुत्र की करता है।

(१८) परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत । देवेष्वक्रत श्रवः क इमां २ ॥ आदधर्षति ॥

इन लोगों ने (अपने कृषि-कार्यों में) बैल को प्रमुख स्थान दिया है, अग्नि को प्रसन्न किया है; इन्होंने (अपने कार्यों से) देवताओं की कीर्ति बढ़ाई है—इन्हें कौन पराजित कर सकता है ?—ये सर्वथा अपराजेय हैं।

(१९) क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥

शव-भक्षी अग्नि को मैं दूर भेज रहा हूँ; वह पापनाशन अग्नि यम के राज्य में चली जाये—अब यहां न आये। इसके अतिरिक्त अन्य जातवेदस् अग्नि यहीं अपने अधिकार के प्रति सजग रहकर देवताओं तक हवियां पहुँचाने का कार्य करे।

(२०) वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान्पराके मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्नमन्ताᳫँ स्वाहा ॥

जातवेदस् ! तुम जितने पितरों को जानते हो, उन सब तक, वे कहीं भी हों, स्निग्ध वस्तुएं पहुँचाओ। पितरों के लिए घी की नदियां बह चलें और हमारे मनोरथ सिद्ध हो जायें।

(२१) स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदघम् ॥

मां वसुन्धरे ! तुम हमें सुखदायिनी बनो। दुष्ट पुरुषों को तुम अपने ऊपर न रहने दो। तुम्हारा विस्तृत प्रतिष्ठान हमारे लिए कल्याणकारी हो। यह जल हमें निष्कलुष करे।

(२२) अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥

अग्निदेव ! तुम्हें इस यजमान ने प्रकट किया है। स्वर्गलोक प्राप्त करने के लिए तुमसे अब इसका पुनर्जन्म हो।

४. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसᳫँ सुशर्माणमदितिᳫँ सुप्रणीतिम्। दैवीं नावᳫँ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ य. सं. २१.६ ॥

(पा. गृ. सू. ३-१५)

गयाप्लात, त्रिष्टुप्, अदिति ।

—हम इस (शुभ और सार्वजनिक कर्मरूपी) यज्ञनौका पर चढ़ें–यह पृथिवी के सदृश भलींभांति पालन करनेवाली, स्वर्ग की तरह निष्पाप, क्रोधरहित और कल्याणदायिनी, संवाहिनी, अखण्डित और अदीन, शत्रुओं से सुरक्षा करनेवाली, अच्छिद्र तथा दुष्कर्मरहित है ।

५. सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम् । शतारित्राᳬ स्वस्तये ॥ य. सं. २१.७ ॥

(पा. गृ. सू. ३–१५)

प्रजापति, गायत्री, यज्ञ ।

—हम अपने कल्याण के लिए छिद्ररहित, निष्कलुष और सैकड़ों शत्रुओं से बचानेवाली यज्ञ या शुभकर्म रूपी श्रेष्ठ नौका पर आरोहण करें ।